पाठ्यक्रम परिवर्तन के आयाम

पाठ्यक्रम परिवर्तन के आयाम

जगमोहन सिंह राजपूत

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

जनवरी 2002
माघ 1923

PD 1T RKC

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैम्पस श्री अरविन्द मार्ग नई दिल्ली 110016	108, 100 फीट रोड़ होस्डेकेरे हेली एक्सटेंशन, बनाशंकरी III इस्टेज बैंगलूर 560085	नवजीवन ट्रस्ट भवन डाकघर नवजीवन अहमदाबाद 380014	सी.डब्ल्यू.सी. कैम्पस 32, बी.टी. रोड, सुखचर 24 परगना 743179

पेपर बैक : रु. 70.00
सजिल्द : रु. 100.00

प्रकाशन प्रभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा जैन कम्प्यूटर, शकरपुर, दिल्ली में टाइपसेट होकर टैन प्रिन्टस, 44 किलोमीटर माईलस्टोन झज्जर, हरियाणा द्वारा मुद्रित।

विषय सूची

प्राक्कथन

प्रत्येक कालखंड में बदलाव को समझने, उसका विश्लेषण करने और फिर उसे स्वीकार करने या न करने का प्रयास होता रहा है। इस संबंध में वांछित में से अवांछित को छान कर अलग करने की प्रक्रिया में अज्ञानता, गरीबी और अहंकार बाधक रहे हैं। यह तो माना जाता है कि परिवर्तन अपरिहार्य हैं, किंतु अतीत से तादात्म्य स्थापित न करने और हर नई चीज को शंका की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति के कारण इसका प्रतिरोध भी किया जाता रहा है।

आज हमारा वातावरण, हमारी पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवस्थाएं, हमारी शैक्षिक आवश्यकताएं, हमारा भूगोल, हमारी उपलब्धियां आदि या तो तेजी से बदल रही हैं या उनमें परिवृद्धि हो रही है। इन परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में नए युग में प्रवेश को प्राप्त शिक्षा के क्षेत्र में भी वृहद् परिवर्तन अब अपरिहार्य हैं और दृढ़ता के साथ ऐसी प्रणाली को साकार करने की आवश्यकता है जो '.....संस्कृति से जुड़ी हो और विकास के प्रति निष्ठावान हो।'

आज़ादी के बाद राष्ट्र के बच्चों की प्रारम्भिक या माध्यमिक स्तर की शिक्षा, शिक्षाप्रणाली एवं शिक्षा सामग्री के सम्बन्ध में जो शुरुआत हुई थी, उसके लिए यही उपयुक्त समय है जब एक नई और बहुआयामी पाठ्यचर्या का उदय हो। एक ऐसी पाठ्यचर्या का उदय जो बालक/बालिकाओं के पठन-पाठन और विकास को रुचिकर, सुगम तथा बहुमुखी बना सके। जो उन्हें अपने अतीत से जोड़ कर राष्ट्र की भावी आशाओं को पूरा कर सके।

परिवर्तन ही जीवन तत्व की पहचान का प्रतीक माना गया है तथापि शिक्षा प्रणाली की वर्तमान प्रणाली को उन्नतशील, विकासोन्मुख और जीवन्त बनाने के लिए उपरोक्त परिवर्तन अपेक्षित और वांछित थे।

'विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या का प्रारूप' पर देशभर में संवाद का कार्य 1999 में आरम्भ किया गया था। जिसके पूरा होने के पश्चात् इसे अंतिम रूप देकर नवम्बर 2000 में प्रस्तुत किया गया। तब से अब तक का समय काफी गहमा-गहमी का रहा। अनेकानेक संगोष्ठियां, कार्यशालाएं, चर्चाएं शैक्षिक एवं सामासिक संस्थाओं द्वारा देश भर में आयोजित की गईं। शिक्षाविदों, शिक्षकों एवं अनेक व्यक्तियों द्वारा सुझाव भेजे गए। इसी दौरान मुझे पत्र-पत्रिकाओं, टेलीविजन साक्षात्कारों आदि में विद्यालयी शिक्षा के विभिन्न पक्षों पर लेख लिखने व बोलने का अवसर प्राप्त

हुआ। आज की शिक्षा की आवश्यकताओं के सन्दर्भ में ये सभी लेख समय-समय पर समाचार-पत्रों व पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं और विद्यार्थियों, शिक्षकों, अभिभावकों, शिक्षाविदों, साहित्यकारों, अनुशीलनकर्ताओं तथा ग्रन्थकारों आदि द्वारा शिक्षा सुधार एवं राष्ट्रनिर्माण की दिशा में उपयोगी एवं विचारणीय माने गए हैं।

मेरा विश्वास है कि ये लेख शिक्षा में, विशेष रूप से स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में अपेक्षित परिवर्तनों के लिए जनमानस में संवाद स्थापित कर सकेंगे तथा उन्हें इसके लिए गम्भीरता से विचार व प्रयत्न करने के लिए प्रेरित कर सकेंगे।

लेखों के संकलन, संपादन तथा इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए मैं संपादक श्री राजकुमार गुप्त को धन्यवाद देता हूं। □□

जगमोहन सिंह राजपूत

1

शिक्षा का मूलभूत अधिकार

बीसवीं शताब्दी अपनी कई उपलब्धियों के लिए जानी जाएगी। इनमें से एक महत्वपूर्ण उपलब्धि शिक्षा के महत्व को स्वीकृति मिलना तथा शिक्षा को प्रत्येक व्यक्ति तक इसको पहुंचाने की आवश्यकता को विशेष माना जाएगा। इक्कीसवीं शताब्दी में अशिक्षित व्यक्ति का समाज में योगदान कर पाना या अपने जीवन की गुणवत्ता को संतोषजनक स्तर पर रख पाना काफी कठिन होगा। शिक्षा की महत्ता को हमारे स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं ने बहुत पहले पहचान लिया था। अज्ञानता से मुक्ति का माध्यम मात्र शिक्षा ही है। यह सोच गांधी जी के मन में सदा रही और इसी के परिणामस्वरूप बुनियादी तालीम, बेसिक शिक्षा प्रणाली की अवधारणा बनी और इसके व्यावहारिक प्रयोग किए गए। इसी दूरदृष्टि के परिणामस्वरूप संविधान के अनुच्छेद 45 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह राज्यों का उत्तरदायित्व होगा कि वे संविधान के लागू होने के दस वर्षों के भीतर 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करें। यह एक बहुत महत्वपूर्ण और दूरगामी परिणाम वाला निर्णय था।

हाल में किये गए कुछ सर्वेक्षणों से पता लगता है कि 6 से 14 वर्ष की आयु वर्ग के लगभग 70 प्रतिशत बच्चे स्कूलों में आ रहे हैं। जो 6 करोड़ बच्चे स्कूल नहीं आ रहे हैं उनमें साढ़े तीन करोड़ लड़कियां हैं और ढाई करोड़ लड़के हैं। स्कूल के बाहर के ये बच्चे मुख्य रूप से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति वर्गों से तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए क्षेत्रों जैसे बिहार, उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा, पंजाब, पश्चिम बंगाल आदि राज्यों में हैं। बाकी राज्यों में भी स्कूल के बाहर के ये बच्चे आर्थिक रूप से पिछड़े परिवारों से हैं। केरल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, पंजाब, हरियाणा, गुजरात, कर्नाटक, हिमाचल प्रदेश, मिजोरम और नागालैण्ड शैक्षिक रूप से अग्रणी प्रदेश हैं। शिक्षा के विकास के साथ-साथ इन राज्यों ने यह भी सिद्ध किया है कि शिक्षा का विस्तार गरीबी से लड़ने का एक बहुत बड़ा हथियार है। यह सामाजिक रूप से पीछे माने जाने वाले वर्गों को समानता के अधिकार में परिवर्तित कर सकता है। शिक्षा सदियों से चली आ रही रूढ़िवादिता का समापन कर सकती है और संविधान में जो सामाजिक मान्यता की अपेक्षा की गई है, उस लक्ष्य को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण

सहायता कर सकती है।

कई सर्वेक्षणों में एक अत्यन्त उत्साहवर्द्धक परिणाम निकला है कि इस समय हर अभिभावक चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित या फिर पिछड़ा वर्ग का हो या गरीब, अपने बच्चों को शिक्षा देने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करने को व्यग्र है।

यह सही है कि संविधान में निहित संकल्प का आज तक पूरी तरह पालन नहीं हो पाया है, फिर भी जो कुछ हुआ है वह भी अपने आप में महत्वपूर्ण है। इस समय देश में 64 प्रतिशत की साक्षरता को मानते हुए 64 करोड़ लोग शिक्षित माने जाएंगे। यह स्वतंत्रता के समय की भारत की कुल आवादी का दोगुना है। इसके साथ ही यह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि 36 करोड़ लोग इस देश में आज भी अनपढ़ हैं। परिणामस्वरूप प्रारम्भिक शिक्षा की चिन्ताएं घटी नहीं वल्कि बढ़ी हैं।

समय-समय पर विभिन्न समितियों और आयोगों ने इस स्थिति पर विचार किया और अपने सुझाव दिये। 1968 की शिक्षा नीति में कहा गया कि अनुच्छेद 45 में दिए गए नीति निर्धारक सिद्धान्तों के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अधिक परिश्रम एवं प्रयास किए जाने चाहिए। ऐसे कार्यक्रम बनाए जाने चाहिए जिससे शिक्षा के प्रसार में संसाधनों का जो कम उपयोग या दुरुपयोग हो रहा है वह बन्द किया जाए। हर वच्चे को स्कूल में लाया जाए और उस के निर्धारित पाठ्यक्रम पूरे होने दिये जाएं। उसके वहां वने रहने की व्यवस्था की जाए। 1986 की शिक्षा नीति में एकवार फिर यह संकल्प लिया गया कि 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए आवश्यक रूप से निःशुल्क 'अच्छी' शिक्षा का प्रावधान किया जाएगा और इस लक्ष्य को इक्कीसवीं शताव्दी के प्रारम्भ तक पूरा कर लिया जाएगा। इस के लिए एक राष्ट्रीय मिशन की स्थापना की वात भी कही गई।

पिछले कुछ वर्षों में शिक्षा को मूलभूत अधिकार बनाने के सम्वन्ध में देशव्यापी चर्चाएं हुई हैं। ये चर्चाएं उच्चतम न्यायालय के 'उन्नीकृष्णन निर्णय' के वाद और बलवती हुई हैं। यह 'निर्णय' 1993 में दिया गया था और इसमें यह कहा गया कि शिक्षा पाना हर नागरिक का मूलभूत ,अधिकार है। यह अधिकार संविधान के अनुच्छेद इक्कीस में समाहित है। इसमें यह भी कहा गया है कि इसकी संकल्पना तथा सीमायें अनुच्छेद 45 और 41 के आधार पर निर्धारित होंगी और 14 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करना हर बच्चे का मूलभूत अधिकार रहेगा। परन्तु इसके क्रियान्वयन की योजनाएं राज्यों की आर्थिक स्थिति और विकास की हालत पर निर्भर होंगी। यह पहला अवसर था जव देश के उच्चतम न्यायालय ने शिक्षा को मूलभूत अधिकार माना। इसके वाद यह चर्चा भी होती रही कि जब उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दे दिया है तब संविधान में परिवर्तन करने की आवश्यकता स्वयं ही समाप्त हो जाती है। इस वारे में संविधान संशोधन की आवश्यकता के पक्ष में भी सशक्त धारणा बनी है।

1997 में केन्द्र सरकार ने इस तथ्य पर विचार करने के लिए राज्यों के शिक्षा

मंत्रियों की एक समिति गठित की थी। इस समिति ने स्पष्ट रूप से यह संस्तुति की कि 14 वर्ष तक की आयु के हर वच्चे को निःशुल्क प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार को संविधान में संशोधन करके मूलभूत अधिकार वना दिया जाए। समिति ने यह भी कहा कि संविधान संशोधन स्पष्ट रूप से यह कहे कि हर उस नागरिक का, जो माता या पिता है, यह मूलभूत कर्त्तव्य होगा कि वह अपने बच्चों के लिए शिक्षा प्राप्ति के अवसर प्रदान करे। यदि यह परिवर्तन होगा तो निश्चित रूप से अनुच्छेद 45 में भी परिवर्तन करना पड़ेगा। राष्ट्रीय स्तर पर संविधान में संशोधन किए जाने को वृहत् रूप से लोगों की सहमति मिली है। जाने-माने शिक्षाविदों ने भी इसकी आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। जनवरी, 1999 में राज्यों की स्थिति का अवलोकन करने पर पाया गया कि 19 राज्यों/केन्द्र शासित प्रदेशों ने अपने यहां अनिवार्य शिक्षा के सम्वन्ध में कानून बना रखे हैं। ये राज्य हैं   आन्ध्र प्रदेश, असम, विहार, गोआ, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, अंडमान और निकोवार द्वीप समूह और दिल्ली।

जिन राज्यों/केन्द्र शासित प्रदेशों ने इस सम्वन्ध में कोई नियम नहीं बनाए थे वे हैं अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, मिज़ोरम, नागालैण्ड, उड़ीसा, सिक्किम और त्रिपुरा तथा केन्द्रशासित प्रदेश   चण्डीगढ़, दादरा और नागर हवेली, दमन और दीव, लक्षद्वीप और पाण्डिचेरी।

यहां पर विचार करने का विन्दु है कि इन नियमों का क्रियान्वयन किस प्रकार हो रहा है। निश्चित है कि कहीं न कहीं इनके क्रियान्वयन में कमी रही है अन्यथा आज स्थिति अलग होती।

इस सम्वन्ध में 1997 में राज्य सभा में संविधान संशोधन विधेयक भी पेश किया गया था। इसे सभी स्तरों पर सहमति तथा समर्थन मिला। यह सुझाव दिया गया कि 6 वर्ष तक के बच्चों के सम्वन्ध में अनुच्छेद 45 की व्याख्या व प्रावधान को किसी भी प्रकार कम न किया जाय और उसे वैसा ही रखा जाए। राज्यों के अपने नियम बनाने के अधिकार भी किसी प्रकार से सीमित न हों। केन्द्र सरकार राज्यों को इस प्रकार की रूपरेखा दे सकती है जिसको आधार मानकर यदि राज्य उचित समझें तो अपने प्रावधानों में संशोधन कर लें।

इन परिस्थितियों में इस प्रश्न का उत्तर ढूंढना चाहिए कि न्यायमूर्ति उन्नीकृष्णन के निर्णय के वाद क्या संविधान संशोधन की आवश्यकता है? यह आवश्यकता इसलिए भी अनुभव की जा रही है कि उच्चतम न्यायालय का फैसला एकल फैसला है। 'कभी भी कोई वड़ी संविधान बेंच इस फैसले को बदल सकती है।' फिर संसदीय समिति, विधि आयोग, शिक्षा मंत्रियों की समितियां आदि सभी ने इसकी आवश्यकता पर जोर दिया है। इस संविधान संशोधन के वाद वाल श्रमिकों से संबंधित आक्षेप और आरोप भी कम होंगे और देशवासियों को लगेगा कि सरकार इस समस्या को गहनता से निपटाने के लिए

कृत-संकल्प है। संविधान संशोधन राज्यों के सामने एक रूपरेखा रखेगा जिसमें यह स्पष्ट होगा कि राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों के क्या और कौन-कौन से उत्तरदायित्व हैं और वे किस प्रकार उन का निर्वाह कर सकते हैं। चूंकि शिक्षा 1976 से समवर्ती सूची में है, अतः राज्य इस संबंध में अपने उत्तरदायित्वों से बहुत हद तक परिचित हैं। कई बार यह प्रश्न पूछा जाता रहा है कि शिक्षा के मूलभूत अधिकारों को संविधान में शामिल करके क्या उन पालकों के खिलाफ कार्यवाही हो सकती है जो अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज रहे हैं। यहां पर यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि अनिवार्य शिक्षा के लिए स्कूलों या शिक्षा केन्द्रों की व्यवस्था करना राज्यों का उत्तरदायित्व होगा। राज्य स्कूलों की व्यवस्था पूरी कर ग्राम शिक्षा समिति जैसे किसी संस्थान को समुचित अधिकार इस संबंध में दे सकते हैं। हिमाचल प्रदेश ने जो अधिनियम बनाया है उसमें कहा गया है कि ऐसे किसी भी संस्थान की प्रबन्ध समिति की सहमति के बिना किसी भी पालक के खिलाफ कार्यवाही नहीं की जा सकती। पालकों का उत्तरदायित्व तभी प्रारम्भ होता है जब राज्य पहले अपने उत्तरदायित्व निभाएं। यह तमिलनाडु सरकार ने अनिवार्य शिक्षा अधिनियम 1994 में भी स्पष्ट किया है।

इस संविधान संशोधन के समय कुछ तथ्य सामने रखने होंगे। 6 वर्ष तक की आयु वर्ग के प्रति राष्ट्र के उत्तरदायित्व का निर्वाह अवश्य होना चाहिए। माता-पिता को अनावश्यक रूप से अधिकारियों द्वारा प्रताड़ना के लिये नहीं छोड़ दिया जाना चाहिए। शिक्षा व्यवस्था को गतिशीलता देनी होगी। उसे ऐसा बनाना होगा जिससे वह कार्य करने वाली व्यवस्था बने। सब बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा देना राष्ट्र का उत्तरदायित्व है अतः यह प्रत्येक नागरिक का भी उत्तरदायित्व है। □□

2

सिखाए कौन

अलबर्ट आइन्सटीन की ख्याति और प्रसिद्धि सारे विश्व में फैली। उनके पड़ोसियों ने भी उसमें स्वयं को शामिल माना। एक बार उनकी एक पड़ोसन ने आइन्सटीन से जाकर कहा 'आप तो इतने बड़े वैज्ञानिक हैं, सारा संसार आपको जानता है, मेरी एक छोटी सी समस्या है, मेरी बच्ची जो कक्षा दो में पढ़ रही है, गणित में बहुत कमजोर है, क्या आप उसे खाली समय में गणित पढ़ा देंगे?' आइन्सटीन थोड़ी देर सोचते रहे, पड़ोसी को मना भी नहीं कर सकते थे, अतः उन्होंने कहा 'अवश्य, आप बच्ची को कल से मेरे पास भेज दीजिए।' आइन्सटीन ने बाद में लिखा कि जिस दिन बच्ची पहली बार पढ़ने आने वाली थी, वह काफी घबराए हुए थे और कई बार उन्होंने इस बात का अभ्यास किया कि कक्षा दो की उस बालिका को वह कैसे पढ़ाएंगे। कुछ महीने बाद जब वह प्रक्रिया खत्म हुई और बच्ची की मां आइन्सटीन को धन्यवाद देने पहुंची तो आइन्सटीन ने कहा 'मैंने सिखाया कम, सीखा ज्यादा।'

बच्चे सीखने के अनन्य अवसर प्रदान करते हैं, परन्तु माता-पिता या परिवार के अन्य लोग इस तथ्य को स्वीकार ही नहीं करते। परिवार में सभी यह ठान कर चलते हैं कि बच्चे को केवल सिखाना है और उसी तरह सिखाना है जिस तरह हम सिखाना चाहते हैं। उन्हें क्या सिखाना चाहिए यह भी बड़े ही तय करते हैं। बच्चे क्या सीखना चाहते हैं, उनकी रुचियां क्या हैं और ये रुचियां क्यों उस तरह की हैं, यह समझने का प्रयत्न हम नहीं करते हैं। शोधकर्ताओं ने ऐसे कुछ प्रयत्न अवश्य किए हैं, यद्यपि इस प्रकार के शोध के निष्कर्ष अक्सर एक से नहीं होते और जो होते भी हैं वे प्रत्येक माता-पिता, परिवार या समुदाय तक पहुंच नहीं पाते। वास्तव में हर बच्चा अपने आप में एक गहन शोध और अध्ययन का अवसर प्रदान करता है।

बच्चों को शिक्षा देने का औपचारिक तंत्र सैद्धांतिक रूप से उनके सर्वांगीण विकास की बात तो करता है किन्तु व्यावहारिकता में ऐसा नहीं हो पाता है। औपचारिक

शिक्षा बच्चे को अनेक प्रकार की सीमाओं में बांध देती है। बच्चे की नैसर्गिक प्रकृति बांध तोड़ने की होती है। बच्चे स्वयं में अन्वेषक होते हैं, अपनी खोजें करते हैं, कुछ को जोड़ते हैं, कुछ को तोड़ते हैं। जिस लगन और एकनिष्ठा से वह यह सब करते हैं उसे देखकर अद्भुत आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। माता-पिता तथा परिवार अक्सर इस आनन्द से वंचित रह जाते हैं क्योंकि वे इन प्रयासों तथा प्रयत्नों की सराहना नहीं कर पाते हैं। बच्चे अधिक से अधिक जानना चाहते हैं, समझना चाहते हैं। अपने सामने आने वाली हर वस्तु या प्रक्रिया को वे पूरी तरह छूकर, सहलाकर, तोड़-मरोड़कर और खेलकर जानने का प्रयास करते हैं।

इसके विपरीत आज शहरों में बच्चे लगातार 24 घंटे किसी न किसी बंधन में बंध रहे हैं। छोटे मकान, खेलने की जगह का अभाव, स्कूल जाने का नियत समय, उसके बाद ट्यूशन इत्यादि, कुल मिलाकर बच्चों को कोई भी ऐसा समय उपलब्ध नहीं होता जिसमें वे अपनी इच्छा के अनुसार कुछ कर सकें। ग्रामीण क्षेत्रों में बचपन कब समाप्त हो जाता है, पता ही नहीं चल पाता! करोड़ों बच्चे आज भी स्कूल के बाहर हैं। छोटी उम्र में ही बच्चे खेतों-खलिहानों, चरागाहों तथा बाल-श्रम के अनेकानेक केन्द्रों पर कठिन परिस्थितियों में बड़ों का बोझ उठा रहे होते हैं। उनके लिए अनेक योजनाएं तथा परियोजनायें विभिन्न स्तरों पर प्रारम्भ की जाती हैं। इन योजनाओं की व्यवस्था तथा इनमें लगे लोगों की कर्मठता तथा लगन योजनाओं को सफल या असफल बना सकती है, यह एक सर्वविदित तथ्य है। सफलता आंशिक ही रही है यह भी सभी को ज्ञात है। लड़कियों की निःशुल्क शिक्षा, दोपहर का भोजन, बिना शुल्क पुस्तक वितरण, छात्रवृत्ति का प्रावधान तथा ऐसे अन्य करोड़ों बच्चों की मदद करने की क्षमता वाले दूरदृष्टि पूर्ण नवाचार लागू किए गए हैं। हम अभी ऐसी सुसंगठित व्यवस्था नहीं बना पाए हैं जो निष्ठापूर्वक एक-एक पैसे को ईमानदारी से उस हितग्राही तक पहुंचा दे जिसके सम्बन्ध में गांधी जी ने लिखा था

'तुम्हें एक जन्तर देता हूं। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे तो यह कसौटी आजमाओ,

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? अर्थात् क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?...

....तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।'

सरकारी व्यवस्था से जुड़ा हर व्यक्ति यदि इसे आचरण में ला सके तो कितना कुछ बदल जाएगा!

जो बच्चे सरकारी व्यवस्था के स्कूलों में हैं उन्हें अक्सर अध्यापकों के न होने या कम होने की समस्या से लगातार जूझना पड़ता है। समुदाय स्कूल से कट गया है। जिन समस्याओं का समाधान गांव या समाज के लोग आनन-फानन में कर सकते हैं, उसके लिए महीनों और सालों सरकारी अनुग्रह की अपेक्षा में बिता दिए जाते हैं। ऐसे में सीखने का वातावरण अत्यन्त बोझिल तथा असहनीय हो जाता है। यह सब भी बच्चों के स्कूल छोड़ने के महत्वपूर्ण कारण हैं।

कितना महत्वपूर्ण होता है स्कूल का परिवेश तथा वातावरण जहां बच्चे स्वच्छंद होकर प्रकृति के साथ मिलकर खेलें, सीखें, पढ़ें और पढ़ाएं। एक संवेदनशील हृदय ही इसे जान सकता है।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर एक बार बच्चों के एक स्कूल में अतिथि बनकर गए। उनका भावभीन स्वागत हुआ। बच्चे पंक्तिबद्ध खड़े थे। गुरुदेव के साथ चल रहे संस्था के प्राचार्य ने देखा कि गुरुदेव आम के एक पेड़ की ओर लगातार देख रहे हैं, यह पेड़ पके हुए आमों से लदा हुआ था। गुरुदेव उदास हो गए। उन्हें लगा कि निश्चित रूप से बच्चे यहां भय के वातावरण में जी रहे हैं अन्यथा जहां इतने बच्चे पढ़ रहे हों और आम का हर फल बचा रहे, ऐसा हो ही नहीं सकता! उन्होंने कहा ऐसा स्कूलों में नहीं जेल में ही हो सकता है। कहा जाता है कि गुरुदेव वहां से लौट गए। बच्चों के प्रति जिस संवेदना की झलक यहां पर मिलती है वह धीरे-धीरे खत्म हो रही है। चौराहों, सड़कों और रेलवे स्टेशनों, छोटे-छोटे होटलों में लाखों बच्चे शिक्षा से दूर और बचपन से अलग जीवन जीते हैं। हमारी बड़ी-बड़ी योजनाएं उन तक नहीं पहुंच पातीं। हम सब उन्हें देखकर अनदेखा करते हैं। 1982 में मुझे सोवियत संघ के कई शहरों में स्कूलों में जाने और बच्चों से मिलने का अवसर मिला। बच्चों के खिलौनों के बड़े-बड़े स्टोर मैंने वहां देखे। वहां खिलौनों के दाम बहुत ही कम थे। ऐसे ही एक स्टोर में एक वाक्य लिखा था 'इस देश के सबसे महत्वपूर्ण नागरिक बच्चे हैं'। वह लिखावट मुझे आज भी दिखाई देती है। मैंने इसे वहां व्यावहारिक रूप में देखा था। यहां अपने देश में मैं ऐसे वाक्य योजनाओं, परियोजनाओं और कार्यक्रमों में सुनता हूं या कहीं लिखा हुआ पढ़ता हूं, देख नहीं पाता हूं।

व्यावहारिक जीवन में हम अपने बच्चों को क्या दे रहे हैं? क्या अच्छी शिक्षा, अच्छा वातावरण, अच्छी समझ और सोचने तथा सृजनात्मकता के विकास की स्थितियां हम उन्हें दे रहे हैं? हमने पिछले दशक में हरे-भरे पहाड़ उजाड़ दिए, जंगल खत्म कर दिए, नदियां गंदे नालों में तब्दील कर दीं। शहरों में ही नहीं गांवों में भी खेलने की जगह लगातार सिमटती, सिकुड़ती और लुप्त होती जा रही है। जिस बचपन

को हरियाली, खुली हवा, खेल के मैदान में निश्चिन्त विचरना चाहिए था उस से हम आज बंद कमरों में पनपने की अभिलाषा रखते हैं। बच्चों की बाह्य उपलब्धियां अक्सर माता-पिता की अभिलाषा और आकांक्षाओं से निर्धारित कर दी जाती हैं। घोर प्रतियोगिता के युग में कच्ची उम्र से ही बच्चों को अधिक से अधिक पाठ्यक्रम पूरा करने को बाध्य किया जाता है। उन्हें सपने देखने या साथियों के साथ मिल बैठकर बातें करने का अवसर माता-पिता प्रदान नहीं करते। हां, यदि ऐसा करते देख लें तो उन्हें लगता है कि बच्चे का समय नष्ट हो रहा है। उन्हें हर समय कुछ न कुछ डांट-फटकार ही मिलती है। किसी भी बच्चे से उसके स्तर पर बात करके देखिए, वह बताएगा कि मां तो हमेशा मना ही करती रहती हैं। यह मत करो, वह मत करो, यहां न जाओ, वहां न जाओ, टी.वी. न देखो, इसके साथ मत खेलो, ज्यादा मत खेलो! परीक्षा परिणाम आने पर कितने ही बच्चों को सुनना पड़ता है 'मुझे पता था, तुम कुछ नहीं कर सकते हो, किसी लायक नहीं हो।' बच्चों के ऊपर इस प्रकार के वाक्यों का क्या असर होता है, इसे समझने का प्रयत्न हम कभी नहीं करते हैं। अपनी आकांक्षाओं को बच्चों पर लादकर उनकी सृजनात्मकता तथा रुचियों को कुंठित करने के प्रयास लगातार परिवारों में होते हैं या अक्सर अनजाने में होते हैं। 3 और 4 साल के बच्चों से लिखने-पढ़ने और गणित के प्रश्न हल करने की अपेक्षा करना उनके साथ अन्याय है, यह कितने ही माता-पिता अथवा अभिभावक नहीं जानते हैं।

आगे आने वाले वर्षों में हर नागरिक को कुछ समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। ऊर्जा, पर्यावरण, रहने की जगह, पीने का पानी, यात्रा के साधन ऐसे कितने ही क्षेत्र हैं जहां कठिनाइयां आएंगी। टी.वी. तथा तकनीकी उपलब्धता अपने साथ कई ऐसे अभिशाप भी लाई है जिन्हें समझना जरूरी है। आंखों की बीमारियां 10-11 वर्ष के बच्चों में प्रारम्भ हो रही हैं और 22-23 वर्ष के युवा स्पौण्डेलाइटिस से पीड़ित हो रहे हैं। संस्कार और संस्कृति बचपन से प्रभावित हो रहे हैं। परिवार जो संस्कार देता था वह कम होते जा रहे हैं, क्योंकि बड़ों के पास छोटों के लिए आज समय नहीं है। औसत उम्र बढ़ रही है मगर बच्चों का दादा-दादी और नाना-नानी से मिलना नहीं हो पा रहा है और ऐसे अवसर लगातार घट रहे हैं। मातृभाषा की पुस्तकों और किस्से कहानियों से हटकर वर्तमान में बच्चे बाह्य संस्कृति के प्रभाव क्षेत्र में आ रहे हैं। इन सारी स्थितियों में बच्चों के सम्पूर्ण विकास की ओर ध्यान देना आज पहले से कहीं ज्यादा जरूरी हो गया है।

गांधी जी ने 1929 में नवजीवन में लिखा था कि शिक्षा केवल अक्षर ज्ञान नहीं है। अक्षर ज्ञान तो शिक्षा में आगे बढ़ने का सोपान है। शिक्षा का तात्पर्य है कि बच्चा यह जाने कि वह अपनी समझ तथा मस्तिष्क का सही उपयोग किस प्रकार कर सकता है। जब बच्चा सीख लेता है कि हाथों का उपयोग चोरी करने

या किसी को कष्ट पहुंचाने में नहीं करता है, तब वह [illegible] कर लेता है। धीरे-धीरे वह अच्छे और बुरे की समझ विकसित कर लेता है। यह सब सही ढंग से तभी सम्भव है जब बच्चे को असामाजिक व्यवहार [illegible] दूर रखा जाए। यह तभी होगा जब हम बच्चों का आदर करना सीखेंगे। [illegible] हम इसके विपरीत ही चल रहे हैं।

जिस दिन पहले बच्चे का जन्म होता है उसी दिन नई मां और नए पिता का भी जन्म होता है। माता-पिता यह बात भूल जाते हैं। अगर वे मानें कि वे नवजात माता-पिता हैं तो शायद वे अपने बच्चों के [illegible] और अच्छे ढंग से समझ सकते हैं और उनके मनोवैज्ञानिक विकास में जो सहायता उन्हें करनी चाहिए, कर सकते हैं। समाज यदि बच्चों को और [illegible] (वी.आई.पी.ट्रीटमेंट) दे तभी वे सही ढंग से फल-फूल सकते हैं। [illegible] स्कूलों में, बस स्टैंड की लाइन में, रेलवे स्टेशन पर टिकट खिड़की और [illegible] बड़ी आसानी से किया जा सकता है। यदि ऐसा हो कि [illegible] कोई बच्चा बस पर चढ़ना चाहे और [illegible] का अवसर दें तो उस का आत्मसम्मान बढ़ेगा और [illegible] सोच ले रहा है और उसके साथ है।

[illegible]

3

शिक्षक की भूमिका

हमारी शिक्षा व्यवस्था आज मूलभूत मूल्यों की उपेक्षा के फलस्वरूप अपने उद्देश्य से अलग हो गई है और यह दूरी लगातार बढ़ती जा रही है।

जो ज्ञान और मूल्य बच्चे परिवारों में सीख लेते थे, आज माता-पिता चाहते हैं कि वह भी स्कूलों में ही सिखाया जाए। परिवारों का अपना रसायन बदल रहा है। भौतिक उपलब्धियां प्राप्त कर लेने की दौड़ तेज हो रही है। पारस्परिक विश्वास घट रहा है। परिणाम लगातार सामने आ रहे हैं। एक तरफ लोगों की अपेक्षाएं बढ़ रही हैं और दूसरी तरफ शिक्षा व्यवस्था पर उनका विश्वास घट रहा है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि अच्छी शिक्षा के लिए अच्छे अध्यापक चाहिए क्योंकि वे ही उसकी धुरी हैं। 100 करोड़ लोगों के देश के लिए जव प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी तो निश्चय ही इसके लिए आवश्यक अध्यापकों की खोज एक बहुत बड़ी चुनौती होगी ऐसे अध्यापक जो अपने उत्तरदायित्व की महत्ता और गरिमा को समझते हों और उसे आत्मसात करते हों। उन्हें प्रशिक्षण देने के लिए और उनके मूल्यों को सुदृढ़ करने के लिए शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं का उत्तरदायित्व कई गुणा बढ़ जाएगा। इन संस्थाओं में भी उनके उद्देश्यों की पूर्ति और उनके आदेशों के निर्वहन की क्षमता का विकास करना होगा।

अध्यापकों के प्रशिक्षण में कौन-कौन से ऐसे दृष्टिकोण, क्षमताएं, कला, कौशल, मूल्य और गुण होने चाहिए जो उसे आदर्श अध्यापक बना सकें। माना जाता है कि क्षमताएं, प्रतिबद्धता और कार्य निष्पादन की भावना, ये तीनों गुण किसी भी व्यक्ति को अच्छा अध्यापक बनाने के लिए काफी हैं। इसे समझने के लिये मुख्य रूप से चार प्रश्न पूछे जा सकते हैं

1. कौन पढ़ाए?
2. किसे पढ़ाए?
3. क्या पढ़ाए?
4. कैसे पढ़ाए?

सबसे पहले अध्यापक के संबंध में चर्चा करें। भारतीय अध्यापक आज भी

अत्यंत कठिन परिस्थितियों में अपना कार्य करते हैं। उन्हें साधनों, सुविधाओं और सामग्री की कमी झेलनी पड़ती है। अक्सर आधिकारिक रूप से उनसे ऐसे कार्य करवाए जाते हैं जो शिक्षा से जुड़े नहीं हैं। इसके परिणामस्वरूप स्कूल अनियमित रूप से कार्य करते हैं और बच्चों की स्कूल जाने में रुचि कम हो जाती है। उनका समय व्यर्थ जाता है। स्कूल की अनियतकालीन स्थिति को समुदाय के लोग भी देखते हैं और अक्सर यह बच्चों के स्कूल छोड़ने का कारण बन जाती है। इस देश में अध्यापकों का जो स्थान तथा सम्मान रहा है उसका कुछ अंश आज भी दिखाई देता है। अधिकांश अध्यापक जो ग्रामीण क्षेत्र और छोटे शहरों में कार्य करते हैं, वे कर्मठता से आज भी अपने कार्य से जुड़े हुए हैं। वे कमियों और असुविधाओं की परवाह न करते हुए अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हैं। शिक्षा व्यवस्था के सामने सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न इनकी क्षमताओं के विकास का है। शिक्षक प्रशिक्षण की संस्थाएं सही रूप में अपना कार्य कर रही हैं, ऐसा नहीं है। इनकी स्थिति पर जो भी चर्चा होती है उसमें यही परिणाम निकलते हैं कि प्रशिक्षण संस्थाओं की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता है जितना ऐसी संस्थाओं की ओर दिया जाना चाहिए।

हर अध्यापक को उस संदर्भ को समझना होगा तथा उससे परिचित होना होगा जहां पर वह अध्यापन कर रहा है। वहां के समुदाय, रीति-रिवाजों, आर्थिक स्थिति, सांस्कृतिक परिवेश से खुद को जोड़े बिना कोई भी अध्यापक अपना कार्य सुचारू रूप से नहीं कर सकता। अपने सारे कार्यकलापों के संबंध में सैद्धान्तिक अवधारणाएं स्पष्ट रूप से आत्मसात करना अध्यापक के लिए आवश्यक है। जो पाठ्यक्रम और पाठ्यचर्या उसे विद्यार्थियों तक पहुंचानी है उसे अच्छी तरह से जानने और समझने के साथ पढ़ाने और सीखने की विधियों से भी पूर्णरूपेण परिचित होना आवश्यक है। पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त बच्चों के लिए शिक्षा सामग्री बनाने, शैक्षिक गतिविधियों की रूपरेखा बनाने आदि की क्षमता भी अध्यापक में होनी चाहिए। मूल्यांकन, स्कूल की व्यवस्था, बच्चों के माता-पिता के साथ संबंध बनाने और समुदाय के साथ कार्य करने की क्षमता का समुचित विकास होने पर ही किसी अध्यापक को क्षमतावान अध्यापक कहा जा सकता है। शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएं अध्यापकों में इन क्षमताओं को बढ़ा सकती हैं और उन्हें निखार सकती हैं।

अध्यापकों का केवल क्षमतावान होना ही काफी नहीं है। उनमें अपने कार्य के प्रति प्रतिबद्धता, सम्मान और लगन भी होनी चाहिए। यह प्रतिबद्धता बच्चों के प्रति, समाज के प्रति, शिक्षक वर्ग के प्रति और मानव मूल्यों के प्रति उनकी सारी परिकल्पनाओं में परिलक्षित होना जरूरी है। हर अध्यापक के अन्दर यह विचार सदा उपस्थित रहना आवश्यक है कि उसे अपने कार्य की गुणवत्ता लगातार बढ़ाते रहना है। एक क्षमतावान और प्रतिबद्ध अध्यापक अपने कर्त्तव्य का निर्वाह तभी कर पाता है जब वह अपने कार्य और दायित्व की परिधि को अच्छी तरह समझ कर कक्षा

में पढ़ाता है। कक्षा के बाहर लेकिन स्कूल के ही प्रांगण में उसे बच्चों में अनेक गुणों का विकास करना होगा। स्कूल के बाहर बालकों के साथ और समुदाय के साथ मिलकर अनेकानेक गतिविधियों, चर्चाओं, संवादों तथा गोष्ठियों के द्वारा शिक्षक को अपने विद्यार्थियों के अंतस में केवल पाठ पढ़ा देना, उन्हें प्रश्नों के उत्तर कंठस्थ करा देना मात्र ही अध्यापन नहीं है, बल्कि मानवीय गुणों और मूल्यों का अपने विद्यार्थियों में विकास करना भी शिक्षक की भूमिका का एक अविभाज्य अंग है।

अध्यापकों की क्षमता, प्रतिबद्धता और कार्य निष्पादन के संबंध में यहां पर जो कुछ कहा गया है वह असंभव या अप्राप्य नहीं है। यदि अध्यापक पर विश्वास किया जाए, उसे समुदाय के साथ मिलकर स्कूल की प्रगति तथा बच्चों के संबंध में चिंतन करने और उसे क्रियान्वित करने का अवसर दिया जाए, तो निश्चित रूप से वह अपने उत्तरदायित्व को पहचानेगा। ऐसा कोई भी व्यक्ति जो अंदर से अपने उत्तरदायित्व को पहचानता है, अपनी प्रतिबद्धता में निश्चित रूप से सतत् विकास करते रहने का भागी रहता है। अध्यापक ही 'कैसे पढ़ाएं' प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ सकता है। सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत पढ़ाने की विधि से अध्यापकों को प्रशिक्षणकाल में परिचित कराया जाता है परन्तु किसी भी विद्यार्थी के लिए या स्थान विशेष पर शिक्षण विधियों का क्या स्वरूप होगा, यह स्थानीय स्तर पर सम्बद्ध अध्यापक ही तय कर सकता है। स्थान विशेष से जुड़े हुए साधन, स्रोत और विशेषताओं को संजोकर स्कूल के वातावरण को सुधारने का कार्य भी अध्यापक ही कर सकता है।

देश के अधिकांश स्कूलों में प्रारंभिक शिक्षा के लिए जो बच्चे आ रहे हैं उनमें से अधिकांश उन परिवारों से आते हैं जहां परिस्थितियां अनुकूल नहीं हैं। इसी को ध्यान में रखकर कई कार्यक्रम, जैसे दोपहर का भोजन, निःशुल्क पुस्तकों की व्यवस्था, पहनने के लिए यूनिफार्म इत्यादि की योजनाएं बनाई गई हैं। क्रियान्वयन के स्तर पर अनेक निराशाजनक अनुभवों के बावजूद शिक्षकों ने मोटे तौर पर बहुत योगदान किया है। ऐसी स्थिति में स्कूल आने वाले बच्चों को समझना बहुत आवश्यक है। जिसे पढ़ाना है वह कौन है यह जाने बिना सीखना-सिखाना नहीं हो सकता है अतः हर अध्यापक के लिए इन परिस्थितियों में यह जानना जरूरी होगा कि जिस बच्चे को वह पढ़ा रहा है वह किस प्रकार के वातावरण से आता है और उसकी अपनी विशेष आवश्यकताएं क्या हैं? हमारे देश में अधिकांश विद्यालयों में आज भी वही व्यवस्थाएं हैं जो हमें विदेशी शासकों के द्वारा मिली थीं। निश्चित रूप से इन व्यवस्थाओं को विकसित करते समय जो बालक केन्द्र में थे वे भारतवर्ष के बच्चे नहीं थे। आज आवश्यकता है कि हम यह जानें कि भारतीय बालक कौन है, कैसा है और उसकी सीखने और पढ़ने की अपने संदर्भ में क्या आवश्यकताएं हैं।

पिछले पांच दशकों में शिक्षा के पाठ्यक्रमों में परिवर्तन करने के कई प्रयत्न किए गए। पाठ्यक्रम परिवर्तन लगातार होने चाहिए क्योंकि कोई भी पाठ्यक्रम बाहर

होने वाले परिवर्तनों से अपने को अछूता नहीं रख सकता है। यह प्रक्रिया इस समय देश में प्रारम्भ की गई है और इस पर चर्चा भी देशभर में हो रही हैं। एन.सी.ई.आर.टी. ने चर्चा के लिए जो बिन्दु उठाए हैं उनमें बस्ते का बोझ; पाठ्यक्रम का स्थानीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय संदर्भों से सही अनुपात में जुड़ना; इसमें सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संदर्भो का समावेश; मानव अधिकारों और कर्त्तव्यों का आकलन; मानवाधिकार और मानव मूल्यों से परिचय और साक्षात्कार तथा राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की समझ बढ़ाने के बिन्दु शामिल हैं। भारतीय संस्कृति, इतिहास और भारत की राष्ट्रीय एकता के सूत्र भी महत्वपूर्ण बिन्दु माने गए हैं। मानव जीवन में मूल्यों को देखते हुए इस समय अधिकांश लोग यह मानते हैं कि विद्यार्थियों को सभी धर्मों के मूलभूत संदर्भों से परिचित कराना आवश्यक है। यह पंथ निरपेक्षता के दृष्टिकोण के विपरीत नहीं है। सभी धर्मों की जानकारी तथा उनसे परिचय आगे चलकर सभी धर्मों के प्रति आदर के विकास में सहायक होगा। बच्चों को भारतीय चिंतन तथा ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों द्वारा किए गए योगदानों से परिचित कराना भी आवश्यक है। इससे उनका आत्मविश्वास बढ़ता है और अपने देश के गौरव से जुड़ाव होता है। आज विश्व में हर जगह यह माना जाता है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो देश की जड़ों से जुड़ी हो और साथ ही साथ विकास तथा परिवर्तन के प्रति प्रतिबद्ध हो।

सबके लिए प्रारंभिक शिक्षा, प्रौढ़ साक्षरता, व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था, नई तकनीकी का प्रयोग, भारत वर्ष में जन्मी विचारधाराओं तथा अनुभवों और प्रयोगों के आधार पर स्कूल शिक्षा की सारी व्यवस्था का पुनर्निर्माण आवश्यक है। स्कूल शिक्षा के क्षेत्र में, विशेषकर शिक्षा के सार्वजनीकरण को लेकर, हम बहुत पीछे रह गए हैं। विकास जिस तेजी से हो रहा है, उसके लिए आवश्यक है कि अब हमारा देश शिक्षा के क्षेत्र में सभी को साथ ले कर ऐसे प्रयास करे जो व्यावहारिक हों और जिनके परिणाम हमें सही समय पर दृष्टिगोचर हो सकें। शिक्षा के लिए एक अलग दृष्टि की आवश्यकता है जो भारतीय गरिमा, गौरव, विविधता और एकता का एक साथ सम्मान कर सके और ऐसे नागरिक तैयार करने का प्रयत्न करे जो स्वतंत्रता सेनानियों के समान अज्ञान तथा अनाचार से संघर्ष करने की क्षमता विकसित कर सके, इस यज्ञ में जी-जान से जुटने के लिए तैयार रहें। □□

4

अध्यापकों पर निर्भरता

हर समय परिवर्तन का समय होता है। समय के कुछ अन्तराल इतिहास में परिवर्तनों के कारण तथा उपलब्धियों और परिणामों के लिए जाने जाते हैं। बीसवीं शताब्दी में विश्वस्तर पर स्वीकृत 'सबके लिए प्रारम्भिक शिक्षा' का लक्ष्य सम्भवतः इक्कीसवीं सदी के दूसरे या तीसरे दशक में पूरा हो सकेगा। इतिहास में यह एक अभूतपूर्व उपलब्धि होगी। पिछली सदी की समझ, लक्ष्य निर्धारण तथा प्रयास इस सदी के प्रारंभ में यदि सफल हो सके तो उसमें सबसे बड़ा योगदान जिस वर्ग का होगा, वह होगा अध्यापकों का वर्ग। उन अध्यापकों का जिनकी आलोचना करना लगभग हर स्तर पर समय बिताने का एक सर्व-सुलभ पर्याय बन गया है। अध्यापकों का कक्षाओं में समय पर उपलब्ध न होना, स्कूलों में कई दिनों, महीनों न जाना और ऐसे प्रबन्ध कर देना कि उन्हें कुछ न कहा जा सके, स्कूलों में न पढ़ाकर निजी तौर पर पढ़ाने में रुचि लेना और शिक्षा का व्यवसाय करना, बच्चों तथा समाज और समुदाय के प्रति अपने कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व का निर्वाह न करना इत्यादि उनकी आलोचना के बिन्दु हैं। समय तथा स्थान के साथ यह आलोचना घटती-बढ़ती रहती है।

कुछ वर्ष पहले वरिष्ठ नौकरशाहों की एक राष्ट्रीय स्तर की समिति की बैठक में अध्यक्ष ने सबसे पहले कहा कि वह एक समस्या से बड़े चिन्तित हैं और चाहते हैं कि उसका समाधान शीघ्र निकाला जाए। उनके अनुसार अध्यापकों में ऐसी संख्या बढ़ रही है जो 'किसी काम के नहीं हैं'। उन्हें कैसे बाहर किया जाए। उनके शब्द थे, 'डेड-वुड को कैसे निकाला जाए'। कुछ देर तक कोई कुछ नहीं बोला। वहां पर केवल मैं ही एकमात्र ऐसा था जो अध्यापक और अध्यापक-प्रशिक्षक दोनों रहा था। उस समय कुछ देर के लिए मैं भी नौकरशाहों की श्रेणी में शामिल था। एक वरिष्ठ नौकरशाह ने अध्यक्ष महोदय से कहा कि बैठक में एक व्यक्ति उपस्थित है जो अधिकांश वर्ष अध्यापक रहा है अतः वही इसका उत्तर दे तो उपयुक्त होगा।

'हाउ कैन डेड वुड बी रिमूव्ड फ्रॉम ऐमंग्स्ट टीचर्स'?

(अध्यापकों में से अनुपयुक्त को कैसे बाहर किया जाए?)

अध्यक्ष महोदय ने मुझसे कहा।

'डेड वुड कान्ट रिमूव डेड वुड' मेरा उत्तर था।

(अनुपयुक्त, अनुपयुक्त को बाहर नहीं कर सकता)।

इतना कहकर मैं चुप हो गया।

सभी को उत्तर अटपटा सा लगा। निश्चित रूप से उत्तर पसन्द नहीं किया गया। मुझे कहा गया कि मैं अपनी बात विस्तार से कहूं जो मैंने अगले तीन घंटे की चर्चा में कही। मेरी समझ बढ़ी और मुझे अहसास हुआ कि अध्यापकों के प्रति समाज, समुदाय, पालकों, नौकरशाहों का सही दृष्टिकोण विकसित होना देश के लिए कितना महत्वपूर्ण पक्ष है। अगर 'डेड वुड' है तो हर क्षेत्र में है। अगर प्रतिबद्धताओं में कमी आई है तो हर तरफ आई है। ऐसा कह पाना कठिन ही नहीं तर्कसंगत भी नहीं होगा कि केवल अध्यापकों का योगदान ही कम हुआ है और उसे प्रशासनिक उपायों या आदेशों द्वारा सुधारा जा सकता है। फिर ऐसे उपाय तथा समाधान क्या हैं?

तेजी से हो रहे परिवर्तन के प्रभाव मानव जीवन के सभी कार्य क्षेत्रों पर पड़े हैं और उन्होंने मानवीय, सामाजिक, सामुदायिक तथा आर्थिक मूल्यों को जड़ों से हिला दिया है। पहले विज्ञान तथा तकनीकी ने और अब संचार तकनीकी ने भौतिक सुख-साधन, सुविधा तथा विलासपूर्ण जीवनयापन के सभी साधन उन सबके लिए उपलब्ध करा दिए हैं जिन के पास इन्हें प्राप्त करने के साधन हैं अर्थात् उन्हें जिनकी क्रय शक्ति और क्षमता इस स्तर की है। निश्चित रूप से समाज का हर वर्ग प्रमुखता से यही प्रयास करता है कि व्यक्तिगत स्तर पर उसकी यह क्षमता बढ़े। प्रायः हर व्यक्ति अधिकाधिक धनार्जन को लक्ष्य बनाता है। क्या डाक्टर, नेता, अधिकारी इससे अलग हैं? यदि नहीं तो फिर अध्यापकों पर ही सारा दोष कैसे मढ़ा जा सकता है?

यहां पर जो कहा गया है उसका आशय यह नहीं है कि जो हो रहा है वह सही है। आवश्यकता है उसे समझने की, उसकी विवेचना करने की और उस प्रवाह में जो कुछ बदला जाना चाहिए उसे लोगों के सामने उजागर करने की। अध्यापकों से अपेक्षा अन्य सबके मुकाबले ज्यादा की जाती है। परम्परागत रूप में उन्हें समाज का मार्गदर्शक माना जाता रहा है। 1986 और 1992 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में भी कहा गया है कि कोई भी समुदाय या राष्ट्र अपने अध्यापकों के स्तर के ऊपर नहीं जा सकता है। आज भले ही अध्यापकों को वह परम्परागत सम्मान और स्थान प्राप्त न हो, अपेक्षायें आज भी उन्हीं से हैं। जीवन मूल्यों के ह्रास को यदि धीमा करना है तो अध्यापकों को अपने कर्त्तव्यबोध को स्वयं समझना होगा और समाज को उन्हें अपनी ओर से भी अवगत कराना होगा। जो स्वयं ही लगातार आलोचना का पात्र हो, जिसकी क्षमताओं व प्रतिबद्धताओं पर हर तरफ से उंगलियां उठ रही हों और शिक्षा व्यवस्था की सारी कमियों का लांछन जिसके ऊपर लगाया जा रहा

हो, क्या वह सामाजिक परिवर्तन की दिशा बदल सकेगा? क्या इस परिवर्तन की अपेक्षा पुलिस, आयकर विभाग या आबकारी विभाग से की जा सकती है? अध्यापकों का कोई विकल्प हो ही नहीं सकता है।

बहुत कम लोगों को अनुमान होगा कि देश में अध्यापकों का वर्ग कितना बड़ा है। इस समय कक्षा एक से आठ तक पढ़ाने वाले अध्यापक 32 लाख तथा कक्षा 9 से 12 तक पढ़ाने वाले अध्यापक 17 लाख हैं। इनके अतिरिक्त कई लाख अध्यापक अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र चला रहे हैं, कई राज्यों में इनकी नियुक्ति शिक्षा-कर्मी, शिक्षासहायक, गुरूजी इत्यादि नामों से की गई है। तथापि स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि स्कूल स्तर पर पढ़ाने वालों की संख्या देश में 50 लाख है। यह पचास लाख ही देश की भावी बौद्धिक सम्पदा के स्तर का निर्धारण करते हैं। आने वाले समाज में समरसता, सद्भाव, मूल्य निष्ठा, कर्त्तव्य निष्ठा, राष्ट्र भक्ति तथा मानवीय गुणों के विकास की कुंजी इन्हीं के हाथों में है। यह एक व्यावहारिक तथ्यों से जुड़ा वक्तव्य है और इसे नकारना राष्ट्रहित में नहीं हो सकता है।

पचास लाख के किसी भी वर्ग को प्रशिक्षण की सुविधाएं सही स्तर पर सुचारू रूप से दे पाना किसी भी व्यवस्था के लिए चुनौती हो सकती है। शिक्षा के प्रसार के साथ अधिक अध्यापकों की आवश्यकता बढ़ी और प्रशिक्षण व्यवस्था चरमरा गई। प्रशिक्षण के नये संस्थान भी खुले। आज देश में प्रारम्भिक स्तर पर शिक्षक प्रशिक्षण के 1334 संस्थान तथा माध्यमिक स्तर पर 804 संस्थान हैं। इसके अतिरिक्त कई विश्वविद्यालयों ने सत्तर के दशक से पत्राचार पाठ्यक्रमों से शिक्षक प्रशिक्षण देने के कार्यक्रम चलाए और बड़ी संख्या में गुणवत्ता की ओर ध्यान न देकर प्रशिक्षण की उपाधियां बांटीं। स्थिति इतनी गम्भीर बनी कि अधिनियम द्वारा राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् का गठन किया गया और उसे यह भी निर्देश दिया गया कि 'वह ऐसे सभी उपाय करे जिससे अध्यापक शिक्षा का व्यापारीकरण बन्द किया जा सके'। परिषद् ने प्रारम्भ के वर्षों में जो कदम उठाए उसमें पत्राचार पाठ्यक्रमों पर नियंत्रण में मिली सफलता एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। यह अलग तथ्य है कि इन उपायों को निष्प्रभावी बनाने के प्रयास भी जोरों से चल रहे हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि ऐसा होने क्यों दिया गया। क्या हमें अच्छे अध्यापकों की उसी प्रकार आवश्यकता नहीं है जैसे अच्छे डाक्टरों, इन्जीनियरों तथा आई.टी. स्नातकों की है? और यदि है तो फिर गुणवत्ताहीन प्रशिक्षण को किसी भी स्तर पर कैसे स्वीकार किया जा सकता है? मुख्य कारण यह है कि आज भी माता-पिता बच्चों को जब स्कूल ले जाते हैं तो या तो उनके पास वही एकमात्र स्कूल होता है और विकल्प न होने के कारण 'जैसा है, ठीक है' मानकर उसे वहीं प्रवेश दिला देते हैं। जिनके पास विकल्प होता है वे स्कूल के नाम, प्रतिष्ठा तथा ऊंची फीस को आधार मानकर प्रवेश कराने का प्रयत्न करते हैं। सारी प्रक्रिया में यह कतई

महत्वपूर्ण नहीं होता है कि अध्यापक कैसे हैं, कितने प्रशिक्षित हैं, उनकी क्षमताएं कैसी हैं, उनमें प्रतिबद्धता कितनी है और क्या वह अपना कार्य निष्ठा के साथ प्रतिपादित करते हैं। यदि माता-पिता, पालक संगठन तथा शिक्षकों के संगठन इन प्रश्नों तथा आवश्यकताओं को उभारें तो निश्चित रूप से उनका प्रभाव अध्यापकों के कार्य निष्पादन पर अवश्य पड़ेगा और वह सही दिशा में होगा।

शैक्षिक उपलब्धियों का मूल्यांकन अपने आप में शिक्षा प्रणाली का महत्वपूर्ण अंग होता है। इसका मुख्य उद्देश्य कमियों को पहचान कर उन्हें दूर करना भी होता है। मूल्यांकन की प्रक्रिया अध्यापक तथा विद्यार्थियों दोनों के लिए प्रेरणाप्रद होनी चाहिए। वह भविष्य के लिए संदेश देने वाली हो, क्योंकि वही विद्यार्थी की अभिरुचियों को भी स्पष्ट कर सकती है। किन्तु वास्तविकता इसके बिल्कुल विपरीत है। 'व्यवस्था' मूल्यांकन के लिए अध्यापकों पर विश्वास नहीं करती। सब कुछ बाह्य परीक्षा के परिणामों पर निर्भर है। उसमें भी उद्देश्य सफलता प्राप्त करना न होकर अधिकाधिक अंक-प्रतिशत प्राप्त करना भर होता है। यह एक ऐसी दौड़ है जिसमें माता-पिता और स्कूल बढ़-चढ़ कर भाग लेते हैं। बच्चे अत्यंत प्रताड़ना, चिंता तथा भय से गुजरते हैं। अध्यापक भी परिस्थितिवश, बड़ी संख्या में इसका अंग बन जाते हैं। 'ट्यूशन' की प्रथा जिस तेजी से बढ़ी है वह सर्वविदित है। इसका सारा लांछन भी अध्यापकों पर डाला जाता है जबकि इसके लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी अन्य लोग या वर्ग ही माने जाने चाहिए। समान स्कूल व्यवस्था की संस्तुति कोठारी आयोग ने की थी। यदि पड़ोस के स्कूल में सभी लोगों के बच्चे जाते तो हर स्तर के माता-पिता स्कूल में रुचि लेते। इसमें वे भी शामिल होते तो अपने प्रभाव से स्कूल व्यवस्था के सही संचालन में योगदान करते। आज इस संस्तुति को लगभग भुला दिया गया है।

दिल्ली जैसे शहरों में पब्लिक स्कूलों तथा सरकारी स्कूलों का अन्तर सी.बी.एस.ई. के परीक्षा के परिणाम निकलने पर हर वर्ष स्पष्ट रूप से सामने आता है और वे चर्चा का विषय भी बनते हैं। लेकिन यह सब दो-चार दिन बाद भुला दिया जाता है। होना यह चाहिए कि अपनी योग्यता, अनुभव तथा कार्य करने के वातावरण को ध्यान में रखते हुए सरकारी स्कूलों के परीक्षा परिणाम बहुत आगे होने चाहिए। यहां भी मुख्य रूप से उस कार्य संस्कृति का प्रभाव है जो हर 'सरकारी' क्षेत्र में व्याप्त है और जिसकी जड़ें अब शिक्षातंत्र में भी गहरी पैठ बना चुकी हैं। कार्य संस्कृति आंतरिक अनुशासन से आती है, अन्यों को देखकर इसे सुदृढ़ किया जाता है। यह प्रक्रिया स्वयं भी और अधिक अनुशासन को जन्म देती है। क्या अध्यापकों से एक मूल्यपरक कार्य-संस्कृति की अपेक्षा करना सही होगा जबकि अन्य सरकारी कर्मचारी ऐसा न कर रहे हों? कुछ वर्ष पहले एक केन्द्रीय मंत्रिमण्डल सचिव ने यह प्रयास किया था कि सरकारी कर्मचारियों का 'लंच आवर' केवल आधे घंटे का हो। उसका परिणाम कभी भी दोपहर बारह बजे

के बाद और ढाई बजे अपराह्न तक इन्डिया गेट के उद्यानों में देखा जा सकता है। स्पष्ट है कि व्यवस्था में सुधार के प्रयत्न केवल नौकरशाही के आदेशों से संभव नहीं हैं। किसी वर्ग विशेष को आलोचना का केन्द्र बनाना भी उचति नहीं होगा। अतः ऐसे उपाय ढूंढ़ने होंगे जो लोगों को परिवर्तन की आवश्यकता को पहले आत्मसात कराये और उसके बाद व्यावहारिक रूप में क्रियान्वयन करने के लिए उन्हें प्रेरित करें। इसका प्रारम्भ भी अध्यापकों के वर्ग से ही करना तर्कसंगत, व्यावहारिक तथा व्यापक प्रभाव वाला हो सकता है। इनके केन्द्रबिंदु देश के लगभग ढाई हजार शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थान हो सकते हैं।

अध्यापकों के सेवापूर्व तथा सेवाकालीन प्रशिक्षण में केवल कुछ अकादमिक क्षमताओं पर ही ध्यान न दिया जाए वरन् उनमें प्रतिबद्धतायें, अपने उत्तरदायित्वों की समझ तथा देश के भविष्य के निर्माण में उनके योगदान की विशालता भी प्रमुख रूप से शामिल की जाए तो इन संस्थाओं के कार्य करने का स्वरूप ही बदल जाएगा। देश के तीस हजार से अधिक शिक्षक प्रशिक्षक एक ऐसे आंदोलन के प्रणेता बन सकते हैं जो मूल्यों, कार्य-संस्कृति तथा अनुशासन के क्षेत्र में आशातीत परिणाम सामने ला सकते हैं। देश में अध्यापकों के राष्ट्रीय, क्षेत्रीय तथा राज्य स्तरों पर कई सुगठित संगठन हैं जो आगे आ सकते हैं और अध्यापकों को सम्मान दिलाने के अपने उद्देश्य को अध्यापकों के प्रयत्नों से ही प्राप्त कर सकते हैं। यदि यह प्रयास एक बार स्कूल स्तर पर तथा शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों के स्तर पर प्रारम्भ हुए तो इन्हें निश्चित रूप से व्यापक जन सहयोग मिलेगा। फिर विश्वविद्यालयों के अध्यापक भी स्वयं को इससे अलग नहीं रख पाएंगे।

जिस विशाल नैतिक परिवर्तन की आवश्यकता आज देश को है उसके कर्णधार आज की परिस्थितियों में देश के अध्यापक ही हो सकते हैं। आज भी क्षमतावान, समर्पित तथा कठिन से कठिन परिस्थितियों में लगन से कार्य करने वाले लाखों अध्यापक मौजूद हैं। यदि समाज और राष्ट्र इन्हें यह उत्तरदायित्व सौंप सके तो सफलता निश्चित रूप से मिलेगी। दुष्यंत कुमार की दो पंक्तियां कितनी संवेदना से यहां उपयुक्त प्रतीत होती हैं

कोई हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं है।
मेरी कोशिश है कि यह सूरत बदलनी चाहिए।

और हम सब भी तो यही चाहते हैं। □□

5

भारत के अध्यापक

किसी भी समाज में परिवर्तन को समझने और सामाजिक सामंजस्य तथा समरसता को बढ़ाने में अध्यापकों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। सदियों से अध्यापक भावी समाज के निर्माण में अपना योगदान देते आए हैं। मानव के विकास का इतिहास, उसकी प्रगति के विभिन्न सोपान, अध्यापकों के द्वारा ही विकसित और निर्मित होते रहे हैं। हमारे देश में अध्यापकों का स्थान बहुत ऊंचा रहा है। या यों कहें कि सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था में अध्यापकों का स्थान सर्वोपरि रहा है। हमारे प्राचीन ग्रन्थ और उनमें निहित चिन्तन तथा ज्ञान के भण्डार अध्यापकों के योगदान, उनके त्याग, ज्ञानार्जन के लिए की गई उनकी तपस्या और मानव हित के लिए किए गए उनके प्रयत्नों के ही परिणाम हैं। अपने विद्यार्थियों को उन्नति की ओर अग्रसर करना, उनकी प्रगति से संवेदनात्मक स्तर पर जुड़ना और अधिक ज्ञान प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्न करते रहना भारतीय शिक्षा परंपरा का एक अत्यंत सुदृढ़ पक्ष रहा है। भारत में गुरुकुलों और आश्रमों की परंपरा अत्यंत उच्च स्तर तक पहुंची और ये ही सर्वोत्कृष्ट ज्ञानार्जन के केन्द्र बने। विज्ञान, गणित, रसायन शास्त्र, आयुर्वेद, जहाजरानी, योग इत्यादि क्षेत्रों में हमारी महान् उपलब्धियों के जनक इस देश के कर्मठ अध्यापक ही रहे हैं।

बीसवीं शताब्दी में उपनिवेशवाद का अंत हुआ और मानव चिंतन में अभिवर्धन के जो नए आयाम निकले उनमें सबसे महत्वपूर्ण प्रारंभिक शिक्षा का हर व्यक्ति तक पहुंचना विश्व स्तर पर स्वीकृत हुआ। आज के समय में यह चुनौती भारत के सामने भी खड़ी है। हमारे साधन सीमित हैं और उन सीमित साधनों में रहते हुए भी हमें शिक्षा को सर्वसुलभ बनाना है, उसकी गुणवत्ता को बढ़ाना है और उसकी उपयोगिता के द्वारा हर स्तर पर उसकी स्वीकार्यता को भी आगे ले जाना है। इस कार्य को करने का बीड़ा भी इस देश के अध्यापकों के समक्ष रखा गया है। अपने कर्त्तव्य का वह उसी कर्मठता से आज भी पालन कर रहे हैं जिसकी विरासत उन्हें सालों से मिली हुई है।

विश्व के धनाढ्य देशों के लोग जो भारत की स्थितियों से परिचित हैं, आश्चर्य चकित होकर यह प्रश्न पूछ रहे हैं कि भारतीय विद्यार्थी आज विश्वस्तर पर सुविधा सम्पन्न देशों और स्कूलों के विद्यार्थियों के साथ कैसे बराबरी का कार्य करने की क्षमता रखते हैं, और किस प्रकार वे सभी आगे निकल जाते हैं।

संचार तकनीकी और डाक्टरी अध्ययन के क्षेत्र ऐसे हैं जहां भारतीय विद्यार्थियों का लोहा सारा विश्व मानता है। अध्यापकों के सामने जो नई चुनौतियां आती रहती हैं उनके परिमाण आज अत्यंत अधिक बढ़ गए हैं। आज कहा जाता है कि सारा विश्व कक्षा के अन्दर सिमट गया है। संचार तकनीकी ने इसे संभव बनाया है। आज सूचना अत्यंत अधिक मात्रा और संख्या में उपलब्ध है और आवश्यकता यह है कि जो नए परिवर्तन द्रुत गति के साथ हो रहे हैं उन्हें समझा जाए। सूचनाओं के क्षेत्रों में जो बढ़ोतरी हो रही है, उस में से उपयोगी को निकालने का कौशल सीखा जाए और शिक्षा को एक ज्ञानवान समाज के निर्माण की ओर ले जाने के लिए हर तरह से तैयार किया जाए। अपनी प्राचीन परंपरा को जारी रखने के लिए हमारे अध्यापकों को स्वाध्याय और स्व-निर्देशित अध्ययन को जीवन का अंग बनाना होगा। यहां पर मैं यह भी कहना चाहूंगा कि भारतीय परंपरा में आचार्य और अध्यापक वही होता है जो सतत् अध्ययन करता रहता है और अपने आचरण से नई पीढ़ी के सामने ही नहीं बल्कि समाज के सामने भी स्वीकार्य आचरण प्रस्तुत करता है।

अध्यापकों के कार्य निष्पादन में जो परिवर्तन महत्वपूर्ण हैं उसमें मानव जीवन के सांस्कृतिक, आर्थिक, वैचारिक और तकनीकी सभी पक्ष शामिल हैं। आज शिक्षा प्रणाली तथा अध्ययन-अध्यापन में भी नई तकनीक का प्रयोग करने की आवश्यकता लगातार बढ़ रही है। हमारे अध्यापकों को इसका प्रशिक्षण लेना है और व्यवस्थापकों को इसकी व्यवस्था करनी है। विद्यार्थियों में सृजनात्मकता के विकास के नए आयाम खुल रहे हैं। विद्यार्थियों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वे प्रश्नों और परिप्रश्नों के द्वारा अपनी जिज्ञासाओं का समाधान अध्यापकों के साथ मिलकर करें और बिना किसी हिचक के अपने चिंतन को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने की क्षमताओं का विकास करें। प्रत्येक अध्यापक को अपने विद्यार्थियों को ऐसे अवसर देने चाहिए और परस्पर मिलकर सिखाने और सीखने की प्रक्रिया को बढ़ावा देना चाहिए।

आज स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रम में त्वरित परिवर्तन की आवश्यकता पहले से अत्यंत अधिक मानी जाती है। सभी आवश्यक परिवर्तनों से जुड़े विभिन्न पहलू पाठ्यक्रम में आवश्यकतानुसार लाए जाने चाहिए। अध्यापकों को पाठ्यक्रम निर्माता के रूप में अपना उत्तरदायित्व निभाना होगा। बच्चों के शिक्षा संबंधी कार्यकलाप

सम्पूर्ण रूप में पर्यावरण से जुड़े हों। बालक या बालिका के आस-पास जो हो रहा है उसी की चर्चा उस में हो, ऐसी संस्तुति एन.सी.ई.आर.टी. ने अपने नए पाठ्यक्रम की रूपरेखा में की है और यह एक अत्यंत उत्साहजनक संस्तुति है। इसे अध्यापकों का पूर्ण समर्थन मिल रहा है। यदि यह सफलतापूर्वक क्रियान्वित की जा सकी तो निश्चित ही स्कूल छोड़ने वाले बच्चों का प्रतिशत आगे आने वाले वर्षों में काफी कम हो जाएगा। इस प्रकार के कई सुझाव परीक्षा प्रणाली के संबंध में भी दिए गए हैं। अध्यापकों को नई जिम्मेदारियों को निभाने के लिए सतत् रूप से सेवाकालीन प्रशिक्षण देने की कई नई योजनाएं भारत सरकार, राज्य सरकारों तथा एन.सी.ई. आर.टी. ने देश के सामने प्रस्तुत की है।

समाज में मूल्यों का निर्धारण और उन्हें जीवन में उतारने की प्रेरणा अध्यापकों से ही मिलती है। इस समय मानव मूल्यों का जो ह्रास हो रहा है और विश्व के हर देश में इन मूल्यों को लेकर जो समस्यायें उठ रही हैं उन्होंने इस बात की आवश्यकता को दोहराया है कि मूल्यों के विकास के लिए शिक्षा को महत्वपूर्ण योगदान करना है। सारे पाठ्यक्रम में प्रत्येक अध्यापक को इस बात का ध्यान रखना होगा कि वह विद्यार्थियों द्वारा मूल्यों को आत्मसात करने और उन्हें व्यवहार में लाने का प्रयत्न प्रत्यक्ष रूप से लगातार करता रहे। हमारा देश अनेक विभिन्नताओं का देश है। हमारी एकता का महत्वपूर्ण सूत्र है विविधता में एकता। भारत जैसा उदाहरण और कहीं उपलब्ध नहीं है। इस देश को जो प्राकृतिक संपदाएं, सांस्कृतिक धरोहरें तथा भाषाओं की विभिन्नताएं और धार्मिक फिज़ा मिली है, वह सब अपने आप में अद्वितीय हैं। यही सब मिलकर भारत को एक अग्रणी राष्ट्र के रूप में स्थापित करने में सहायता करते हैं। हमारे अध्यापक इन तथ्यों को बच्चों के समक्ष रखें और उन्हें हमारी इन बहुमूल्य मान्यताओं व आदर्शों को समझने व चरितार्थ करने की प्रेरणा दें।

भारतवर्ष का अध्यापक अनेक कठिनाइयों और कमियों में भी अपने कार्य का निर्वाह प्रतिबद्धता से कर रहा है। उसके कार्य करने की स्थिति में सुधार लाने का हर संभव प्रयत्न किया जाना चाहिए। यह राष्ट्र का और सरकार का उत्तरदायित्व है कि उन्हें प्रशिक्षण के अवसर, पढ़ने-लिखने की सामग्री और नई तकनीक से परिचित कराने का हर संभव प्रयास होना चाहिए। बहुत सी नई योजनाएं इस दिशा में बन रही हैं। अध्यापकों की सेवाकालीन स्थिति को सुधारने के प्रयत्न भी पिछले कुछ वर्षों में हुए हैं। सबसे महत्वपूर्ण सुधार यह होगा कि अध्यापकों और समाज के बीच में परस्पर विश्वास और सम्मान बढ़े ताकि एक दूसरे की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं को सही ढंग से समझा जा सके। यही इस देश में एक सुदृढ़ समाज की स्थापना के लिए और भारत व भारतीय संस्कृति और भारतीयता में विश्वास

के लिए आवश्यक कड़ी होगी। इसमें सबसे बड़ा योगदान अध्यापकों का ही होगा।

हमारा देश प्रति वर्ष 5 सितंबर को अध्यापकों का सम्मान करता है। यह एक प्रतीकात्मक प्रक्रिया होते हुए भी अध्यापकों के प्रति राष्ट्र के सम्मान को दर्शाती है। हमें इसको पूरी तरह व्यावहारिक स्तर पर ले जाना चाहिए और डा. राधाकृष्णन जैसे सुनामधन्य अध्यापकों के विचारों के अनुसार शिक्षा को बाहरी जगत के लिए ही नहीं बल्कि मानव के अंतरमन को भी सशक्त करने के लिए गतिमान बनाना चाहिए। अध्यापकों के अतिरिक्त और कोई इस कार्य को नहीं कर सकता। देश उन्हीं की ओर आशा की दृष्टि से देख रहा है। □□

6

नए शैक्षिक उत्तरदायित्व

बीसवीं शताब्दी में विज्ञान के जो आविष्कार और उनके तकनीकी प्रभाव विश्व के सामने साकार हुए, उन्होंने लोगों के जीवन स्तर पर अनेक प्रभाव डाले। इन्हीं आविष्कारों और खोजों का एक प्रभाव न्यूक्लियर शस्त्रों के रूप में द्वितीय विश्व युद्ध के समय देखा गया। हिरोशिमा और नागासाकी पूरे के पूरे बर्बाद हो गए। उस विभीषिका की दहशत से विश्व आज भी उबर नहीं पाया है। पिछले पांच दशक इस चर्चा में बीते हैं कि इस प्रकार के शस्त्रों का निर्माण रोका जाए, सीमित किया जाय या चलते रहने दिया जाय ! यह भी सही है कि विश्व में न्यूक्लियर शस्त्र बनाने की होड़ बढ़ी है। इसके कई कारण हो सकते हैं जिनको कुछ देश सही रूप में विश्व के सामने रखते हैं और कुछ कई बार नहीं भी रखते हैं।

परिवर्तन जिस तेजी से बीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में हुआ वह तेजी पहले कभी नहीं देखी गई। हर क्षेत्र में परिवर्तन का प्रभाव पड़ा। सबसे महत्वपूर्ण है टेक्नोलॉजी के उपयोग के मानव जीवन के वे पक्ष जहां कितनी ही समस्याओं का समाधान किया गया है। इसने ही जीवन को सुखी और दिन प्रतिदिन के कठोर और श्रमसाध्य कार्यों से मुक्त करने में योगदान दिया है। निश्चित रूप से जो साधन-सम्पन्न हैं उन्होंने इसका निरन्तर अधिक उपयोग किया है और जिनके पास साधन नहीं हैं उनके लिए इस सारी प्रगति का केवल एक सीमित महत्व रहा है। टेक्नोलॉजी का उपयोग व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के हित में हो या अहित में यह निर्णय लेने वालों की समझ, क्षमता और दूरदृष्टि पर निर्भर करता है।

कई वर्षों से हम सभी इस जानकारी से सदा प्रसन्न होते रहे हैं कि मानव जीवन की औसत आयु लगातार बढ़ रही है। इस समय भारत में यह आयु 67 वर्ष है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय केवल 32 वर्ष थी। यह बढ़त अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जानी चाहिए। स्वास्थ्य और जीवन रक्षा के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई है। किन्तु विश्व में ऐसे भी देश अब उभरे हैं जहां मानव जीवन की औसत आयु कम हो गई है। अफ्रीका के सब-सहारा क्षेत्र में कई देश ऐसे हैं जहां यह औसत आयु लगभग दस वर्ष घट गई है। यह घोर चिन्ता का विषय है। लगता

है इस वर्ग में शामिल होने वाले देशों की संख्या बढ़ेगी। फिलहाल इसे रोकने का कोई उपाय भी विश्व के सामने दिखाई नहीं देता है। बीसवीं सदी में ही पर्यावरण पर छाए संकट का मुद्दा बहुत तेजी से उभरा है। विश्वस्तर पर कई सम्मेलन हुए जहां इस चिन्ता को व्यक्त किया गया और ऐसे उपायों पर विचार हुआ जो पर्यावरण के विनाश को रोक सकें। आज प्रकृति पर मनुष्य का नियंत्रण विज्ञान और टेक्नोलॉजी के कारण बढ़ा है। इस नियन्त्रण का सही उपयोग करने में लोगों ने जहां-जहां अपनी सोच और समझ का परिचय नहीं दिया वहां पर विनाश के दरवाजे खुले हैं। हमारे स्वयं के द्वारा पर्यावरण और प्राणियों के प्रति किया गया अन्याय हर तरफ दिखाई दे रहा है। जानवरों, पेड़-पौधों की कितनी ही प्रजातियां लुप्त और नष्ट हो गई हैं। त्वरित लाभ के उद्देश्य से किए गए अनेक कार्य भूमि, वन, उत्पादन, पानी के स्रोतों इत्यादि पर विनाशकारी प्रभाव छोड़ रहे हैं। सदियों से पर्यावरण से संबंधित समस्याएं लोगों के ज़ेहन में नहीं थीं और ऐसा लगता था कि प्रकृति के पास सब कुछ असीमित मात्रा में उपलब्ध है। गांधी जी ने अपनी दूरदृष्टि से आने वाली समस्या को पहचाना था। उनके यह अमर वाक्य हैं, "प्रकृति में सभी के लिए उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सब कुछ उपलब्ध है, परन्तु किसी एक के भी लालच की पूर्ति के लिए यह उपलब्ध नहीं है।" आज के संदर्भ में यह वाक्य कितना अधिक प्रासंगिक, शक्तिशाली और पूर्ण समझ का उदाहरण बन गया है।

पिछली शताब्दी की कुछ बहुत बड़ी उपलब्धियां गिनाई जा सकती हैं। इस सदी में रंगभेद समाप्त हुआ, उपनिवेश का अन्त हुआ और जनतन्त्र तेजी से पनपा। शिक्षा के लिए विश्वव्यापी चाहत और लगन पैदा हुई तथा विश्वस्तर पर इसे सब की स्वीकृति मिली। महिलाओं को बराबरी का दर्जा देने के लिए और लिंग भेद को समाप्त करने के लिए अनेक प्रयास किए गए। सभी व्यक्तियों को समानता का अवसर और बराबरी के अधिकार मिलें, यह सभी राष्ट्रों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। यह सब कितना अच्छा लगता यदि इसे सही भावना से लागू किया गया होता। आज भी महिलाओं के साथ भेद-भाव और असमानता का व्यवहार होता है। पुरुष वर्ग ही जीवन के अधिकांश अधिकार क्षेत्रों में निर्णायक है। लिंगभेद समाप्त नहीं हो पाया है और विश्व में अभी भी ऐसी मान्यताएं, संस्कृतियां और मूल्य विद्यमान हैं जो महिलाओं को उनका सही स्थान नहीं दे रहे हैं। जनतन्त्र जहां-जहां पनपा और उभरा, वहां भ्रष्टाचार और धन सम्पत्ति को हथियाने की प्रवृत्ति भी तेजी से पनपी है। कई देशों में जनतन्त्र को नकार दिया गया और वहां जोर-जबरदस्ती से सत्ता हथियाने वाले उभर आए। कुछ देशों ने अपने वैभव की छत्रछाया में दूसरे देशों पर अनाधिकार दबाव डालने के सफल प्रयत्न किए। आज भी ऐसे प्रयत्न लगातार हो रहे हैं। ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो आज के इन परिवर्तनों को उपनिवेशवाद के ही एक अन्य रूप में देख रहे हैं।

शिक्षा का प्रचार-प्रसार और स्वीकृति पिछले पचास वर्षों में मानवता के हित में किए गए प्रयत्नों में बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें भी अभी बहुत कुछ करना बाकी है। आज भी विश्व में बारह करोड़ के करीब बच्चे स्कूल नहीं जा रहे हैं और जनसंख्या का सात में से एक हिस्सा निरक्षर है। इन्हीं वर्षों में धनी लोगों और धनवान देशों के पास धन के अम्बार बढ़े हैं। औसत आयु और औसत राष्ट्रीय उत्पाद गरीब देशों में यदि बढ़ी भी दिखाई दे तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सभी की गरीबी घटी है। कहीं-कहीं अमीर अधिक अमीर हुए हैं और गरीब और गरीब हुए हैं।

आज भी बीमारियां और भुखमरी अधिकांशतः गरीबों के हिस्से में आ रही हैं। शहरों में मानवीय स्तर से नीचे रहने वालों की नई-नई झुग्गी-झोपड़ी बस्तियां विकासशील देशों में बढ़ रही हैं। इस के अपने कारण हैं और उनसे पड़ने वाले दबाव भी अपनी जगह पर उपस्थित हैं। आज सारा विश्व एड्स जैसी लाइलाज बीमारी के बारे में ध्यान से सुन रहा है और इससे चिंतित है। इस संबंध में उन लोगों तक पहुंचना अभी भी कठिन है जिन पर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ने की आशंका है। विज्ञान और टेक्नोलॉजी का जो नया स्वरूप आज उभरा है उसने पृथ्वी पर रहने वाले हर व्यक्ति को एक दूसरे के समीप ला दिया है। सदियों पुरानी एक कल्पना साकार हो गई है कोई भी, कहीं पर भी, किसी भी समय किसी भी अन्य से सम्पर्क स्थापित कर सकता है। आज से पचास वर्ष पहले लोग यह मानने को तैयार नहीं थे कि ऐसा सभी के लिए इतने बड़े स्तर पर सम्भव हो जाएगा। यहां पर यह भी विचारणीय है कि हम पड़ोस में तो आ गये परन्तु क्या हम पड़ोसी भी बन पाए हैं? उत्तर स्पष्ट है। पार्थिव दूरियां घटी हैं परन्तु मानवीय दूरियां बढ़ रही हैं। आज बड़े शहरों में पड़ोस में रहने वालों के संबंध में लोग कितना जानते हैं या जानना चाहते हैं, इससे हम सब परिचित हैं।

इस समय जो परिदृश्य भारत जैसे देश के सामने है उसमें यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि हमारी उपलब्धियां भी नगण्य नहीं कही जा सकती हैं। सबसे बड़ी उपलब्धि जो इस समय हर तरफ देखी जा रही है वह है भारत का बढ़ता हुआ आत्मविश्वास। हमारे साधनहीन स्कूलों में पढ़कर आए बच्चे आज विश्व में किसी भी समृद्ध देश के सुविधासम्पन्न स्कूलों से पढ़कर आए बच्चों के साथ मुकाबला करते हैं और आगे निकल जाते हैं। यह संख्या कितनी ही कम क्यों न हो, सारे देश के लिए आशा की एक किरण है। इक्कीसवीं सदी भारत की सदी होगी यदि हम अपने बच्चों की प्रतिभा का सही अनुमापन कर सके और उसको विकीर्ण और विकसित होने का अवसर दे सके। हमारी सबसे बड़ी धरोहर हैं हमारे लोग और आगे आने वाली पीढ़ियों के बच्चे। इनकी प्रतिभा किसी से कम नहीं है क्योंकि प्रकृति का यह नियम है कि विश्व में मनुष्य की प्रतिभा समान रूप से बिखरी हुई है। यह विश्वास स्वयं आशा का एक बहुत बड़ा संचार केंद्र है। सभी बच्चों की देखभाल करना, उन्हें

सीखने का अवसर प्रदान करना, उन्हें अच्छी और व्यावहारिक शिक्षा सुलभ कराना राष्ट्र का ही कर्तव्य है।

हमारी अनेक विभिन्नताएं हैं जो हमारे महान राष्ट्र को जोड़ती हैं। जैसे धार्मिक, सांस्कृतिक, भाषाई और आर्थिक विषमतायें जिनका प्रभाव हमारे बच्चों पर भी पड़ता है। वे बच्चे जो साधन सम्पन्न घरों से नहीं होते हैं, शिक्षा में अपनी प्रतिभा के कारण नहीं बल्कि सामाजिक और पारिवारिक कारणों से पीछे रह जाते हैं। ऐसा होना देश हित में नहीं है और इस स्थिति को सुधारने के लिए शिक्षा नीतियों में हमेशा स्पष्ट शब्दों में संस्तुतियां दर्ज की गई हैं। कई बार ऐसा माना जाता है कि शिक्षा नीति के क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व केवल निर्णय लेने वालों, स्कूलों और अध्यापकों पर ही निर्भर है। यह एक सीमित दृष्टिकोण है। शिक्षा में पूर्ण सफलता तभी मिलेगी जब सारा देश हर बच्चे की शिक्षा को अपनी जिम्मेदारी माने और इस दिशा में जो भी प्रयास किए जा रहे हैं उसमें अपना योगदान करे। हमें ऐसे नागरिक तैयार करने हैं जो भविष्य में भारत को विश्व का अग्रणी राष्ट्र बना सकें, जिन्हें अपनी क्षमता पर विश्वास हो, जो भारत के गौरव से परिचित हों और जिनमें राष्ट्र के लिए तथा दूसरों के लिए जीवन समर्पित करने की भावना कूट-कूट कर भरी हो।

राष्ट्रीय महत्व की जिन समस्याओं के समाधान में शिक्षा महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है, उनकी ओर दृष्टि डालने पर सबसे महत्वपूर्ण है गरीबी को कम करना, उन लोगों की ओर ध्यान देना जो आज भी निम्नतम स्तर पर जीवनयापन कर रहे हैं। इस स्थिति को सुधारने की सम्भावनाएं प्रबल हैं क्योंकि शिक्षा का जो प्रचार और प्रसार हुआ है उसने अधिकांश लोगों को स्वयं को समझने में मदद की है और उनकी व्यक्तिगत क्षमताओं के प्रति उनका आत्मविश्वास बढ़ाया है। आज बिना पढ़े-लिखे माता-पिता भी शिक्षा के महत्व को समझते हैं, और अपने बच्चों की शिक्षा के लिए वे जो कुछ भी कर सकते हैं करने को तैयार हैं। शिक्षा लोगों को स्वास्थ्य, संस्कृति, साधन, कौशल इत्यादि से जुड़ी उपयोगी जानकारी दे सकती है और स्थानीय संदर्भ को ध्यान में रखकर बनाए गए पाठ्यक्रम के माध्यम से लोक जीवन की गुणवत्ता बढ़ाई जा सकती है। शिक्षा ही टेक्नोलॉजी के सही उपयोग की ओर प्रेरित कर सकती है और उसके दुरुपयोगों को रोक सकती है। पिछले तीस वर्षों में जो अनुभव किया गया है इस देश में महिलाओं और पुरुषों को बराबरी से देखने के जो प्रयत्न किए गए हैं उसमें पूर्ण सफलता के लिए आगे भी बहुत कुछ करना अभी शेष है। महिलाएं आगे आई हैं और उन्होंने अपने महत्व और सम्भावित योगदान को पहचाना है।

विश्व में मानवाधिकारों की चर्चा हर जगह हो रही है। यह सही है कि यह सही दिशा में एक उपयुक्त कदम है और हमारे संविधान में इसे महत्वपूर्ण रूप से

सम्मिलित किया गया है। यहां पर यह भी याद करना उचित होगा कि अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों की समझ और उनके प्रति निष्ठा भी राष्ट्र की प्रगति और समाज की उन्नति के लिए आवश्यक है। इसी को ध्यान में रखे हुए 1976 में संविधान में संशोधन कर के अनुच्छेद 51-ए को संविधान में शामिल किया गया। इसमें नागरिकों के मूलभूत कर्त्तव्यों का उल्लेख है। कर्त्तव्य और अधिकार एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते हैं। हमारे देश की कार्य-संस्कृति हमारी एक बहुत बड़ी कमजोरी है। साधारण नागरिक जब भी किसी कार्यालय, संस्था या संस्थान में जाता है उसे बहुधा अशिष्टता, दुर्व्यवहार, असम्मान, तिरस्कार और विलम्ब अथवा टालमटोल का सामना करना पड़ता है। इस सबसे मुक्ति पाने का यही रास्ता है कि हर एक व्यक्ति अपने कर्तव्यों को जाने। यह कर्त्तव्य निष्ठा ही है जो आगे चलकर सारी व्यवस्था को सुचारू रूप से स्थापित व संचालित कर सकती है।

प्रगति और विकास के लिए योजनाएं बनाने वालों और संसाधनों को समझने वाले नीति-निर्धारकों को भविष्य की कल्पना करते समय आने वाले समय के परिवर्तनों और आवश्यकताओं पर सब से पहले ध्यान रखना होगा। इस दिशा में आज लगभग सभी सम्बन्धित वर्ग यह समझने का प्रयत्न कर रहे हैं कि अगले दस, बीस या तीस वर्षों में विश्व का एक अलग स्वरूप होगा। जो कुछ हो रहा है उसके आधार पर कुछ बातें लगभग स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही हैं। विश्व की जनसंख्या वृद्धि एकदम रुकने वाली नहीं है। एक अनुमान के अनुसार अगले पचास वर्षों में विश्व जनसंख्या पचास प्रतिशत बढ़ जाएगी। इस समय शहरों में आबादी का पांचवा हिस्सा रहता है जो अगले तीस वर्षों में बढ़कर दो तिहाई हो जाएगा। यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन होगा और इससे महानगरों, शहरों और कस्बों की शक्ल ही बदल जाएगी। इसका प्रभाव ग्रामीण क्षेत्र के कुटीर-उद्योगों, व्यवसायों, संस्कृतियों और सामाजिक मान्यताओं पर भी पड़ेगा। आने वाले समय में लोग एक दूसरे से केवल परिस्थितिवश और प्रयोजनवश मिलेंगे तथा सामाजिक सम्बन्धों तथा विवादों में एकरूपता घटेगी। विभिन्न वर्गों, मूल्यों, संस्कृतियों तथा धर्मों में सामाजिक सम्बन्ध बनेंगे और एक नए प्रकार के समाज के निर्माण की सम्भावना बढ़ेगी। आशा करनी होगी कि मानव जीवन की औसत आयु भी बढ़ेगी। ज्यादा उम्र के लोग बड़ी संख्या में समाज में होंगे और उनकी अपनी आवश्यकताएं होंगी। पुरानी बीमारियां अभी भी उभर कर प्रगट हो रही हैं, जैसे मलेरिया। नयी बीमारियां भी पिछले कुछ वर्षों में उभरी हैं और आगे नहीं उभरेंगी ऐसा विश्वास पूर्वक नहीं कहा जा सकता। नई टेक्नोलॉजी कई नए क्षेत्रों में सहायक हो रही है। सूचनाओं के आदान-प्रदान, संस्कृतियों की समझ और अन्य सभी विषयों में जानकारी प्राप्त करने के अवसर इसी का योगदान है। लोग कहीं पर भी कार्य कर रहे हों, चाहे खेतों, कारखानों या दफ्तरों में, हर स्थान पर अधिक जानकारी की आवश्यकता और अधिक बढ़ती जाएगी और वह

उपलब्ध भी होगी।

भावी विकास ज्ञान और जानकारी पर आधारित विकास होगा। कोई भी देश विश्व में जो कुछ हो रहा है उससे अलग रहकर न तो अपनी योजनाएं बना सकता है और न उन्हें सफल कर सकता है। जो देश यह समझ लेंगे कि उन्हें अपने भावी नागरिकों की प्रतिभा के विकास और प्रशिक्षण को प्राथमिकता देनी है वही भावी विश्व में उन प्रतिस्पर्धाओं में, जिन में, वे जाने-अनजाने पड़ गए हैं, सफल हो पाएंगे।

इस संदर्भ में यह कहना आवश्यक है कि हर व्यक्ति तक व्यावहारिक, उपयोगी और प्रगति की ओर अग्रसर करने वाली शिक्षा तभी पहुंच सकती है जब संस्थाएं अपने कर्त्तव्य का सुचारु रूप से पालन करें और राष्ट्र की अपेक्षानुसार कार्य करें। व्यक्ति ही नहीं राष्ट्र की प्रगति के लिए भी संस्थाएं ही दरवाजे खोलती हैं। ऐसा करने के लिए लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता है। अपने कर्त्तव्यों को समझने और उनके निष्पादन में कष्ट उठाने के लिए तैयार रहने की मनोवृत्ति का हमें निर्माण करना है। यह संस्थाएं ही हैं जो लोगों की बढ़ती हुई मांग को पूरा कर सकती हैं। उनका उत्तरदायित्व इसलिए भी बढ़ जाता है क्योंकि आगे आने वाले समय में कोई भी व्यक्ति जो कौशल या ज्ञान एक समय प्राप्त करता है, उसका भविष्य में अपने पूरे कार्यकारी जीवन में वह उपयोग नहीं कर पाएगा क्योंकि उसे समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों तथा नए ज्ञान और कौशलों को सीखना आवश्यक होगा और उसे अपनी क्षमता को निरन्तर बढ़ाना पड़ेगा।

जीवनभर सीखने की प्रवृत्ति अब केवल पुस्तकों में न रहकर हर व्यक्ति के जीवन की आवश्यकता बन गई है। 'भविष्य के साम्राज्य ज्ञान के साम्राज्य होंगे' यह कथन अब साकार रूप ले रहा है। □□

7

उपयुक्त व सार्थक शिक्षा

1905 में मद्रास में विद्यार्थियों के एक समूह के समक्ष भाषण करते हुए गांधी जी ने एक प्रश्न पूछा : जो शिक्षा आपको मिल रही है क्या उसका उद्देश्य केवल सरकारी कार्यालयों में या अन्य किसी कार्यालय में नौकरी पाना ही है?' इसी को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा, यदि ऐसा है तो जिस भारत की कल्पना विद्यार्थी कर रहे हैं या जो गुरु रवीन्द्र नाथ टैगोर और स्वामी विवेकानंद के सपनों का भारत है उसकी परिकल्पना कभी साकार नहीं होगी। आज पूरे 85 वर्ष बाद भी यह प्रश्न उसी स्थान पर स्थिर है। गांधी जी के मन में प्रत्येक व्यक्ति को मिलने वाली शिक्षा की उपयोगिता में, उस की भारतीयता सदा सर्वोपरि रही।

सारे विश्व में शिक्षा व्यवस्था तथा शिक्षा के उद्देश्यों पर सतत् चर्चा चलती रहती है। हर जगह कुछ अंतराल के बाद बहुत सी समितियों या आयोगों का गठन होता रहा है तथा शिक्षा नीति में परिवर्तन किए जाते रहे हैं। ऐसा आवश्यक भी है क्योंकि शिक्षा को उस सारे वातावरण को अपने में आत्मसात करते रहना चाहिए जिसमें लगातार परिवर्तन हो रहे हैं। समस्या यह रही है कि जिस गतिशीलता के साथ इन परिवर्तनों को शिक्षा व्यवस्था में समाहित हो जाना चाहिए वैसा हो नहीं पा रहा है। परिणामस्वरूप अधिकांशतः यही कहा जाता है कि शिक्षा व्यवस्था समय से पीछे रह जाती है। वह परिवर्तनों को आसानी से स्वीकार नहीं कर पाती है और इस कारण परिवर्तनों को समझने की अपनी क्षमता वह धीरे-धीरे खोती जा रही है।

गांधी जी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होना चाहिए। उनके अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति के शरीर के अंदर, मस्तिष्क और आत्मा में सर्वोत्तम है उसे उजागर करे। जिस प्रकार शरीर जीविकोपार्जन के लिए है वैसे ही चरित्र निर्माण के लिए आत्मा है। जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने के लिए शारीरिक कार्य आवश्यक है उसी प्रकार चरित्र निर्माण के लिए आत्मा को समझना भी उतना ही आवश्यक है। शिक्षा का उत्तरदायित्व है कि वह व्यक्ति को भौतिक रूप से तथा मानसिक रूप से पूरी तरह तैयार करे और व्यक्ति को

स्वतंत्र, चिन्तनयोग्य तथा इस लायक बनाए कि वह अपने मूल्यों और चरित्र के संबंध में विश्वास के साथ निर्णय ले सके।

गांधी जी ने 1917 में यह कहा था कि हम उस स्थिति में जी रहे हैं जहां हम अपनी अस्मिता खो रहे हैं और नया कुछ प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। उन्होंने यह बात पश्चिम की संस्कृति और विचारों की नकल करने वाले लोगों के संबंध में कही थी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रवृत्ति घटी नहीं है बल्कि आज के संदर्भ में कुछ ज्यादा ही बढ़ गई है। आधुनिकीकरण का तात्पर्य पश्चिम की नकल या और स्पष्ट कहें तो अमेरिका की नकल पर आकर सीमित हो गया है। भौतिकवादी प्रवृत्तियां आध्यात्मिक जीवन पर हावी हो रही हैं।

इस स्थिति के परिणामस्वरूप शिक्षा में व्यापारीकरण की प्रवृत्ति लगातार बढ़ रही है। हर तरफ ऐसा दिखाई देता है कि मानो शिक्षा का उद्देश्य केवल पश्चिम के द्वारा निर्धारित व्यवस्था की नकल करना और जो शिक्षा उन्हें आवश्यक है, वही देना हमारा कार्य क्षेत्र बनता जा रहा है। सबसे बड़ी उपलब्धि यह मानी जा रही है कि हमारे बीस-पच्चीस वर्ष की आयु के नागरिक ऐसी योग्यता प्राप्त करें जो उन्हें विदेशों में अच्छी नौकरी दिला सके। इसी के परिणामस्वरूप अंग्रेजी भाषा सीखने की दौड़ दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही है। मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम न मानकर सभी अंग्रेजी माध्यम स्कूलों की तरफ भाग रहे हैं। माता-पिता इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि 3 या 4 वर्ष की आयु से किसी भी बच्चे को दूसरी भाषा के माध्यम से पढ़ाना-लिखाना प्रारम्भ करना बच्चे के साथ अन्याय है। वैसे एक अन्य तथ्य यह भी है कि 5 वर्ष की आयु के पहले विद्यार्थियों को भाषा और गणित पढ़ाना शिक्षाविद सही नहीं मानते। इस तथ्य को बहुत से स्कूल भी नजरअन्दाज कर रहे हैं जिन्हें लगता है कि कम से कम आयु में बच्चे को जितना ज्यादा से ज्यादा पढ़ा दिया जाए उतना ही अधिक बच्चों के माता-पिता प्रभावित होंगे और उनके स्कूल का नाम और रोशन होगा। यहां पर यह भी जान लेना चाहिए कि इन प्रवृत्तियों में अधिकांशतः पढ़े-लिखे माता-पिता ही आगे हैं बनिस्बत उनके जो या तो अशिक्षित हैं या इस स्थिति में नहीं हैं कि इन महंगे पब्लिक स्कूलों में अपने बच्चों को भेज सकें। जो बच्चे अपनी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करते हैं, उसमें चिंतन करते हैं वे जिस आसानी से अपने पर्यावरण और वातावरण से जुड़ जाते हैं उतनी आसानी से दूसरी भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वाले बच्चे नहीं जुड़ पाते। किसी भी देश की शिक्षा व्यवस्था का आधार मानव मूल्यों का संवर्धन ही होना चाहिए। सहजता, करुणा, सेवा, अभय, व्यक्तिगत जीवन की शुद्धता, आत्म नियंत्रण, विनयशीलता आदि ऐसे गुण हैं जिन्हें कोई भी शिक्षा व्यवस्था स्वयं से अलग नहीं कर सकती। यह सभी गुण भारतीय जीवन के श्रेष्ठ मूल्य हैं। गांधीजी ऐसी ही

शिक्षा व्यवस्था की परिकल्पना करते थे और उन्हें विश्वास था कि स्कूल बच्चों को इन मूल्यों को अपनाने में सहायता करेंगे और साथ ही साथ उनमें स्वतंत्र जीवन और समझ को भी विकसित करेंगे। इसके लिए प्रारंभिक शिक्षा निश्चित रूप से स्थानीय पर्यावरण के आधार पर होनी चाहिए और उस भाषा में होनी चाहिए जिस भाषा के पर्यावरण में बच्चे पलते और पनपते हैं। आज ऐसा लगता है कि बहुत से अभिभावक उन उद्देश्यों को अपने बच्चों के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं जो वे स्वयं प्राप्त नहीं कर सके। इस प्रक्रिया में कितने लाभ हैं और कितनी हानियां हैं यह समझ उनके पास नहीं है।

पिछले कुछ दशकों में शिक्षा का जो प्रसार हुआ है उस का एक सुखद परिणाम यह है कि हर वर्ग और समुदाय शिक्षा की महत्ता को न केवल जानता और समझता है बल्कि उस पर अपने स्पष्ट विचार भी रखता है। अब शिक्षा में प्रमाण-पत्र या उपाधि प्राप्त करना ही काफी नहीं है, उसकी उपयोगिता पर भी लोग ध्यान देते हैं। प्रतिस्पर्धा हर तरफ बढ़ रही है। अतः जब तक शिक्षा आवश्यक क्षमताएं और काम करने की लगन में प्रवीणता प्रदान नहीं करेगी, लोग उस की ओर ध्यान नहीं देंगे। ऐसी शिक्षा जो समुदाय से या स्थानीय पर्यावरण से जुड़ने का कारण नहीं होगी वह आगे आने वाले वर्षों में स्वीकार नहीं होगी। जो समस्याएं देश के समक्ष आ रही हैं, हर व्यक्ति को शिक्षा के प्रचार में उनसे जूझना है।

भूमिक्षरण, पर्यावरण-प्रदूषण, पानी के स्रोत और उनकी व्यवस्था, जड़ी-बूटियों का इस्तेमाल, खाद्य पदार्थों का रख-रखाव, सही खाद का प्रयोग इत्यादि ऐसे अनेक विषय हैं जिनसे हर बच्चे को प्रारंभ से परिचित होना पड़ेगा। यदि हमने इन सब की व्यवस्था सही ढंग से की होती तो खाद्य पदार्थों का दुरुपयोग, पानी की कमी, स्वास्थ्य सेवाओं की अनुपलब्धता इत्यादि समस्याएं हमारे समक्ष इतने बड़े परिमाण में आज नहीं होतीं। तथापि स्कूल शिक्षा के पाठ्यक्रम को इन सबसे जुड़ना पड़ेगा और यह स्वीकार करना होगा कि ग्रामीण क्षेत्रों व आदिवासी क्षेत्रों से स्लम क्षेत्रों तक और महानगरों में एक सा पाठ्यक्रम प्रारंभिक कक्षाओं में नहीं पढ़ाया जा सकता है और यदि ऐसा किया भी जाता है तो वह सीखने के सिद्धान्तों के विपरीत होगा और अच्छी और उपयोगी शिक्षा देने में सक्षम नहीं होगा। जो कुछ भी स्थानीय है, वह सब बच्चे के सामने है और उसे शिक्षा से जोड़ना जरूरी है।

जीवन मूल्यों के ह्रास से समाज के सभी वर्ग त्रस्त हैं। जो जीवन मूल्य परिवारों और समुदाय में सीखे जा सकते हैं आज अपेक्षा की जाती है कि वह जिम्मेदारी भी स्कूल अपने ऊपर ले लें। छोटे परिवारों में बड़े-बूढ़ों का साथ में न रहना, शहरों में अपने पड़ोसियों को न जानना, माता-पिता दोनों का कार्य करना और बच्चों को समय न दे पाना ऐसी प्रवृत्तियां है जिन का सीधा असर मूल्यों की समझ और विकास पर पड़ता है। पेड़-पौधों से लगाव, सभी के लिए सहज स्नेह-भाव, अतिथि सत्कार,

बड़ों के लिए आदर तथा समाज के लिए जो लोग निःस्वार्थ काम करते हैं उनके प्रति सम्मान और ऐसे अनेक अन्य मूल्य परिवार में ही बच्चों को सिखाए जाते थे किन्तु अब ये धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे हैं। इस सारी व्यवस्था में बच्चों के ऊपर कई प्रकार के दबाव लगातार बढ़ रहे हैं। माता पिता चाहते हैं कि प्रारंभ से ही बच्चे अधिक से अधिक शैक्षिक ज्ञान प्राप्त करें ताकि आगे चलकर उन को मेडिकल, इंजीनियरिंग या मैनेजमेंट के व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में प्रवेश मिल सके। यह दौड़ बड़ी भीषण है और अनेकानेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहां बच्चे के ऊपर इस मानसिक दबाव का दुष्परिणाम सामने आता है। हर बच्चे के समक्ष जो अन्य विशाल कार्य क्षेत्र उपस्थित हो सकते हैं उस की तरफ ध्यान नहीं दिया जाता। कला, संगीत, सृजन, अध्यापन, शोध, समाज सेवा इत्यादि विधाएं लोगों के विचारों से लगभग मिट गए हैं।

विश्वस्तर पर यह माना जाता है कि आगे चलकर वही शिक्षा सार्थक होगी जिसकी जड़ें देश की अपनी संस्कृति में होंगी और जिसकी प्रतिबद्धता प्रगति के लिए होगी। गांधी जी ने शिक्षा को सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक वातावरण को समग्रता से आगे बढ़ाने वाला माना था। उनके विचार से संस्कृति से जुड़ी शिक्षा ही सीखने वाले के मन में अपने देश, अपनी धरोहर और अपने लोगों से जुड़ाव पैदा कर सकती है। ऐसी शिक्षा ही सेवा भावना और दूसरों के प्रति कार्य करने के लिए प्रेरणा दे सकती है। अपने देश की उपलब्धियों और सांस्कृतिक धरोहरों पर गर्व करना हर व्यक्ति के लिए आनंददायी अनुभूति होती है। ऐसे लोग ही अपनी सांस्कृतिक व ऐतिहासिक धरोहरों का सम्मान करते हुए उन्हें भविष्य के लिए सुरक्षित रखने के प्रयत्न में साझीदार बनते हैं। एक समग्र रूप से विकसित व्यक्तित्व के लिए यह आवश्यक भी है। गांधी जी ने माना था कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था व्यक्ति को आध्यात्मिक अव्यवस्था की ओर ले जाती है। ऐसी अव्यवस्था आज हर ओर देखी जा सकती है और इसमें व्यक्ति अपने जीवन के उद्देश्यों को ठीक से समझ नहीं पाता है। वह भी अधिक से अधिक इकट्ठा करने की दौड़ में शामिल हो जाता है। यह प्रवृत्ति अधिक असमानताओं की ओर ले जाएगी और वर्ग भेद को और आगे बढ़ाएगी। आवश्यकता ऐसी शिक्षा की है जहां सबके लिए समान अवसर हों और जो यह समझ विकसित करे कि प्रकृति में मनुष्य के लिए इतना सब कुछ है जो हर व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति तो कर सकता है परन्तु उसके लालच की पूर्ति नहीं कर सकता। □□

8

शिक्षा और प्रतिबोध

शिक्षा भावी समाज का निर्माण करती है। मानव सभ्यता के विकास के प्रारम्भ में लोग लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। वे उस समय भी एक सामाजिक दायरे में रहते थे और सम्भवतः ज्ञान-उपार्जन के तरीके भी उन्होंने ढूंढ लिए थे। धीरे-धीरे लोगों ने लिखना-पढ़ना सीखा और खूब सीखा। आज सारा विश्व इस बात पर एकमत है कि शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति की मूलभूत और प्राथमिक आवश्यकता है। आगे आने वाले समय में शिक्षा, विशेष रूप से प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त न करने वाले व्यक्ति को जीवनयापन करने में तथा जीवित रहने के कौशल सीखने में अनेकानेक कठिनाइयां होंगी। वह समय की गति से पिछड़ जाएगा और उसके जीवन की गुणवत्ता निश्चित रूप से अपेक्षित स्तर तक नहीं पहुंच पाएगी।

आज से लगभग 7 वर्ष पहले भगवान सिंह की एक पुस्तक छपी थी जिस का नाम था उपनिषदों की कहानियां। इस पुस्तक में कहानीकारों का जमाना, शीर्षक से अपने वक्तव्य में लेखक ने उस समय से, जब शिक्षा नहीं थी, आज के समय को देखने का प्रयत्न किया है। यह कह पाना कठिन है कि कितने लोगों ने इस पुस्तक को पढ़ा होगा। विशेष रूप से उन लोगों ने तो पुस्तक का शीर्षक देखकर ही उसे न पढ़ना तय कर लिया होगा जो वेद, उपनिषद, वेदान्त, धर्म ग्रंथ, रामायण, महाभारत तथा कालीदास जैसी महान रचनाकारों की कृतियों इत्यादि को केवल रूढ़िवादिता का प्रतीक भर मानते हैं और अपनी प्रगतिशीलता का प्रमाण वे उनसे दूर रहकर या यों कहें उन्हें दुत्कार कर ही देते हैं। उस पुस्तक में प्रकाशित भगवान सिंह के प्रारम्भिक वक्तव्य से कुछ अंश यहां उद्धृत हैं

यह जमाना बीसवीं शताब्दी से उतना ही दूर था जितना सुपरसोनिक से गधा। रफ्तार भी वही। हर चीज ढीली-ढाली थी, और लोग देखने में गंवार से लगते थे। दाढ़ी बढ़ी हुई, बाल बिखरे हुए, विचार उलझे हुए। पर वे बीसवीं शताब्दी के लोगों की ओर उंगली उठा कर कह रहे थे, उन मूर्खों को देखो ! वे अधिक खाने के लोभ में अपने समुद्र और आसमान को खाते जा रहे हैं। अपने भविष्य को खाते जा रहे हैं और फिर भी अपने को विज्ञानी समझते हैं। वे हजारों साल की दूरी

के आर-पार देख रहे थे, जैसे समय भी उनके लिए किसी मैदान की तरह सपाट हो। उनके इस उपहास को सुनकर अपनी शताब्दी के ज्ञान पर गरूर करने वाला मैं शर्म से सिर तक नहीं उठा पा रहा था और मुझे लग रहा था कि मैं सचमुच रैक्वजाद बिरादरी में शामिल हो गया हूं। उनको इस तरह हंसने का कुछ अधिकार भी था, क्योंकि उनकी नदियां सिर्फ बरसात में मैली होती थीं, उनका आसमान सिर्फ आंधी चलने पर मैला होता था, उनकी धूप केवल बादल घिरने पर मैली होती थी, उनके विचार केवल आवेग की प्रखरता में मैले होते थे, उनका शरीर केवल काम करते समय मैला होता था, उनकी आत्मा तो मैली होती ही नहीं थी। वे हंसते थे तो उनकी हंसी में उनका आह्लाद झलकता था, दर्प झलकता था, व्यंग्य झलकता था, पर मन की मलिनता नहीं झलकती थी। वह उनके दिल-दिमाग में थी ही नहीं।

वे बहुत कम दुखी होते थे, क्योंकि दुख की उनकी परिभाषा भिन्न थी। हमारी परिभाषा के बहुत से दुखों को वे चुपचाप पी जाते थे, मानो वह दुख हो ही नहीं। पर जब दुख उनकी परिभाषा के अनुसार भी दुख बन जाता था तो उससे आंसू के स्थान पर दर्शन टपकने लगता था।

आज शिक्षा ने हमारे सामने विशाल सागर और महान आकाश तथा ब्रह्माण्ड के सभी आयाम खोल दिए हैं। मंगल ग्रह पर मानव अब कल्पना का विषय नहीं रहा। सारा विश्व वैश्वीकरण की प्रक्रिया में फंसता चला जा रहा है। सूचना तकनीकी हमें लगातार जोड़ रही है, नजदीक ला रही है। लोगों को अधिक से अधिक भौतिक सुविधाएं धीरे-धीरे हासिल होती जा रही हैं और ऐसा लगता है कि उपलब्धियां लगातार बढ़ती ही जाएंगी। बहु-राष्ट्रीय कंपनियों के नाम और विज्ञापन सारे विश्व में दिखाई देते हैं। कहा जाता है कि यह विश्वस्तर पर भाईचारे के बढ़ने के प्रतीक हैं। उनके उद्देश्य क्या हैं और कैसे हैं, यह बात अलग है। आज जो भी इस नव-उपनिवेशवाद के प्रति कोई शंका या आशंका प्रकट करता है, उसे पिछड़ा हुआ कहा जाता है और समझा जाता है कि उसके पास परिवर्तन को देखने की दृष्टि नहीं है।

वैसे यह सही है कि हम आज की चकाचौंध में बहुत कुछ देखना ही नहीं चाहते। जो हम भौतिक रूप से देख पाते हैं, उसे ही पूर्ण समझ लेते हैं। मानव मूल्य, गरिमा, अहिंसा, सही आचरण और देश के लिए प्रतिबद्धता तथा ऐसे अनेक पक्ष जो मनुष्य को आध्यात्म की ओर ले जाते हैं आज भौतिकवाद की दौड़ में लगातार पीछे छूट रहे हैं। परिवर्तन का दौर है और परिवर्तन अब तेजी से हो रहा है।

हम यह क्यों भूल रहे हैं कि परिवर्तन आज प्रारम्भ नहीं हुआ। यह एक सतत् प्रक्रिया है। यह निश्चित है कि इसकी गति पिछले दो या तीन दशकों में बहुत तेजी से बढ़ी है। परिवर्तन स्वामी विवेकानन्द के समय में भी हो रहे थे, गांधी जी के समय में भी हो रहे थे। इन्होंने तथा अनेक अन्य महापुरुषों ने अपने समय के अनुरूप उसे समझने की आवश्यकता पर जोर दिया था। स्वामी विवेकानन्द ऐसी

शिक्षा की बात करते थे जो हर व्यक्ति को मनुष्य बना सके। इसलिए मानवीयता, दूसरे की सेवा की भावना और जीवन के सही उद्देश्यों को पहचानने की क्षमताओं पर उन्होंने ज्यादा जोर दिया।

गांधी जी ने भी भारत के जनमानस को पूरी तरह समझा। उन्होंने यहां की सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक परंपराओं को परखा और जो भी उन्हें सही लगा उसे समझने के लिए औरों को भी प्रेरित किया। सभी धर्मों की एकता को जीवन का लक्ष्य बनाने वाले और सभी धर्मों के प्रति सम्मान और आदर रखने वाले बापू ने धर्म को शिक्षा से अलग रखकर धर्मनिरपेक्षता या पंथ-निरपेक्षता की बात नहीं की। उन्होंने लिखा "विद्यार्थियों को ऐसी तालीम दी जानी चाहिए जिससे वे संसार के सभी महान धर्मों को आदर के साथ स्वीकार कर सकें"। गांधी जी कहते थे कि सभी धर्मों के विचारों में अनेक समानताएं हैं। वे सभी मानव मूल्यों को जीवन और आचरण में उतारने के हामी थे।

सभी धर्म मानव मात्र के प्रति आदर रखने, दया और प्रेम की भावना विकसित करने पर बल देते हैं। यदि यह तथ्य और जानकारी उम्र के प्रारम्भिक वर्षों में बच्चों को दे दी जाए तो निश्चित रूप से उनके मन में अन्य धर्मों और उनकी मान्यताओं के प्रति आदर का भाव उत्पन्न होगा। उनका समस्त जीवधारियों और प्रकृति से भी एक अटूट सम्बन्ध स्थापित होगा। इसके प्रति किसी के मन में कोई भी आशंका या दुविधा नहीं होनी चाहिए। जब हम सामाजिक सद्भावना की बात करते हैं तब उससे जुड़ी एक अन्य परंपरा की ओर भी हमारा ध्यान जाना चाहिए। वह है मनुष्य और प्रकृति के बीच सही तालमेल और सामंजस्य को बनाए रखने की आवश्यकता इसे भी गांधी जी ने बहुत पहले समझ लिया था। उस समय विश्व में कहीं पर भी पर्यावरण या उससे जुड़ी समस्याओं पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन नहीं हो रहे थे। गांधी जी कहते थे "प्रकृति में प्रत्येक की आवश्यकता के लिए सभी कुछ उपलब्ध है, परन्तु वह किसी एक के लालच के लिए नहीं है।" आज इस तथ्य को दरकिनार रखकर लालच की पूर्ति के लिए जो प्रयत्न और प्रयास लोगों ने किये उसी से प्रकृति और मनुष्य के बीच के सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गए हैं। हमारी नदियां विलुप्त हो रही हैं, जंगल समाप्त हो रहे हैं, पीने का पानी शुद्ध नहीं बचा है और कहीं-कहीं तो पानी ही नहीं बचा है। हमारी धरती की सृजन क्षमता को हम स्वयं नष्ट कर रहे हैं। हरियाली को उजाड़कर हमने बहुमंजिले भवन बनाए हैं। आप किसी से पूछिए कि यह क्या हो रहा है और क्यों हो रहा है, तो एक ही उत्तर मिलेगा कि यह सब मैं अपने घर और परिवार के भविष्य के लिए कर रहा हूं। शायद हम भूल चुके हैं कि वस्तुतः हम अपने भविष्य को खा रहे हैं और आज जब सर्वनाश के लक्षण तेजी के साथ हमें दिखाई भी दे रहे हैं तब भी हम चेते नहीं हैं।

इस बिन्दु पर एक बड़े विचारणीय पक्ष की आवश्यकता महसूस होती है और

वह है जानकारी। जानकारी से मेरा तात्पर्य इन्फॉर्मेशन से नहीं है बल्कि यह वह जानकारियां हैं जो मनुष्य को अपने स्वयं के बारे में समझने में सहायता करती हैं। जो जानकारियां उसकी प्रकृति और उसके समाज के सम्बन्धों की संवेदनशीलता को उजागर करती हैं। यह समझ पहले हमें परिवारों और कुटुम्ब के बड़े-बूढ़ों से संयुक्त परिवारों में मिलती थीं। संयुक्त परिवारों में आदर और श्रद्धापूर्वक पढ़े और विचारे जाने वाले ग्रंथों से संस्कार के रूप में बहुमूल्य आदर्श मिलते थे आज स्थिति बदल गई है। अब केवल स्कूल और शिक्षा पर निर्भर होकर हमारी अपेक्षाएं हैं कि बच्चे वह सब सीख लें जो उन्हें सीखना चाहिए। यह अपेक्षा उनकी भी है जो जीवन में किन्हीं मूल्यों का सम्मान नहीं करते, धनोपार्जन के लिए जो लोग किसी भी तरीके को अपनाने में नहीं हिचकते हैं या वे लोग जो अपने कर्त्तय का पालन नहीं करने में ही अपनी योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। वह चाहते हैं कि उनके बच्चे जीवन मूल्यों को समझें, उन्हें आचरण में लाएं। परन्तु ऐसा होने की संभावना कम ही है क्योंकि बच्चे वही करते हैं जिसे करते हुए वह अन्य व्यक्तियों को, विशेष रूप से अपने निकट के लोगों को देखते हैं।

शिक्षा की, विशेष रूप से स्कूली शिक्षा की भी अपनी सीमाएं हैं। शिक्षा व्यवस्था से जुड़े लोग भी समाज के ही अंग हैं, अतः समाज में विद्यमान उन प्रवृत्तियों से वे अछूते नहीं हैं और न ही रह सकते हैं, जिन प्रवृत्तियों ने समाज को अपने प्रति अवेष्ठित कर लिया है।

यह सब परिदृश्य आज हमारे सामने है। गांधी जी के लेखन का अध्ययन करने से लगता है कि उन्होंने इस सब की परिकल्पना बहुत पहले ही कर ली थी। उन्होंने विवेकानन्द को पढ़ा था और लोक कल्याण पर उनके विचार जान लिए थे। गोखले के कहने पर उन्होंने पूरे देश का भ्रमण किया था। देश की एकता को देखा, समझा और परखा था। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि उनकी यह परख संस्कृति, अध्यात्म और धार्मिक सभी स्तरों पर थी। गांधी जी ने प्रकृति और जीव-जन्तुओं के प्रति मनुष्य के विनम्र और करुणा भाव पर जोर दिया। यह परिवेश दृष्टि थी और उनकी दृष्टि से यह पक्ष बचा नहीं रह सका। भारतीय संस्कृति और परम्परा में ऐसे विचार निहित थे परन्तु लोग उन्हें भूल चुके थे। गांधी जी ने असीम आत्मविश्वास पाया था और उसकी नींव थी उनकी विनम्रता। ऐसी विनम्रता जो व्यक्ति को अपनी आन्तरिक शक्ति की पहचान आत्मविश्वास के रूप में कराती है।

जैसा कि भगवान सिंह ने कहा है कि जब देश थे और आधुनिकता नहीं थी तब जल, जंगल, पशु-पक्षी, राज्यों की करसीमा रेखाओं के बंदी नहीं होते थे। कहते हैं कि बाह्य तभी साफ होगा जब अंतर निर्मल हो। जैसे-जैसे आधुनिकता बढ़ी आन्तरिक निर्मलता कम होती गई। राष्ट्र बने, राज्य बने और अब जल, जंगल और प्रकृति के पुरस्कारों के दोहन पर कहीं न कहीं, किसी न किसी प्रकार का संघर्ष होता

रहता है। औद्योगीकरण हमारी नदी रूपी शिराओं को लगातार दूषित कर रहा है और हम आज भी उसे रोकने के न तो उपाय कर रहे हैं और न ही चिंता कर रहे हैं। वह समय बहुत दूर नहीं रहा है जब गंगा और यमुना को भी सरस्वती की तरह ही केवल पुस्तकों में पढ़ा जाएगा।

यदि भारतीय परम्परा और संस्कृति को हमने शिक्षा का आधार बनाया होता तो जल, जंगल और जीवों पर आंख मूंदकर हमने अन्याय न किया होता। बिना विचारे किए गए अपने कृत्य के प्रतिफल हम स्वयं तो पा ही रहे हैं, आगे आने वाली पीढ़ी के लिए भी हम भीषण प्रतिस्पर्द्धा पैदा कर रहे हैं। हमने बापू को सुना ही नहीं और अगर सुना भी तो उन्हें समझने की कोशिश कभी नहीं की। उन्होंने भारत की संस्कृति और मिट्टी में बनी समझ के आधार पर बेसिक शिक्षा प्रणाली की रूप-रेखा देश के सामने रखी। मौलाना आजाद, डा. जाकिर हुसैन ने इसे माना और स्वीकारा। अनेकानेक प्रयोग और सफल प्रयोग किए गए। इस शिक्षा की व्यवस्था भारतीय परम्परा के अनुसार समाज को करनी थी। अंग्रेजों ने जो शिक्षा प्रणाली प्रारम्भ की थी वह सरकारी प्रणाली थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी देश ने उसी प्रणाली को कायम रखा। शायद आंख की शरम के लिए कुछ पंचवर्षीय योजनाओं तक बुनियादी शिक्षा का जिक्र होता रहा। बाद में वह भी बन्द हो गया। दोनों व्यवस्थाओं के मानक और मापदण्ड अलग-अलग थे। अतः एक को तो पीछे हटना ही था और नौकरशाही जब निर्णय लेने की क्षमताओं को हथिया लेती है तो वह उसी व्यवस्था को चलने देती है जो उसके ही हित में हो, उसके वश में हो।

आज हम कार्य अनुभव तथा व्यावसायिक शिक्षा स्कूलों में कैसे दें, इसके लिए गोष्ठियां करते हैं, परियोजनायें बनाते हैं, खूब खर्च करते हैं और उसके बाद इन का मूल्यांकन कर दोबारा इनमें परिवर्तन करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यदि हमारी व्यवस्था ने कुम्हार, लोहार, बुनकर, चर्मकार आदि इन सबको शिक्षा के क्षेत्र में आने दिया होता, उन्हें शिक्षक कहलाने का सम्मान दिया होता तो आज जो शिक्षा बच्चों को मिल रही है उसका स्वरूप ही विलक्षण होता। समाज में समानता बढ़ती, व्यक्ति का सम्मान बढ़ता, कौशल और क्षमताओं के पारम्परिक भण्डार का विस्तार होता और उत्पादन की स्थानीय स्तर पर जो कल्पना बापू ने की थी वह साकार हो जाती। मुरादाबाद में कलई का काम करने वाले, फिरोजाबाद में चूड़ी का काम करने वाले, केरल में अष्टधातु का कार्य करने वाले और उड़ीसा में चांदी का महीन काम करने वाले और ऐसे कितने ही अन्य परम्परागत कला के धनी, आज भी शिक्षा के क्षेत्र से पूरी तरह कटे हुए हैं और उन्हें शिक्षा से जोड़ने की कोई सशक्त कोशिश कहीं नहीं हो रही है। पिछले पांच दशकों में शिक्षा में जो कुछ हुआ है उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि जो गांव में पढ़ते हैं, शहर चले जाते हैं और

शहर में पढ़ने वाले महानगरों के हो जाते हैं, महानगरों में पढ़ने वालों के सामने एक उद्देश्य होता है कि कैसे विदेशों में जाकर वहीं बस जाएं।

एक समस्या देश के सामने विकराल रूप धारण किए खड़ी है जिसका निदान है भविष्य को बचाने की एक ईमानदार कोशिश और उसमें शिक्षा का सही स्थान। ऐसे सभी लोग जो छोटे बच्चों से प्यार करते हैं, अपने इस उत्तरदायित्व को जानें कि उनके कार्यों से नयी पीढ़ी के लिए ऐसी समस्या पैदा हो रही है जिसको ठीक कर पाना शायद आगे के दो-तीन दशकों बाद आसानी से सम्भव न हो। अतः यह आवश्यक है कि हम इस भविष्य को सुरक्षित कर सकें जो हमारे पास आगे आने वाली पीढ़ी की धरोहर है और जिसे सम्भालने का ज़िम्मा आज हमारे पास ही है। तभी हम उन्हें इस सृजनशील धरती के साथ सही मायने में उनके योग्य समुद्र और आकाश भी दे सकेंगे। □□

9

शिक्षा की सही व्यवस्था

वाद, विवाद और संवाद किसी भी प्रगतिशील समाज के ऐसे अंग हैं जो उसे हर दिशा में आगे बढ़ने में सहायता करते हैं। इनकी उपयोगिता इस पर निर्भर करती है कि कितना वाद है, कितना विवाद है और यह किस हद तक संवाद तक पहुंचते हैं। संवाद मानव विकास का एक बहुत महत्वपूर्ण अंग है। यह समस्याओं के समाधान में सहायता करता है। इस समय देश के सामने अनेक समस्याएं हैं। इनमें से एक समस्या है सब के लिए प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था, शिक्षा की गुणव त्ता, अच्छे अध्यापक और ऐसी सतत् शिक्षा व्यवस्था जो भविष्य के समाज का निर्माण कर सके, जो परिवर्तनों को विश्लेषित करके उन्हें आत्मसात कर सके। ऐसे नये भावी नागरिक तैयार करना जो आने वाले समय के गर्भ में लिये परिवर्तनों को समझने की क्षमता रखते हों। उसमें से जो उपयोगी हो उसे स्वीकार करने की क्षमता रखते हों और उनके अंदर इतनी अंतर-शक्ति हो कि वे हमारे देश के लिए, हमारी परिस्थितियों में तथा हमारे संदर्भो ' में जो उचित न हो उसे दृढ़ता से अस्वीकार कर सकें।

कुछ इसी तरह की चर्चा इस समय हमारे देश में चल रही है और यह एक अच्छा चिन्ह है कि शिक्षा की ओर सभी ध्यान दे रहे हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने शिक्षा के क्षेत्र में और जो भी कार्य किये हैं उनमें स्कूल शिक्षा की ओर सारे देश का ध्यान आकर्षित करना अपने आप में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस परिषद् की स्थापना इसी उद्देश्य के लिए की गई थी कि केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों को स्कूल शिक्षा के सभी पक्षों तथा आयामों पर एक शैक्षणिक शोध और अध्ययन संस्था होने के नाते वह अपनी राय दे सके और शैक्षणिक सुधारों में अपना योगदान दे। परिषद् का यह भी उत्तरदायित्व है कि वह राज्य स्तरीय संस्थाओं में, प्रशिक्षण संस्थाओं में और अंततः स्कूलों में ऐसे लोग तैयार करे जो शैक्षणिक परिवर्तनों को समझते हों, जो शिक्षा जगत की आवश्यकताओं से परिचित हों और जो नवाचार शिक्षा में आने चाहिए उनको ग्रहण कर सकें तथा शिक्षा के भावी स्वरूप के निर्माण से समर्पित योगदान दे सकें। इस समय चर्चा का मुख्य बिंदु है नवम्बर 2000 में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रस्तुत स्कूल शिक्षा के नये पाठ्यक्रम

की रूपरेखा। यह रूपरेखा एन.सी.ई.आर.टी. की 'गवर्निंग बॉडी' के समक्ष दिसम्बर 2000 में रखी गई। इस 'गवर्निंग बॉडी' में सभी राज्यों के वे शिक्षा मंत्री, जो स्कूल शिक्षा से संबंधित हैं, माननीय सदस्य हैं। उनमें से कुछ इसमें उपस्थित थे, कुछ के प्रतिनिधि उपस्थित थे। सभी ने यह विचार किया कि जो दस्तावेज़ प्रस्तुत किया गया है उसे राज्यों में क्रियान्वयन के स्तर पर शिक्षा से सम्बद्ध महत्वपूर्ण लोगों और अधिकारियों को इस के साथ जोड़ा जाए और उनके साथ इस पर विचारविमर्श किया जाए। परिषद् ने यह कार्य आरंभ कर दिया है और लगभग आठ राज्यों में यह चर्चा हो चुकी है, शेष अन्य राज्यों में विचार-विमर्श प्रस्तावित है। इसी बीच इस दस्तावेज को लेकर कुछ भ्रान्तियां सुनियोजित ढंग से फैलाई जा रही हैं और ऐसे आरोप लगाए जा रहे हैं कि इसको विकसित करने में राज्यों से संपर्क नहीं किया गया। दुराग्रहों का उत्तर देना सदैव अत्यन्त कठिन होता है। वास्तविक स्थिति यह है कि एन.सी.ई.आर.टी. ने पाठ्यक्रम के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया 1995-96 में ही प्रारंभ कर दी थी। मार्च 1997 में परिषद् ने समाज विज्ञान विषय पर नये पाठ्यक्रम की रूपरेखा बनाने के लिए 11 लाख रुपये का एक प्रस्ताव स्वीकृत किया। मार्च 1998 में गणित और विज्ञान के लिए भी ऐसे ही प्रस्ताव स्वीकृत किये गए। यह अलग बात है कि इन पर कोई प्रगति नहीं हुई और क्यों नहीं हुई इसके कारणों को यहां उद्धृत करना आवश्यक नहीं है। 1999 में एन.सी.ई.आर.टी. में यह बात बहुत तेजी से आई कि हमारी पुस्तकें जो 1988 में या तो नयी बनी थीं या फिर जो पुरानी ही पुस्तकें लागू रही थीं वे अब समय के हिसाब से बहुत पीछे रह गई हैं, अतः यह जरूरी है कि इन सब पर पुनर्विचार किया जाए।

पिछले दस-बारह वर्षों में जिस तरीके से बदलाव हुए हैं अगर हमने इन परिवर्तनों के हिसाब से अपनी पुस्तकें नहीं बदलीं तो निश्चित रूप से हम बहुत पिछड़ जाएंगे। परिषद् पर यह दबाव कई वर्षों से बना रहा है किन्तु इन परिवर्तनों के समावेश के कार्य में कुछ लोगों का अकारण प्रतिरोध भी सामने आया। इस दिशा में पूर्व के वर्षों से चल रही कोशिशों को अस्वीकार करने वाले इन महानुभावों को यह भी आपत्ति है कि यह प्रक्रिया 1999 में एकाएक प्रारम्भ कर दी गई। हम थोड़ा इस प्रक्रिया को भी जान लें   सितम्बर 1999 से दिसम्बर 1999 के बीच अनेक विद्वानों से संपर्क कर, सैकड़ों अध्यापकों के साथ बैठकर एक प्रपत्र, 'डिस्कशन-डॉक्यूमेंट' बनाया गया। इस परिचर्चा-परिपत्र में वह महत्वपूर्ण मुदद्दे मौजूद हैं जो स्कूल शिक्षा में इस समय उभरकर आए हैं। जनवरी सन् 2000 में यह परिपत्र सारे देश में बांटा गया। उस पर जो विचार-विमर्श अगले दस महीनों में हुआ उस की सारी जानकारी नवम्बर 2000 में जारी किए गए पाठ्यक्रम के दस्तावेज के आमुख में दी गई है। वह सब तथ्य हैं और उनको नकारने का कोई अर्थ नहीं है। मुख्य बिन्दु यह है कि जो भी चर्चा इस समय हो रही है उसमें समूचे दस्तावेज पर ध्यान केन्द्रित न

हो कर केवल कुछ बिन्दुओं पर रह गया है। यह जानना अपने आप में महत्वपूर्ण है कि देश-व्यापी चर्चा के वे कौन से ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दे हैं जो दस्तावेज ने हमारे सामने रखे हैं। ये मुद्दे हैं संविधान में शिक्षा उद्देश्य तथा समानता के सभी को अवसर मिलें, शिक्षा ऐसी हो जो जीवन निर्वाह करने में, जीवन को समझने में सहायता कर सके और सबसे बड़ी बात यह कि वह एकता मूलक समाज का निर्माण कर सके। यह बात भी बहुत बार कही गई कि हमारे विद्यार्थियों को लगता है कि इस देश में कोई ज्ञान कभी पनपा ही नहीं। जो भी ज्ञान है, जो भी विज्ञान है वह सब बाहर से ही आया है! हमारे विद्यार्थियों को इस यथार्थ से परिचित होना आवश्यक है कि इस देश ने मानव सभ्यता के विकास में अग्रणी व महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यहां की चिंतन प्रक्रिया हजारों साल पहले भी बहुत ऊंचे स्तर पर थी और अनेक क्षेत्रों में भारतीय वैज्ञानिकों ने, चिंतकों ने, ऋषियों ने और फकीरों ने, सभी ने, अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। भारतीय समाज में, भारतीय भाषाओं में जो हमारी संस्कृति निहित है उसे बिना जाने हमारे विद्यार्थी गौरवपूर्ण भविष्य कैसे निर्मित करेंगे यह समझ में न आने वाली बात है।

विदेशी लोग जो बता गए हैं क्या उसी को हमें आधार मान लेना है या फिर स्वयं अपने प्रयत्नों से अपने आधार को जानना और समझना है? यह बात और अच्छे ढंग से, बहुत अच्छे ढंग से इस चर्चा में निकली कि भारतीय होने पर गर्व होना, इस देश की विभिन्न भाषाओं, विभिन्न धर्मों, विभिन्न क्षेत्रीय विशेषताओं को जानना-पहचानना, उनके प्रति आदर का भाव उत्पन्न करना, दी जाने वाली शिक्षा का ही उद्देश्य है। ऐसा होने पर ही हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की परंपरा को समझ सकेंगे और उसका निर्वाह कर सकेंगे।

यह बात सभी लोगों ने बार-बार कही है कि मूल्यों का ह्रास जीवन की हर गतिविधि में हर तरफ दिखाई दे रहा है और शिक्षा को मानवीय मूल्यों को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण हिस्सा लेना चाहिए। इसी संदर्भ में आध्यात्मिकता की बात भी आई है जिस के बारे में सारा विश्व भारत की ओर टक-टकी लगाए हुए है। दस्तावेज ने यह भी स्पष्ट किया है कि पंथ-निरपेक्षता, जिसे कई बार भ्रमवश धर्म-निरपेक्षता कहा जाता है, 'सेक्यूलरिज्म' हमारे देश की एक बहुत बड़ी धरोहर है। मूल भावना यह है कि हम सब धर्मों के बारे में जानें और उन सब धर्मों की प्रारंभिक जानकारी हमारे सब बच्चों को हो। जब तक यह जानकारी नहीं होगी तब तक ये बच्चे अपेक्षित आदर भाव कैसे विकसित कर सकेंगे।

शिक्षा हमारी संस्कृति के अनुरूप होनी चाहिए। बच्चों को ज्ञान निर्माताओं के रूप में देखा जाना चाहिए। पाठ्यचर्या-निर्माण और उसके क्रियान्वयन के लिए शिक्षकों का आत्मविश्वास और उनका प्रशिक्षण व्यवस्थित किया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम-निर्माण की प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। किसी एक स्थान पर बैठकर ऐसा पाठ्यक्रम

नहीं बन सकता जो उसी रूप में सारे देश में चले। राज्यों के लिए पाठ्यक्रम का निर्माण करना राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व है। एन.सी.ई.आर.टी. जिस पाठ्यक्रम का निर्माण करती है वह राज्यों के लिए एक प्रकार से उदाहरण और दिशा निर्देशक होता हैं। एन.सी.ई.आर.टी. की पुस्तकें भी एक उदाहरण होती है और एन.सी.ई. आर.टी. कभी यह नहीं कहती है कि इन पुस्तकों को राज्य सरकारें भी जैसी है वैसी ही स्वीकार कर लें।

इस प्रकार के जो बिंदु मुख्य रूप से उभरे हैं उनको नये पाठ्यक्रम में ध्यान में रखा गया है। इन में से कुछ सिफारिशें लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाई हैं परंतु वे अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। जैसे, प्राथमिक शिक्षा के आरंभिक दो वर्षों में भाषा, गणित एवं क्रियाकलाप। पढ़ने के विषय केवल दो ही रहेंगे, भाषा और गणित। बाकी सब क्रियाकलाप होंगे। परन्तु भाषा और गणित की सारी अध्ययन-अध्यापन प्रक्रिया अनिवार्य रूप से बच्चे के अपने पर्यावरण से जुड़ी होगी। कक्षा एक और दो में कुल मिलाकर पर्यावरण शिक्षा ही दी जायगी। यह प्रक्रिया आगे के लिए एक सुदृढ़ आधार निर्मित करेगी, बच्चों की रुचि पढ़ने-पढ़ाने में विकसित करेगी और हमें लगता है कि जो बच्चे स्कूल छोड़ जाते हैं उनकी संख्या को भी कम करेगी। विज्ञान की शिक्षा को भी विज्ञान और तकनीकी शिक्षा का रूप देना होगा ताकि यह उन बच्चों के उपयोग में भी आ सके जो कुछ वर्ष बाद स्कूल छोड़ देंगे, अर्थात जो कक्षा 10 पास नहीं कर पाएंगे।

सामाजिक विज्ञान के संबंध में जो एक बड़ी अनुशंसा 1986 की शिक्षा नीति में की गई थी कि सामाजिक विज्ञान को समेकित ढंग से पढ़ाया जाए, वह पहले नहीं किया जा सका और सामाजिक विज्ञान 4 विभिन्न विषयों के रूप में अलग-अलग कक्षा 10 तक पढ़ाया जाता रहा। नये पाठ्यक्रम की सिफारिश है कि सामाजिक विज्ञान की पुस्तकें समेकित ढंग से बनें और उन्हें पढ़ाया जाए। यहां पर यह भी एक बड़ी ध्यान देने वाली बात है कि बच्चों पर बस्ते के बोझ से चिंतित लोग भी इस सिफारिश को समझने का प्रयास नहीं करते। अधिक पुस्तकें बच्चों पर अनावश्यक रूप से बोझ डालती रहीं हैं। हम अनेक ऐसे तथ्य, व ऐसी जानकारियां उन्हें दे रहे हैं जिन का किसी प्रकार का कोई उपयोग अब नहीं रहा है। इस अनुभव से, विद्यार्थियों की राय से, लोगों की राय से हमने समझने का प्रयास किया है। इस तरह के कार्य में किसी को कोई भी चिंता नहीं होनी चाहिए।

एक बहुत बड़ी आवश्यकता है रोजगार की क्षमताएं विकसित करना, हाथ से कार्य करने के लिए बच्चों को प्रोत्साहित करना और निजी उद्यमशीलता के लिये उन्हें प्रोत्साहित करना। इस संबंध में अनेक महत्वपूर्ण सिफारिशें की गई हैं जो राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अंतर्गत आती हैं। लेकिन इस समय परिवर्तन के जिन बिंदुओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए उन सभी पक्षों पर हमारी यह राष्ट्रीय शिक्षा नीति यथा

बल देती है। इस देश की एक बड़ी समस्या है मूल्यांकन प्रणाली में सुधार और परिवर्तन का न होना। आज भी सारा दारोमदार कक्षा 10 और कक्षा 12 के अंत में होने वाली बोर्ड की परीक्षाओं पर है। 1986 की शिक्षा नीति में यह बात की गई थी कि इस निर्भरता को कम किया जाना चाहिए। एन.सी.ई.आर.टी. ने सिफारिश की है कि 'ग्रेडिंग' की प्रथा लागू की जाए। साथ ही साथ कक्षा 10 के अंत में पास और फेल की परिपाटी को समाप्त किया जाए। शिक्षा के क्षेत्र में विकसित सभी देश इसे स्वीकार कर चुके हैं और हमारी शिक्षा व्यवस्था को भी जल्दी से जल्दी इस पर विचार करना चाहिए। अच्छी शिक्षा के विकास के लिए, अच्छे शिक्षक चाहिए, अच्छी व्यवस्था चाहिए जो साथ ही साथ शिक्षकों, माता-पिता, समुदाय और प्रबंधन की भागीदारी स्थापित कर सकें। मूल्यों की शिक्षा के प्रोत्साहन की बात जो कही गई है इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इसकी कोई अलग से पुस्तकें नहीं होगीं, न ही अलग से परीक्षा होगी। स्वाभाविक इस बात के लिए तैयार रहें कि शिक्षा का सम्पूर्ण अर्थ ऐसे भावी नागरिक तैयार करना है जो जीवन में मानवीय मूल्यों के अनुसार, और सामाजिक मूल्यों के साथ रचनात्मक योगदान समाज को दे सकें। अंत में यह कहना आवश्यक होगा कि कुछ आलोचनाएं केवल जानकारी न होने के कारण हमारे सामने आ रही हैं। जैसे एन.सी.ई.आर.टी. को इसके लिए 'सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड' का पुनर्गठन करवाना चाहिए था जो आज तक सम्पन्न नहीं हुआ है। एन.सी.ई.आर.टी. इस दस्तावेज को यदि "सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑफ एज्युकेशन" होता, तो अवश्य उसके सामने रखती। देश की संसद में पाठ्यक्रम की रूपरेखा पर पहले चर्चा नहीं हुई थी।

एन.सी.ई.आर.टी. का पाठ्यचर्या प्रारूप दस्तावेज एक राष्ट्रीय दस्तावेज है। ऐसा दस्तावेज़ एन.सी.ई.आर.टी. ने तीसरी बार बनाया है। इससे पहले ऐसा दस्तावेज 1975 और 1988 में तैयार किया गया था। पुराने अनुभवों का लाभ उठाते हुए इस बार जो प्रक्रिया पूरे देश में संवाद स्थापित करने के लिए, जानने के लिए, समझने के लिए अपनाई गई है वह अपने आप में अनूठा प्रयास रहा है। इस दस्तावेज़ को पढ़कर अध्यापकों, शिक्षकों, शिक्षाविदों ने इसके सभी बिंदुओं को सराहा है, क्योंकि यह ऐसे समाज के निर्माण में सहायता करेगा जहां भाईचारा होगा, एक दूसरे के प्रति सम्मान होगा, संवैधानिक मूल्यों की श्रेष्ठता का सम्मान होगा और उन्हें जीवन में उतारकर मूल्य आधारित जीवन जीने की प्रेरणा का देशभर में व्यापक प्रसार होगा।

□□

10

प्राथमिक स्तर पर स्कूली शिक्षा

शिक्षा के विस्तार के साथ अनेक अनुभव पिछले 5 दशकों में विभिन्न क्षेत्रों में उभरकर सामने आए हैं। कक्षा एक में प्रवेश पाने वाले बच्चों में से आधे से कुछ ही कम बच्चे कक्षा 5 तक पहुंचने के पहले स्कूल छोड़ देते हैं। महानगरों में रहने वाले कुछ लोगों को यह एक अपरिचित और अविश्वसनीय तथ्य लग सकता है परन्तु वास्तविक स्थिति आज यही है।

बच्चे स्कूल क्यों छोड़ते हैं इसके अनेक कारण सामने आए हैं जिन पर समय-समय पर चर्चाएं होती रही हैं। यह निर्विवाद है कि स्कूलों में जो वातावरण बच्चों को मिलता है वह प्रायः उन्हें रुचिकर और ग्राह्य नहीं होता है तथा बहुत हद तक स्वयं स्कूल ही बच्चों में शिक्षा के प्रति अरुचि के लिए उत्तरदायी होता है।

जो पुस्तकें उन्हें दी जाती हैं या जिन लोगों से उन्हें अध्ययन कराया जाता है, वे भी इसके महत्वपूर्ण कारण हैं। पाठ्यक्रम में रटने के लिए कितना कुछ है, किन्तु आनंदपूर्वक सीखने के लिए कुछ है या नहीं और बच्चे की सृजनात्मकता को उजागर करने की भी कोई छूट है या नहीं, इन तथ्यों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। 60 और 70 के दशक में जो मुख्य परिवर्तन पाठ्यक्रम में किए गए, उनमें बच्चों को आसपास के पर्यावरण से जोड़ने और ऐसी गतिविधियों को शामिल करने पर विशेष जोर दिया गया जो उन्हें रुचिकर लगें और उनमें स्कूल के प्रति एक आत्मीयता पैदा कर सकें।

स्कूल शिक्षा में राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करने वाली संस्था एन.सी.ई.आर.टी. ने 1975 और 1988 में स्कूल शिक्षा के पाठ्यक्रम की एक रूपरेखा देश के सामने रखी थी। पर्यावरण अध्ययन पिछले 3 दशकों से एन.सी.ई.आर.टी. के कार्यकलापों में विशेष स्थान पाता रहा है और समय के साथ उसकी उपयोगिता भी अपने आप सिद्ध होती रही है। एन.सी.ई.आर.टी. के नवम्बर 2000 में प्रस्तुत किए गए स्कूल शिक्षा के पाठ्यक्रम की रूपरेखा पर आज देशभर में चर्चा हो रही है। पिछले अनुभवों को ध्यान में रखते हुए ही विशेषज्ञों, अध्यापकों तथा शिक्षा में रुचि रखने वाले सभी वर्गों से सम्पर्क करके इस पाठ्यचर्या की रूपरेखा को एन.सी.ई.आर.टी. ने देश

के सामने रखी है। इन चर्चाओं में यह महत्वपूर्ण तथ्य भी उभरकर आया है कि प्रस्तावित किए गए अनेक नवाचार लोगों की निगाह में अभी तक पूरी तरह उभरकर नहीं आ पाए हैं। नई पाठ्यचर्या की इस रूपरेखा में पहली बार प्राथमिक कक्षाओं की शिक्षा में पहले 2 वर्षों में निर्मित की जाने वाली नींव की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। इन 2 वर्षों में बच्चों का औपचारिक शिक्षा से पहला परिचय होता है और वे आगे की औपचारिक शिक्षा के लिए पूरी तरह तैयार होते हैं तथा आगे चल कर व्यवस्थित ढंग से अध्ययन कर सकते हैं और सीख सकते हैं।

नई पाठ्यचर्या में कक्षा एक और दो में भाषा का ज्ञान और गणित शिक्षण को अध्ययन के दो क्षेत्रों के रूप में प्रस्तावित किया गया है। इसके अतिरिक्त जो भी सीखने, गतिविधियों में अपनाए जाने, क्षमताएं बढ़ाने, चरितार्थ कराने और समझने के लिए इन कक्षाओं के लिए उपयुक्त होगा वह स्वस्थ और उत्पादक जीवन की कला के रूप में रखा गया है। अपेक्षा यह है कि इनका बच्चे के समग्र व्यक्तित्व के विकास में योगदान हो। सारे कार्यकलाप बच्चों को लक्ष्य ही निर्धारित किये जाएंगे और केवल वही कार्यकलाप लिये जाएंगे जो बालक या बालिका की उम्र और विकास-स्तर के अनुरूप होंगे।

जीना अपने आप में एक कला है और उसके लिए बच्चे को प्रारंभ से ही तैयार किया जाना चाहिए ताकि वह केवल कौशल या योग्यता प्राप्त कर के ही न रह जाए बल्कि यह सब उनके स्वभाव का एक अभिन्न अंग भी बन सके। जीवन यदि एक कला है तो उसका उद्देश्य स्वस्थ, उत्पादक तथा रचनात्मक व श्रेष्ठ जीवन ही हो सकता है। 'उत्पादक' शब्द को भी व्यापक अर्थ में देखा जाना चाहिए। यहां रचनात्मकता की ओर विशेष ध्यान देना होगा और यह प्रयत्न करना होगा कि बच्चे जीवन के लिए उपयुक्त, रचनात्मक तथा योग्य क्षमताएं विकसित कर सकें। यही क्षमता आगे चलकर उन्हें कुछ कर सकने, बन सकने और रच सकने के योग्य बनाएगा।

स्वास्थ्य संबंधी गतिविधियों का स्थान भी बच्चों की शिक्षा में अत्यंत महत्वपूर्ण रहेगा और प्रयत्न किया जाएगा कि इसके लिए आवश्यक दक्षता, दृष्टिकोण और आदतें बच्चे न केवल अर्जित करें वरन् उन्हें अंतर्निहित भी कर सकें।

उन्हें संगीत, नाटक, चित्र-कला, मिट्टी के खिलौने, मूर्तियां इत्यादि बनाने के अनुभव से युक्त होने के अवसर भी देने होंगे। प्रयत्न यह होगा कि वे हाथ से काम करने में किसी भी प्रकार की झिझक से मुक्त रहें। कला और कौशल के इन साधनों को अपनाएं और हाथों से कार्य करना पसन्द करें। कई बार यह भी देखा गया है कि बच्चे की कार्य करने की नैसर्गिक प्रवृत्ति को स्कूलों में हतोत्साहित कर दिया जाता है। बच्चों में जिज्ञासा, कल्पना और कौतूहल का भाव पैदा करना उनकी सुसुप्त प्रतिभाओं को उनके ही द्वारा उजागर किया जाना और उन्हें पुष्ट

करने का अवसर देना इन वर्षों में बहुत ही प्रभावशाली भूमिका निभाता रहा है और इस दिशा में स्कूल महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। सबसे महत्वपूर्ण कार्य होगा बच्चे के अनुभवों को समेकित कर के समन्वित तरीके से नये अनुभवों तक ले जाया जाना और इसके लिए जिन सम्बलों, स्रोतों और साधनों की आवश्यकता हो वे स्थानीय संसाधनों का उपयोग करते हुए प्राप्त की जाएं। सीखने और सिखाने की सम्पूर्णता तभी सार्थक होगी जब स्कूल, बालक, परिवार और समुदाय समन्वित रूप से बच्चों और स्कूलों के विकास के लिए अपनी जिम्मेदारी महसूस करेंगे।

कक्षा एक और दो के लिए इस बार पाठ्यक्रम में एक और अत्यंत महत्वपूर्ण बात कही गई है कि मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा और गणित का पूरा अध्ययन बच्चों के पर्यावरण अध्ययन से जुड़ा हो। पर्यावरण-अध्ययन कक्षा एक और दो में अलग विषय नहीं होगा अपितु भाषा और गणित के पूरे अध्ययन और अध्यापन में यह विषय लगातार आधार की तरह विद्यमान रहेगा। इन दो वर्षों में अपने पर्यावरण से बच्चों का जो प्रारंभिक परिचय होगा उसे आधार मानते हुए इसमें कक्षा तीन से कक्षा पांच तक मातृभाषा तथा गणित से जोड़े रखने के साथ-साथ पर्यावरण के विशेष क्रमिक अध्ययन के लिए भी अलग प्रावधान होगा।

इस तरह इन कक्षाओं में भाषा, गणित तथा पर्यावरण अध्ययन के साथ स्वस्थ और उत्पादक जीवन की कला को भी रखा गया है। अपेक्षा की जाती है कि कक्षा पांच का अध्ययन पूरा करने तक बच्चे यह जान सकेंगे कि किस प्रकार शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ रहकर वे स्वयं को रचनात्मक, सृजनात्मक, विकासोन्मुख और क्रियात्मक कार्य में लगाकर जीवन में 'अनुभव' का आनन्द उठा सकते हैं और जो सुख और आनन्द सीखने में प्राप्त होता है उसे स्वयं अपने कार्यकलापों से पा सकते हैं।

कोई भी व्यक्ति किसी भी स्तर पर जब कोई रचनात्मक कार्य करता है, सृजनात्मकता की अनुभूति कर लेता है और उत्पादकता को सही अर्थों में अनुभव कर लेता तो वह अपने भीतर एक विशेष सौंदर्य-दृष्टि भी विकसित कर लेता है। जब कोई व्यक्ति मिट्टी, रंग, लोहा, पेन्सिल अथवा कलम और स्वयं शब्द आदि से कुछ बनाना चाहता है तो सर्वप्रथम वह अपने उस माध्यम से आत्मीय सम्बन्ध बनाता है। बच्चे अपने समीप के पेड़-पौधों व जानवरों से जुड़कर जिस प्रकार आत्मीयता अनुभव करने लगते हैं उसी तरह वह धीरे-धीरे मिट्टी, पत्तल, रंगों इत्यादि से भी अपने सम्बन्ध बना लेते हैं। जीवन में सहजता का अर्थ यही है। दुर्भाग्य से जाने-अनजाने हम बच्चों को उन नैसर्गिक परिवर्तनों से दूर करने का प्रयास करते रहते हैं। शिक्षाविद् यह स्पष्ट रूप से मानते हैं कि बच्चे के सम्पूर्ण विकास के लिए उस का स्वयं कुछ करके देखना, बनाना, किसी बड़े कार्य में अपनी भूमिका तय करना और उसका क्रियान्वयन करना इत्यादि ऐसे अनुभव हैं जो उसकी सौन्दर्य दृष्टि को व्यापक और

गहरा बनाते हैं। साथ ही उस के मन के अंदर और अधिक अच्छा करने की प्रेरणा भी जागृत करते हैं। एन.सी.ई.आर.टी. ने कक्षा एक और दो के पाठ्यक्रम को इन विचारों तथा शोध-अध्ययनों को ध्यान में रखकर ही देश के सामने रखा है। पिछले दो दशकों से बच्चों पर पढ़ाई का बोझ अपने आप में अलग से एक चर्चा का विषय रहा है। 1992 में प्रोफेसर यशपाल की अध्यक्षता में बनी एक समिति ने इस विषय पर अपना एक प्रतिवेदन देश के सामने रखा था। बच्चे पर बस्ते का बोझ आज भी कम नहीं हुआ है। परन्तु इसे कम करने के लिए हर संभव प्रयास होने चाहिए। साथ ही बच्चों को अपने सम्पूर्ण विकास का अवसर भी मिलना चाहिए और उनके सीखने की आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी नहीं आनी चाहिए।

छोटे बच्चों की शिक्षा में स्वास्थ्य, कला और जीवन-अनुभव निश्चित रूप से सदा से महत्वपूर्ण माने जाते रहे हैं। इसलिए नई पाठ्यचर्या में जो कुछ कहा गया है उसमें इन सब को आपस में जोड़कर बच्चों के सामने रखने की संस्तुति शामिल है। दूसरे शब्दों में, यदि इन विषयों को अलग-अलग करके देखा जाएगा तो सीखने वाले उस सम्पूर्ण दृष्टि-बोध से वंचित रह जाएंगे जिस की अपेक्षा हम सब को है। मानव मूल्यों की बात इसमें स्वतः ही आ जाएगी ओर धीरे-धीरे बच्चे उसे न केवल समझेंगे वरन अंतर्निहित भी कर सकेंगे। एक उदाहरण से सब परिचित हैं जैसे सामूहिक रूप से पी.टी. करना। यहां आ कर बच्चे केवल एक गतिविधि कर रहे हों ऐसा नहीं है। गतिविधि तो पूरी प्रक्रिया का एक भाग है। अध्यापक को देखना होता है कि बच्चे स्वच्छता और सफाई से उपस्थित हैं, एक पंक्ति में ठीक खड़े हो पाते हैं या नहीं। जब उन्हें आदेश मिलता है तो क्या वे अपने हाथ या पैर का संचालन सब के साथ कर पाते हैं या नहीं। अध्यापक को यह भी देखना होगा कि बच्चे इस सारी प्रक्रिया में मन से प्रसन्न होकर भाग ले रहे हैं और आनन्दित हो रहे हैं। सामूहिक पी.टी. की क्रिया केवल शारीरिक क्रिया न होकर स्वच्छता, एकाग्रता तथा आदेश पालन, सुंदरता, समग्रता और रचनात्मक आनन्द की क्रिया के रूप में यदि देखी जाए और उसे इसी सम्पूर्णता से सम्पन्न कराया जाए तो निश्चित रूप से बच्चे आनंदित होंगे और शिक्षा का एक बड़ा उद्देश्य अपने आप में प्राप्त किया जा सकेगा। वर्षों से यह कहा जा रहा है कि शिक्षा का मूल आधार आनन्द तथा क्रियाकलाप और गतिविधियां ही होनी चाहिए। बच्चों की मूल प्रवृत्ति सृजनात्मक होती है। वे हर जगह चित्र बनाना चाहते हैं। कुछ न कुछ लिखना चाहते हैं, कोई आकार बनाना चाहते हैं, कहानी सुनना और सुनाना चाहते हैं और उसमें असीम आनन्द प्राप्त करते हैं। इन विधियों का उपयोग करके जो शिक्षा दी जाएगी उसे बच्चे न केवल ग्रहण कर लेंगे बल्कि आसानी से अपने विकास में उतार लेंगे।

एन.सी.ई.आर.टी. का स्पष्ट मत है कि बच्चों की शिक्षा का माध्यम उनकी मातृभाषा ही होनी चाहिए। जहां पर मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषा में अन्तर है वहां

भी मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषा के बीच में जुड़ाव पैदा करके ही बच्चों के विकास में सहायता की जा सकती है। वर्तमान में हमारी सारी शिक्षा व्यवस्था परीक्षा और अंकों के चारों ओर घूमती है। माता-पिता प्रारंभ से ही बच्चे के अंक देखना प्रारंभ कर देते हैं और चाहते हैं कि उनके बच्चे के अंक बाकी बच्चों से अधिक हों। स्वस्थ और उत्पादक जीवन की कला के अंतर्गत सामूहिक भागीदारी महत्वपूर्ण होगी और इसमें साथ-साथ मिलकर काम करने की क्षमताओं और समझ का विकास स्पष्ट रूप से बच्चे के आगे बढ़ने में सहायक होगा। सामूहिक उपलब्धि और गतिविधियां इस स्तर पर अधिक से अधिक होनी चाहिए और बच्चों को यह सीखने को प्रेरित करना चाहिए कि किस प्रकार सामूहिक उपलब्धियों में व्यक्तिगत उपलब्धियां भी शामिल रहती हैं, और सामूहिक उपलब्धियों के लिए किस प्रकार लगन और कर्मठता से प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है।

प्रारंभिक कक्षाओं के लिए शिक्षक-संदर्शिका अपने आप में एक सम्पूर्ण अध्ययन-अध्यापन सामग्री बनती है। शिक्षक पर ही पाठ्यक्रम को विकसित करने का मुख्य उत्तरदायित्व होगा और वही गतिविधियों को संचालित करवाएगा।

प्रारम्भिक कक्षाओं में नए प्रस्तावों की सफलता में सबसे महत्वपूर्ण कड़ी अध्यापक ही होंगे। उन्हें उस अन्तर को समझना है जो नई पाठ्यचर्या के माध्यम से अब प्रस्तावित है तथा जो पहले से अभी तक चला आ रहा है। उन्हें स्वयं वह दक्षतायें विकसित करनी हैं जो उनका आत्मविश्वास बढ़ाएं और जिसमें वह पाठ्यक्रम का स्वयं निर्माण कर सकें। उन्हें सहज भाव से बच्चों का सीखने-का-साथी बनना होगा। यह कहने में आसान है परन्तु कर पाना कठिन है। सहजता को जीवन में उतारना कर्मठता से ही संभव होता है। इस दिशा में विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता होगी। शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं का उत्तरदायित्व भी बढ़ेगा और उसके स्वरूप में परिवर्तन करना होगा। ये सारे प्रयत्न ही स्कूल की शिक्षा को सहजता की ओर ले जा सकेंगे। □□

11

परीक्षा प्रणाली का परीक्षण

स्कूल की परीक्षाओं के परिणाम मई और जून के महीनों में प्रतिवर्ष चर्चा का विषय बनते हैं। सभी का ध्यान कक्षा 10 तथा 12 की बोर्ड परीक्षाओं पर ही केंद्रित होता है। स्कूल, माता-पिता तथा विद्यार्थी सभी की निगाह कुल प्राप्तांकों तथा उसके प्रतिशत पर टिकी होती हैं। इन महीनों में कितने ही घरों में खुशियां आती हैं। किन्तु यह संख्या सीमित होती है। लाखों घरों में यह परीक्षा-परिणाम उदासी, मायूसी और निराशा लेकर पहुंचते हैं। बोर्ड परीक्षाओं में बैठने वाले लगभग 50 प्रतिशत विद्यार्थी फेल या असफल घोषित हो जाते हैं। अपमान और नैराश्य के साथ वह अपना परित्यक्त सा जीवन व्यतीत करने को बाध्य हो जाते हैं। जो सफल होते हैं उनमें से भी अधिकांश विद्यार्थी और परिवार दुखी और निराश हो जाते हैं क्योंकि अपेक्षित और आवश्यक 'प्राप्तांक' न मिलने पर आगे के सारे रास्ते बन्द हो जाते हैं! इस सारे चक्र का एक अत्यन्त दुखद पक्ष है बच्चों द्वारा प्रति वर्ष बढ़ रही आत्महत्या की लोमहर्षक घटनाएं। जो प्रणाली एक भी 15-16 वर्ष के बच्चे को आत्महत्या तक पहुंचा दे, उस प्रणाली का विकल्प ढूंढना क्या सारे राष्ट्र का कर्त्तव्य नहीं है? क्या हम इस उत्तरदायित्व के प्रति सजग हैं? एक अनुमान के अनुसार विश्व में आत्महत्या करने वाले 10 लाख लोगों में एक लाख भारत से होते हैं। अकेले तमिलनाडु में प्रतिवर्ष 11 हजार लोग आत्महत्या करते हैं जिसमें पांच हजार विद्यार्थी होते हैं। परीक्षा में असफल होने पर भय, ग्लानि, निराशा, अकेलापन, प्रताड़ना इन विद्यार्थियों को आत्महत्या करने पर विवश कर देते हैं। यह संख्या बढ़ रही है और उसके कारक भी परिणाम में लगातार बढ़ रहे हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा नीतियां जो 1968, 1986 एवं 1992 में बनीं, इस समस्या के प्रति सचेत रही हैं। इन नीतियों में परीक्षा प्रणाली में सुधार के लिए अनेकानेक संस्तुतियां की गई हैं। देशभर के शिक्षा बोर्डों ने विभिन्न उपाय भी किए हैं। ऐसे विकल्प या सुधार जो बच्चों के मन से परीक्षा के भय को कम कर सकें और उनके मानसिक सन्ताप को समाप्त कर पाएं, अभी भी व्यावहारिक रूप में सामने नहीं आये हैं। हमारी सारी शिक्षा प्रणाली केवल परीक्षा-आधारित हो गई है। परिणामस्वरूप

वही पढ़ाया जाता है और वही पढ़ा जाता है जिस पर बोर्ड की परीक्षा में प्रश्न सम्भावित हों तथा जो अधिक अंक और अधिक प्रतिशत दिला सकें। व्यक्ति के सम्पूर्ण एवं सर्वांगीण विकास की अपेक्षायें आज की शिक्षा प्रणाली में परीक्षा के सामने लगभग भुला दी गई हैं। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि परीक्षा सुधार पर राष्ट्रीय सहमति है। सभी चाहते हैं कि सुधार हो, परन्तु क्या सुधारा जाय और कैसे सुधारा जाए, इस पर, परिदृश्य पूर्ण रूप से अधिकांश लोगों को स्पष्ट नहीं है। परिणामस्वरूप, जो भी विकल्प सुझाये जाते हैं उन्हें लोग उत्साहपूर्वक स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं। समाज का एक बड़ा वर्ग परिवर्तन के प्रति उदासीन है। परीक्षा प्रणाली की अन्तर्निहित बारीकियों को भी सही ढंग से नहीं समझा जाता है।

परिवर्तन के उपायों के असफल होने में कुछ सीमा तक निहित स्वार्थ भी काम करते हैं। इस व्यवस्था से जुड़े अधिकारी और कर्मचारी इसी व्यवस्था को चलाये रखना चाहते हैं। वह संस्थायें और व्यवस्थायें जो परिवर्तन के लिए सही दबाव डाल सकती थीं, पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ ऐसा कर नहीं पाई हैं। शिक्षक, माता-पिता, विद्यार्थी तथा संस्थायें वर्तमान व्यवस्था के प्रति असंतोष और अनास्था व्यक्त करते हैं परन्तु किसी भी आधारभूत परिवर्तन के प्रस्ताव पर बहुधा पीछे हट जाते हैं। सबसे बड़ी बाधा 'डिग्रियों' और प्रमाणपत्रों का नौकरी से जुड़ जाना है!

आखिर वर्तमान व्यवस्था में कमियां क्या हैं और क्यों एक ऐसी स्थिति निर्मित हुई है जिसे कोई नहीं चाहता है, परन्तु जो किसी के द्वारा न बदली जा पा रही है और न परिवर्तित की जा सकी है। सबसे बड़ी कमी है कि यह केवल बच्चों को जानकारियों या ज्ञानात्मक पक्ष पर ही पूरा जोर देने वाली प्रणाली है। वर्तमान प्रणाली इस सीमित क्षेत्र में भी सतत् रूप से मूल्यांकन करने में सक्षम नहीं है। अतः मूल्यांकन का वह प्रमुख उद्देश्य, कि विद्यार्थी को उसकी कमियों का पता चले और उन्हें पूरा करने का अवसर तथा सुविधा मिले, भी पूरा नहीं हो पाता है। केवल अंक देकर मूल्यांकन कर सकने की मानवीय स्तर पर भी अपनी सीमायें हैं।

कोई भी अध्यापक कभी भी यह नहीं कह सकता है कि 90 प्रतिशत अंक प्राप्त करने वाला विद्यार्थी 85 प्रतिशत अंक प्राप्त करने वाले से निश्चित रूप से श्रेष्ठ होगा। हो सकता हैं कि कोई अन्य अध्यापक इन विद्यार्थियों को क्रमशः 85 तथा 90 अंक दे दे। विभिन्न विषयों के अंक निर्धारण में न कोई समानता होती है न लाई जा सकती है, परन्तु इस पद्धति में सभी विषयों के अंकों को जोड़कर परीक्षार्थियों में अंतर किया जाता है। यह प्रणाली निश्चित ही वास्तविक योग्यता का सही मापदण्ड नहीं होती है।

परीक्षा और परीक्षण शिक्षा व्यवस्था के आवश्यक अंग बन गये हैं। नालन्दा एवं तक्षशिला में प्रवेश का अधिकार केवल उन्हें होता था जो द्वार-पण्डित द्वारा ली गई परीक्षा में सफल होते थे। आज जब औपचारिक शिक्षा व्यवस्था का क्षेत्र तथा

सम्बद्ध संस्थाओं की संख्या बढ़ी है, वहीं इसका स्वरूप बदलने की आवश्यकता भी तेजी से उभर कर आई है। सुधारों का उद्देश्य परीक्षा व्यवस्था द्वारा शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाना होना चाहिए। शैक्षिक दृष्टि से इन सुधारों का औचित्य समझा जा सकता है परन्तु इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे सुधारों का सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक महत्व भी कम नहीं है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पहली बार विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49) ने परीक्षाओं की समस्या को चिरकालिक बताया और इस तथ्य पर चिन्ता व्यक्त की कि यह शिक्षा प्रक्रिया का सहज अंग नहीं है। मुदालियर आयोग (1951-54) ने सतत् और व्यापक मूल्यांकन पर जोर दिया। इस आयोग ने आंतरिक मूल्यांकन की आवश्यकता को भी प्रतिपादित किया। सबसे व्यापक समीक्षा 1964-1966 के शिक्षा आयोग ने की। आयोग का सुझाव था कि परीक्षा का उद्देश्य कमियों का निदान करना होना चाहिये तथा विद्यालयों में सतत् मूल्यांकन प्रारम्भ किया जाना चाहिये। 1981 में श्री ए.ई.टी. बैरी की अध्यक्षता वाली समिति ने बोर्ड परीक्षाओं में पांच अंकीय ग्रेड प्रणाली लागू करने की अनुशंसा की और यह भी कहा कि उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण होने का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 तथा 1992 की कार्यवाही सम्बन्धी कार्यक्रम में भी यह बात दोहराई गई।

हमारी यह परीक्षा प्रणाली हमारे विदेशी शासकों की देन है। कितने ही दशकों पहले ब्रिटेन 'ग्रेड' प्रणाली अपना चुका है। ज्ञान और कौशल के पक्षों का मूल्यांकन 'ग्रेड' प्रणाली से होता है। बाकी पक्ष जैसे जीवन के प्रति दृष्टिकोण तथा मानव मूल्यों की समझ और उसका पालन इत्यादि स्कूल में सतत् रूप से परखे जाते हैं और उनका मूल्यांकन वहीं पर होता है। इस समय वहां 6 अंक वाली ग्रेडिंग व्यवस्था है। आखिरी 'ग्रेड' पाने वाले असफल माने जाते हैं। अमेरिका के राज्यों की अपनी अलग व्यवस्था है परन्तु वहां 'सेमिस्टर' पद्धति तथा 'क्रेडिट' पद्धति लगभग सभी ने अपनाई है। 'ग्रेड' स्कूल स्तर पर भी दिए जाते हैं तथा राज्य स्तर पर भी निर्धारित होते है। स्विटजरलैण्ड में 11 अंकीय पैमाना प्रयोग में है। स्कूल ही 'ग्रेड' निर्धारण करता है और प्रमाणपत्र देता है। चीन में बीजिंग के प्राइमरी स्कूल में 4 अंकीय 'ग्रेडिंग' प्रणाली लागू की गई है। आस्ट्रेलिया में बाह्य परीक्षायें 'ओ-लेवल' (दस वर्ष स्कूल के बाद) तथा 'ए-लेवल' (बारह वर्ष स्कूल के बाद) आयोजित होती हैं। यहां सफल के लिए 5 अंकीय 'ग्रेडिंग' व्यवस्था तथा असफल के लिए दो अलग 'ग्रेड' होते हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि शैक्षिक गुणवत्ता के प्रति जागरूक सभी देश 'ग्रेडिंग' व्यवस्था को स्वीकार कर चुके हैं और उसका व्यावहारिक उपयोग कर रहे हैं। पास-फेल की व्यवस्था वर्तमान में या तो समाप्त हो चुकी है या अपनी अन्तिम सांसें गिन रही है।

शिक्षा नीतियों के स्कूल स्तर पर क्रियान्वयन में एन.सी.ई.आर.टी. की अपनी

एक विशिष्ट भूमिका है। 1975, 1988 तथा 2000 में इस संस्था ने राष्ट्रीय स्तर पर विचार-विमर्श के बाद पाठ्यक्रम की रूपरेखा देश के सामने रखी। 1975 तथा 1988 में सभी कक्षाओं का विस्तृत पाठ्यक्रम वनाया गया तथा पुस्तकें लिखी गईं। यह प्रक्रिया 2000 में प्रकाशित पाठ्यक्रम की रूपरेखा के बाद भी प्रारंभ की गई है। इस रूपरेखा में मूल्यांकन के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से सुझाव दिए गये हैं। इन के आधार में 1992 की शिक्षा नीति के बाद बने प्रोग्राम आफ एक्शन में निहित एक शक्तिशाली अनुशंसा है 'बाह्य परीक्षाओं के प्रभाव को कम किया जाना चाहिये'। 21वीं सदी में मूल्यांकन की कुछ स्पष्ट विशेषतायें होनी चाहिये, ऐसा अनुभव आवश्यकताओं और सुझावों के संदर्भ में सामने आया है।

मूल्यांकन की प्रकृति मानवीय होनी चाहिए तभी वह प्रत्येक विद्यार्थी को एक सामाजिक इकाई के रूप में विकसित होने में सहायक हो सकेगा। तभी वह नई पीढ़ी को अनावश्यक प्रताड़ना, पीड़ा, चिंता, भय तथा अपमान से बचा सकेगा। यह सार्वभौमिक रूप में माना जाता है कि सबसे अच्छा और सही मूल्यांकन वही अध्यापक कर सकते हैं जो छात्रों को पढ़ाते हैं, उन्हें जानते हैं, उनकी सीखने की आवश्यकताओं को जानते हैं और जो उनके स्वस्थ गुणों और वांछित मनोवृत्तियों के विकास के प्रत्यक्षदर्शी होते हैं। वही उनकी योग्यता तथा उपलब्धियों का विश्वसनीय एवं वैध मापन उपलब्ध करा सकते हैं। सतत् होने वाला मूल्यांकन छात्रों की पृष्ठभूमि और पूर्व-अनुभवों का ध्यान रखेगा और इसके लिए यह आवश्यक होगा कि यह अध्ययन तथा अध्यापन की प्रक्रिया का निहित अंग बने।

अंक देने की प्रणाली पीढ़ियों से चली आ रही है। ग्रेड देने की प्रणाली लाने के पहले पालकों के सामने हमें इसकी स्पष्ट रूपरेखा रखनी होगी। मूल्यांकन प्रक्रिया में पारदर्शिता सुनिश्चित करते हुए प्रयत्न करना होगा कि यह हर व्यक्ति की समझ में आये और उनका विश्वास तथा आस्था हासिल कर सके। इस समय जो सूचना प्रौद्यौगिकी की सम्भावनायें एवं उपयोग सामने आये हैं वह स्पष्ट संदेश देते हैं कि ऐसा करना सम्भव ही नहीं आवश्यक भी है।

एन.सी.ई.आर.टी. के नए प्रस्ताव में जो पूर्व निर्धारित शिक्षा नीतियों की संस्तुतियों के अन्तर्गत ही किए गये हैं, कुछ बिन्दु स्पष्ट रूप से उभरकर आये हैं 'ग्रेडिंग की प्रणाली' अपनाई जाय, विद्यालय आधारित मूल्यांकन को महत्व दिया जाय, बाह्य परीक्षाओं पर जोर कम किया जाय तथा 'पास-फेल' घोषित करने की प्रथा बन्द की जाय। शैक्षिक विषयों तथा सह-शैक्षिक विषयों को बराबर का महत्व देते हुए विकासवर्धक तथा व्यापक दोनों ही प्रकार के मूल्यांकन पर जोर दिया जाय। विभिन्न विषयों में प्रवीणता प्राप्त करने पर आधारित प्रणाली में कमजोर छात्रों के लिए निदानात्मक और उपाचारात्मक शिक्षण तथा कुशाग्र छात्रों के लिए विशिष्ट प्रयास तथा प्रावधान करने की आवश्यकता को मूर्त रूप देना होगा। विशेष आवश्यकताओं

वाले छात्रों के लिए वैकल्पिक मूल्यांकन प्रक्रिया अपनानी होगी। माध्यमिक स्तर पर 'सेमिस्टर-प्रणाली' और उच्चतर माध्यमिक स्तर पर 'क्रेडिट' सहित 'सेमिस्टर-प्रणाली' लागू करने की संस्तुति भी की गई है। स्कूल शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर विभिन्न विषय-क्षेत्रों में समयबद्ध उपलब्धि सर्वेक्षण कराने की आवश्यकता को जोर देकर उभारा गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 तथा कार्ययोजना 1992 में संकल्पना की गई थी कि स्वैच्छिक आधार पर राष्ट्रव्यापी टेस्ट के लिए 'राष्ट्रीय मूल्यांकन संगठन' का गठन किया जायेगा ताकि विद्यार्थियों की योग्यता निर्धारण की तुलनीयता के मापदण्ड विकसित किए जा सकें। ऐसी व्यवस्था अनेक देशों में है और अत्यन्त कारगर सिद्ध हुई है।

इस समय देश में माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के लिए चौंतीस बोर्ड हैं जो सार्वजनिक परीक्षाओं का संचालन करते हैं। परीक्षाओं के स्तर के सम्बन्ध में इन शिक्षा बोर्डों में कई मानदण्डों पर भिन्नता है। इसे जांचने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर कोई राष्ट्रीय मानक उपलब्ध नहीं हैं। इन परीक्षाओं से गुजरने के बाद छात्रों को चिकित्सा, इंजीनियरिंग, मैनेजमेंट इत्यादि में प्रवेश के लिए अनेकानेक अन्य परीक्षाओं से भी गुजरना पड़ता है। इस सबसे अनेक प्रकार के तनाव, समस्यायें पैदा होती हैं जिनसे सभी परिचित हैं।

परीक्षा प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन, 'ग्रेडिंग' का लागू होना तथा पास-फेल को समाप्त करना निश्चित रूप से ऐसी संस्तुतियां हैं जो स्कूल शिक्षा का स्वरूप बदल सकती हैं और भावी पीढ़ी को अनेक कठिनाइयों से मुक्त कर सकती हैं। आवश्यकता इसकी है कि इसके क्रियान्वयन में संबंधित संस्थायें सभी को साथ लेकर चलें और एक वस्तुनिष्ठता-परक दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ें। □□

12

शिक्षा में परिवर्तन के आधार

प्रत्येक पीढ़ी का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व होता है कि वह अपने से पहले की पीढ़ियों के द्वारा अर्जित ज्ञान, विवेक, संस्कृति और पुरुषार्थ को जाने, समझे और आत्मसात करे। प्रत्येक पीढ़ी सदा ही भविष्य के लिए अपने आदर्श निश्चित करती है और उन्हें प्राप्त करने के लिए अपनी रणनीति बनाती है। सबसे बड़ा उद्देश्य यह होता है कि मनुष्य के जीवन की गुणवत्ता को बढ़ाया जाए तथा ज्ञानार्जन और उससे जुड़े सभी क्षेत्रों में प्रगति का रास्ता अपनाया जाए। यहां पर यह कहना आवश्यक है कि शिक्षा के लक्ष्य जो विश्व के अन्य देशों में निर्धारित किये जाते हैं, देश में भी नियत होने चाहिए। आज के समय में यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक समाज और राष्ट्र दूसरे समाजों व राष्ट्रों से लगातार संपर्क में रहे और जो कुछ उसे उपयोगी लगे उसे सीखता रहे और जहां उचित हो उसे अपनाता भी रहे। सारे विश्व में गणित, विज्ञान, चिकित्सा, व्यापार के क्षेत्र में जो-जो प्रगति होती है उस का लाभ केवल उस देश को ही नहीं मिलता जहां पर यह समझ बढ़ती है या पनपती है, ये उपलब्धियां सभी की धरोहर बन जाती हैं। जो भी नए ज्ञान और कौशल सीखे जाते हैं उनमें भी सुधार करने की आवश्यकता को पहचानना एक प्रगतिशील चिंतन का उदाहरण होती है।

भारतवर्ष में पिछली कई पीढ़ियों से जो शिक्षा व्यवस्था प्रचलित है उसकी जड़ें उस वृक्ष की जड़ें हैं जिसे एक दूसरी जलवायु तथा बाहरी प्रदेश से लेकर भारत में रोपा गया था। अतः हम अपने बच्चों को जो ज्ञान, अनुभव व कौशल दे रहे हैं वह मुख्यतः पश्चिम की ज्ञानार्जन की परंपरा के विकास, प्रसार और उपलब्धियों को समझने पर जोर देती हैं। ऐसा नहीं है कि भारतीय चिंतकों, विचारकों और राजनेताओं ने इस संदर्भ में सही मूल्यों को नहीं समझा। गांधी जी ने शिक्षा के महत्व को जाना था और 1931 में लंदन में दिए गए अपने एक वक्तव्य में कहा भी था कि स्वतंत्र भारत में वह हर गांव में लड़के और लड़कियों के लिए स्कूल खोलेंगे जिसके संचालन, गुणवत्ता, विकास और प्रगति का उत्तरदायित्व समाज के लोगों पर होगा। उन्हें ही उसे व्यवस्थित करने और सुधारने का अधिकार भी होगा।

बेसिक एजुकेशन प्रणाली की परिकल्पना, उसकी सारी अवधारणा अब तक भारत की जड़ों से शिक्षा को जोड़ भी देती, परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तत्कालीन नीति निर्धारकों ने सम्भवतः इस उद्देश्य को अपेक्षित गंभीरता से नहीं लिया। आज की शिक्षा की परिस्थितियों को समझने के लिए यह एक आवश्यक बिंदु है। इसी के साथ यह भी मानना होगा कि शिक्षा के क्षेत्र में पिछले 5 दशकों में कई सराहनीय प्रयास भी नीतियों और योजनाओं के माध्यम से किए गए। इसमें 1968 की शिक्षा नीति में गणित तथा विज्ञान को कक्षा 10 तक लड़के और लड़कियों के लिए आवश्यक करना, पर्यावरण शिक्षा का महत्व सिखाना, अध्यापक-प्रशिक्षण में गुणवत्ता लाना, भाषा सुधार, कार्य अनुभव और व्यावसायिक शिक्षा के महत्व को समझना इत्यादि अत्यंत महत्वपूर्ण लक्ष्य रहे हैं। 1968 के बाद स्कूल शिक्षा का जो पाठ्यक्रम केंद्रीय स्तर पर बना और जो राज्यों ने बनाया वह अपने आप में पहले की शिक्षा व्यवस्था में एक बहुत बड़ा सुधार था। यह एक अलग बात है कि कार्यान्वयन में वह किस सीमा तक उतर पाया।

किसी भी देश की शिक्षा नीति और उस नीति से बनने वाले पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें देश के संविधान में निहित प्रावधानों तथा सिद्धान्तों के अंतर्गत ही होने चाहिए और सारे चिंतन उसी के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए होने आवश्यक हैं। अतः बहुत से ऐसे बिन्दु पाठ्यक्रम में आते हैं जो हमारे संविधान में निहित हैं जैसे लिंग भेद को समाप्त करना, देश में जाति, धर्म, भाषा के आधार पर किसी भी प्रकार के लिखित या अलिखित भेद-भाव को समाप्त करना और सभी को समानता के अवसर देना इत्यादि। बहुत से लोगों को स्मरण होगा कि 50 वर्ष पहले के पाठ्यक्रम में और आज के पाठ्यक्रम में बहुत स्पष्ट अन्तर है।

किसी भी शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यक्रम के संबंध में कहा जाता है कि उसे लगातार परिवर्तित होते रहना चाहिए। इससे समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी क्योंकि शिक्षा का पाठ्यक्रम भविष्य की आकांक्षाओं के रूप में जन-साधारण द्वारा परखा जाता है, अतः उसके निर्धारण के पहले कई अन्य अवयवों पर ध्यान देना और विचार करना आवश्यक होता है।

भारत एक बहु-सांस्कृतिक और बहु-भाषिक समाज है जिसमें एकता सदा से विद्यमान है और दृढ़ता के साथ दिखाई भी देती है। विविधता भारतीय समाज का गौरवमय अंग है। भारतीय संस्कृति की जीवंतता को सारा विश्व स्वीकारता है और कई बार आश्चर्य से देखता है। इस देश में विविधता में एकता और एकता में विविधता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती है। इस आधार को लगातार और अधिक सुदृढ़ करने का उद्देश्य शिक्षा व्यवस्था में स्पष्ट रूप से बना रहना चाहिए। शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए अनवरत और गम्भीर प्रयास आवश्यक हैं। आज विज्ञान और संचार प्रौद्योगिकी में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, उनकी समझ और उनके प्रभाव की

समझ भावी नागरिकों के लिए भी आवश्यक होगी। अतः स्कूल शिक्षा में इसका अपना स्थान बनता है और इस से जुड़ती है ऐसे अध्यापकों की आवश्यकता जो इसे समझ सकें और अपने विद्यार्थियों को इस बारे में समझा सकें। तकनीकी विकास के इस क्रांतिकारी युग में सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ भी तेजी से बदल रहे हैं। 1968 की शिक्षा नीति में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि नैतिक और सामाजिक मूल्यों के विकास के प्रति जागरूकता पैदा करना शिक्षा व्यवस्था का आवश्यक उद्देश्य होना चाहिए। 1986 और 1992 की शिक्षा नीति में भी यही दोहराया गया था।

इस समय देश में सन् 2000 में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रस्तुत स्कूल शिक्षा के पाठ्यक्रम की रूपरेखा पर चर्चा हो रही है। इस रूपरेखा में कई महत्वपूर्ण बिंदु उभरकर सामने आए हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक पहलुओं के साथ-साथ शैक्षणिक क्षेत्र में जो परिवर्तन इस समय हो रहे हैं, उनको भी ध्यान में रखा गया है। इस पाठ्यचर्या के तीन आधार स्तम्भ हैं प्रासंगिकता, समानता और उत्कृष्टता। यह सही है कि शिक्षा स्वयं अपने में सभी सुधार पूर्णरूप से नहीं कर सकती परन्तु वह कोई पूर्वाग्रह और संदर्शनों, जैसे शहर और गांव, गरीब और अमीर, जाति, पंथ, विचारधारा, लिंग भेद इत्यादि से मुक्त होने के लिए आवश्यक संघर्ष के लिए लोगों को तैयार करती रही है और कर सकती है। अवसरों की समानता और यह निश्चित करना कि प्रत्येक को अच्छी शिक्षा प्राप्त हो सके, शिक्षा व्यवस्था का यह अपना उत्तरदायित्व है। यह सब कराने के लिए वे लोग जो सामाजिक भेद-भाव के शिकार हैं या जो अन्य किसी प्रकार से उन अधिकारों से वंचित हैं जो उनके मूलभूत अधिकार हैं, उन सब को भी शिक्षा अर्जन में विशेष रूप से ध्यान रखना होगा। केवल अवसर प्रदान करना काफी नहीं है। उन अवसरों का सारा लाभ भी ऐसे वर्ग विशेष के लोग उठा सकें, ऐसी व्यवस्था करना भी अभीष्ट होगा।

इक्कीसवीं शताब्दी का पाठ्यक्रम और शिक्षा की उपयोगिता तभी सार्थक होगी जब बालिकाओं की शिक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया जाएगा। उन विद्यार्थियों को जो किसी प्रकार से मानसिक तथा भौतिक रूप से वंचित या अवसर विहीन हैं और जिन की संख्या आबादी का 10 प्रतिशत है, व्यवस्था से बाहर नहीं रखे जा सकते। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए स्कूल शिक्षा के स्तर पर न केवल आवश्यक व्यवस्था करनी पड़ेगी बल्कि व्यवस्था से जुड़े सभी लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन के प्रयास भी करने पड़ेंगे। सुविधाओं से वंचित समूह के मूलभूत मानवीय अधिकारों को पूरी सतर्कता के साथ पाठ्यक्रम में समावेश करना होगा। क्योंकि कोई भी राष्ट्र अपने प्रतिभावान बच्चों की शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता को भुला नहीं सकता है।

सारा विश्व यह मानता है कि विश्व के सभी राष्ट्रों को आज साथ-साथ मिलकर

चलना है। अतः युवा पीढ़ी में साथ-साथ जीने की कला और सीखने की इच्छा का विकास होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि समाज और समुदाय के अंदर इस समय जो भी पूर्वाग्रह बचे हुए हैं उन्हें सही ढंग से सुव्यवस्था के साथ समझा जाए और उन का निराकरण किया जाए। राष्ट्रीय अस्मिता का सुदृढ़ीकरण या संवर्धन भी आज के समय में आवश्यक है। जव वैश्वीकरण इसकी जड़ों को अनेक स्थानों पर झकझोर रहा है और तकनीक के विकास के कारण सांस्कृतिक विरासत को बनाए रखना और विकसित करते रहना अब उतना आसान नहीं रह गया है जितना पहले सम्भव था। तथापि स्कूल शिक्षा के पाठ्यक्रम में वसुधैव कुटुम्बकम् और राष्ट्रीयता की प्रबल भावना को पैदा करना होगा तथा हर विद्यार्थी में जाति, धर्म, विचारधारा, क्षेत्र, भाषा, लिंग आदि से उत्पन्न होने वाली बाधाओं को समझने और सहन करने की क्षमता भी विकसित करनी होगी। मानव मूल्यों और संवैधानिक प्रावधानों को शिक्षा में मूर्त करना होगा, ताकि भारत के लोगों के सभी धर्मों से प्रारम्भिक परिचय, सौहार्द और आपसी समझ तथा आदर बढ़ाने में सहायता मिल सके। हमारे स्वतंत्रता संग्राम की लम्बी गाथा राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय पहचान को प्रशस्त करने में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है। अतः सही संदर्भ में देश की नई पीढ़ी को इसका परिचय होना ही चाहिए। इस पीढ़ी को इसका भी ज्ञान होना चाहिए कि भारत ने विश्व सभ्यता के विकास में क्या योगदान किया है, जिसे सभी देश मानते हैं। भूगर्भ विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, गणित, विज्ञान आदि सभी ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें भारतीय योगदान अत्यन्त महत्पूर्ण रहा है। यह अलग बात है कि विदेशियों ने इसको पीछे धकेलने के अनवरत प्रयास किए। इसी का परिणाम है कि आज स्कूल शिक्षा के संदर्भ में जब विश्व सभ्यता में भारत का योगदान याद किया जाता है तो कई लोग व्यग्र हो उठते हैं। योग, आयुर्वेद जैसे क्षेत्र में भारत के योगदान विश्व में हर जगह सराहे जा रहे हैं और यदि ये हमारी नई पीढ़ी को अपनी विरासत और संस्कृति में आत्मविश्वास उपन्न करने में मदद करते हैं तो उन्हें शिक्षा प्रणाली से दूर क्यों रखना चाहिए? संस्कृत के अध्ययन का महत्व भारत में ही नहीं सारे विश्व में बढ़ रहा है।

भारत में स्कूल शिक्षा व्यवस्था को गतिमान और भविष्यदर्शी बनाने में एक सशक्त तथा संपूर्ण पाठ्यक्रम का योगदान सबसे महत्वपूर्ण होगा। □□

13

शैक्षिक परिवर्तनों की आलोचना

यह परिवर्तन का समय है। हर क्षेत्र में हर प्रकार के परिवर्तन जिस तेजी से हो रहे है उनका लेखा-जोखा रखना, उन्हें समझना और उसमें जो आवश्यक, उपयोगी तथा हितकर लगे उसे आत्मसात करना हर क्षेत्र, हर सन्दर्भ तथा हर व्यक्ति के सामने एक चुनौती के रूप में विद्यमान है। परिवर्तन से चहल-पहल बढ़ती है, चर्चायें होती हैं, परिचर्चायें आयोजित होती हैं, अनुदान दिए जाते हैं। कुछ पर्चे छपते हैं, रिपोर्ट छपती है जो आगे भी अनुदान मिलने में सहायक होती हैं। परिवर्तन से शिक्षा का क्षेत्र भी अछूता नहीं रहना चाहिए और न वह रह सकता है। निश्चित है जो प्रयत्न इस दिशा में होंगे, उस पर चर्चा, संवाद, परिसंवाद, बहस इत्यादि होंगे ही और होने भी चाहिए। संवाद प्राचीन भारतीय परम्परा है। कुछ लोग इन चारों शब्दों को नापसन्द करते हैं। वे 'सेमिनार' करते हैं। वे प्रगतिशील विचारधारा वाले कहलाते हैं। उनके आयोजनों में बाकी को बाहर रखा जाता है क्योंकि वह होते हैं परम्परावादी, दकियानूसी, रूढ़िवादी ...वगैरह। उनकी सोच, उनकी समझ, उनके प्रयास इस लायक भी नहीं माने जाते कि उन्हें कम से कम पढ़ तो लिया जाय! यह विचार रखने वाले, खुद को धुरन्धर विद्वान घोषित मानने वाले कुछ एकमत और सहमत लोग देश के भविष्य से चिन्तित होकर हाल के दिनों में सेमिनार में मिले। उनके वक्तव्य वितरित किए गये। एन.सी.ई.आर.टी. से उन्हें विशेष स्नेह है। कारण कई हैं और कई प्रकार के हैं। देश के लोग इन्हें जानते हैं और समझते हैं। आखिर यह वही वर्ग हैं जो पिछले चार दशकों से अपनी संस्थायें, अपने लोग और अपने विचार के सिद्धान्त पर कार्य करते रहे हैं। अब ये वहां नहीं हैं। अतः उनकी निराशायें, कुंठायें, और आशंकायें बौखलाहट का रूप ले रही हैं। ये समाज के लिए चिन्तित हैं, देश के भविष्य के लिए चिन्तित हैं। भारतीय संविधान को इनके अलावा और कोई कैसे समझ सकेगा, ये इस चिंता से व्यग्र हैं और फिर से यह सब अपने एकाधिकार में लेने को व्याकुल हैं। इतिहास की समझ और उस पर पुस्तकें लिखने की क्षमता तो केवल इन्हीं में है और कोई अन्य यह कार्य भला कैसे कर सकता है। उन्होंने घोषणा कर दी है कि नई पुस्तकें तृतीय श्रेणी की हैं, देश के लिए घातक हैं, इत्यादि।

यद्यपि वास्तविकता यह है कि कोई नई पुस्तक अभी लिखी ही नहीं गई है। जिस पर भी उन सब का मूल्यांकन इन्होंने पहले ही कर दिया है! करामाती व क्षमतावान हैं ये विद्वान! इनका कहना है कि जो कुछ आज हो रहा है, नीतियों के विरुद्ध है। सहमत वर्ग जोर-शोर से कहता है कि 9 राज्यों के सत्तापक्ष का समर्थन उन्हें प्राप्त है। वैसे 28 में से 9 घटाये जायें तो शेष क्या बचता है, कक्षा 2 का गणित का विद्यार्थी उत्तर दे देगा।

असहमत नहीं, मैं भी सहमत हूं, कि यह प्रश्न गणित का नहीं है। प्रश्न स्कूल शिक्षा का है, समाज के भविष्य का है। आज सारा विश्व यह मानता है कि शिक्षा को अपनी जड़ों से ही जुड़ा होना होगा। यूनेस्को द्वारा गठित 'डेलौर्स आयोग' ने 1996 में 21वीं सदी में शिक्षा कैसी हो का उत्तर देते हुये कहा था कि वह 'रूटेड टु कल्चर, कमिटेड टु प्रोग्रेस', अर्थात् अपनी संस्कृति से जुड़ी तथा विकास के लिए प्रतिबद्ध हो। इस देश में कुछ स्वनामधन्य विद्वान संस्कृति का नाम लेने से विचलित हो जाते हैं। अपने गढ़े हुए शब्दों तथा अपनी राजनैतिक जड़ों से बंधकर पुरानी पड़ गई आलोचना की लीक पीटने लगते हैं। इसके अतिरिक्त, उन्हें लगता है कि कोई अन्य उनकी तुलना में भारत के सन्दर्भ में संस्कृति को समझता ही नहीं है। गुरुदेव रविन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था 'भारत महामानव-सागर है। इसमें कितनी ही धाराओं का जल कितनी ही सदियों से समाहित होकर निर्मलता से अविरल प्रवाहित हो रहा है।' जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं उसमें समन्वय की प्रक्रिया सदियों से चल रही है। सांस्कृतिक समन्वय और सामाजिक समन्वय की विशालता और प्रगाढ़ता की ऐसी मिसाल भारत के अलावा और कहीं पर दृष्टिगोचर नहीं होती है।

इसके तत्व और धारायें अपनी पहचान बनाकर रख सकी हैं और अपने आप में 'कोहेशन' का अनूठा उदाहरण भी बनी हैं। कुछ इनेगिने लोगों को छोड़कर भारत का हर नागरिक इसको समझता है और जीता है, क्योंकि वह इसे अन्तर्मन से पहचानता है, अपना मानता है और सराहता है। काश ये आतंकित, भयभीत तथा व्यथित बुद्धिजीवी भी इसे समझ पाते और उस भारतीय नागरिक पर भी विश्वास कर पाते जो भले ही 65% साक्षर लोगों में से न हों परन्तु शत-प्रतिशत शिक्षित भारतीयों में शामिल हैं!

गजानन माधव मुक्तिबोध ने अपनी पुस्तक 'भारत : इतिहास और संस्कृति' में भारतीय समाज की विकास यात्रा को बहुत दिलचस्प बताया है। इसमें कितने ही उलटफेर हुए हैं। कितनी ही जातियां आईं और विलीन हो गईं। किस प्रकार उन्होंने एक दूसरे को प्रभावित किया और फिर एक होकर आगे बढ़ीं। यह बड़ी रोचक और स्फूर्तिदायिनी कथा है। इकबाल की प्रसिद्ध पंक्ति 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी' की कुछ बात मुक्तिबोध के अनुसार भारत की समन्वय की शक्ति थी। मुक्तिबोध की यह पुस्तक 19 सितम्बर, 1962 को एक असाधारण राजपत्र

द्वारा जन सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत भद्रता तथा नैतिकता के विरुद्ध प्रतिबंधित कर दी गई थी। किसकी सरकार थी तब और कौन थे मुक्तिबोध? कहां थे तब सहमत और सहमत के लोग? मैं तो कहूंगा जाने दीजिये!

स्कूल शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यों, संस्कृति तथा विश्वसभ्यता में भारतीय योगदान को महत्व दिए जाने पर आश्चर्यजनक रूप से जो चिन्तायें प्रकट की गई हैं उनका आधार खोज पाना सरल नहीं है। कौन देश या समाज यह मानने को तैयार होगा कि भारत के सांस्कृतिक और सामाजिक विकास की जानकारी प्राप्त किए बगैर हमारी युवा पीढ़ी देश की परम्पराओं को सही ढंग से समझ लेगी? इस जानकारी के बिना उनकी भावनाओं का, समझ का और मूल्य आधारित जीवन को जीने के लिए प्रतिबद्धता का विकास और विस्तार क्या सम्भव हो सकेगा?

पंथ-निरपेक्षता अथवा सैक्यूलरिज्म' का कुछ लोगों ने जबरदस्त दुरुपयोग किया है। इसके नाम पर नैतिक और आध्यात्मिक अध्ययन को शैक्षिक संस्थाओं से दूर कर भारत की युवा पीढ़ी को मूलभूत मूल्यों के अधिग्रहण के अवसर से वंचित रखा गया है। हमने अपनी युवा पीढ़ी को भारत की अत्यन्त समृद्ध तथा परिपूर्ण सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत से अलग रखा। पंथ निरपेक्षता का ही अर्थ है सभी धर्मों के प्रति आदरभाव। यदि यह आदरभाव नहीं पनपेगा तो सामाजिक समरसता कैसे बढ़ेगी? यह विचार मेरे नहीं, 1992 में योजना आयोग द्वारा मूल्यशिक्षा पर गठित 'कोर-ग्रुप' ने अपनी रिपोर्ट में व्यक्त किए थे। तब किसी ने विरोध में सेमिनार नहीं किए, न सहमतों को गिना न सहमति की बात उठाई। यही क्यों, जनवरी 1999 में संसद सदस्यों की मूल्य-शिक्षा पर गठित एक समिति ने अनेक विद्वानों से विचार-विमर्श तथा कई संस्थानों में जाकर वहां के कार्यकलापों के अवलोकन के बाद अपनी रिपोर्ट लिखी। उन्होंने स्पष्ट कहा कि भारत के सब धर्मों की मूलभूत जानकारी, उनका दर्शन तथा सभी धर्मों की समानताओं को सभी बच्चों को कक्षा 6 से विश्वविद्यालय स्तर तक जानकारी दी जानी चाहिए। यह प्रतिवेदन संसद में प्रस्तुत होना है। समिति के माननीय सदस्य लगभग सभी पार्टियों से हैं। कोई विरोध, प्रतिरोध सेमिनार नहीं होता। परन्तु उसी के अंश शब्दशः जब स्कूल शिक्षा के पाठ्यक्रम की रूपरेखा में लिए जाते हैं तो लगता है कि 'सेक्युलरिज्म' पर संकट के बादल छा गये हैं और आकाश फटने वाला है! ऐसे लोग 'साइन्टिफिक टैम्पर' की बात भी अपने मुंह से कैसे निकाल लेते हैं यह शायद वही समझ सकते हैं। ऐसा अवैज्ञानिक, तर्करहित, संवेदनहीन तथा तथ्यविहीन व्यवहार प्रत्यक्ष देखने का अवसर विरले को ही मिलता है। यह दस्तावेज में स्पष्ट भी किया गया है कि केवल धर्मों की मूलभूत जानकारी तथा समानताओं से परिचय की बात ही कही जा रही है, धार्मिक शिक्षा की बात नहीं हो रही है, तब उसे आंख मूंद कर अनदेखा कर दिया जाता है। प्रचार यह हो रहा है कि यह संस्तुति हमें पाषण युग तथा वैदिक काल में ढकेलने

के लिए की गई है!

संस्कृत का अध्ययन देश की युवा पीढ़ी के लिए अपने देश को समझने में सहायक होगा अतः उसके अध्ययन की सुविधायें समुचित रूप से मिलनी चाहिये। यह संस्तुति अपने में नई नहीं हैं। इस पर भी बड़ी बौखलाहट है। महामहिम राष्ट्रपति के.आर. नारायणन के अनुसार भारत के लिए संस्कृत राष्ट्रीय एकता का प्रतीक व सार है तथा भारत को एशिया और विश्व से जोड़ने का सूत्र है।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू का विचार स्पष्ट है

''यदि मुझे भारत की महानतम निधि और सर्वोत्कृष्ट विरासत के विषय में पूछा जाय तो मैं बिना किसी हिचक के कह सकता हूं; संस्कृत भाषा और साहित्य तथा उनसे संबंधित सार-वाङमय जब तक ये रहेंगे और हमारे जीवन को प्रभावित करते रहेंगे तब तक भारत की आधारभूत विशिष्टता भी बनी रहेगी। यदि भारतीय जाति बुद्ध, उपनिषद तथा महान् महाकाव्यों (रामायण और महाभारत) को भूल जायेंगी तो भारत भारत नहीं रहेगा।''

पूर्व राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद संस्कृत को किसी वर्ग या जाति की भाषा नहीं मानते थे। उनके अनुसार वह प्रत्येक भारतीय की भाषा है। और आज एक मत उस वर्ग का भी है जो संस्कृत के विरोध में सहमत हैं।

आलोचना के लिए विभिन्न बिन्दु तथा आयाम ढूंढने में अपनी विशेषज्ञता का लगातार उपयोग कर रहा स्वनामधन्य विद्वानों का यह वर्ग विचार-विमर्श के बिना स्कूल शिक्षा में परिवर्तन का घोर विरोधी है और चाहता है कि इस आधार पर सम्बन्धित दस्तावेज रद्द कर दिया जाय। दस महीनों तक राष्ट्रव्यापी चर्चा के बाद यह दस्तावेज नवम्बर, 2000 को पण्डित जवाहरलाल नेहरू के जन्म दिवस पर राष्ट्र को समर्पित कर दिया गया। कहा जा रहा है कि इसे सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड आफ ऐजुकेशन (सीएबीई) के सामने नहीं रखा गया।

आज जिन्हें सी.ए.बी.ई. की याद आ रही है वे 1994 के बाद 1998 तक सी.ए.बी.ई. को क्यों भूल गये थे तथा उन्होंने उसके पुर्नगठन के लिए सेमिनार या विरोध प्रदर्शन क्यों नहीं किया अथवा कोई फोरम क्यों नहीं बनाया? इसका उत्तर बहुत से लोग ढूंढ़ रहे हैं। तब तो सब कुछ 'अपनों द्वारा, अपनों से अपनों के लिए' के अन्तर्गत चल रहा था अतः सी.ए.बी.ई. की क्या जरूरत थी? अब एकाएक याद आ गई है तो इस में एन.सी.ई.आर.टी. का ही योगदान है।

एन.सी.ई.आर.टी. राष्ट्र द्वारा स्थापित एक शिक्षा सलाहकार संस्थान है। यह एक प्रोफेशनल संस्थान है और इसी कारण अपने अनुभवों से इसे सीखना चाहिए और यह सीखता भी है। पाठ्यक्रम के पुनर्निर्माण के लिए नवीं पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज में स्पष्ट संस्तुति है। यह प्रक्रिया 1996-97 में एन.सी.ई.आर.टी. में शुरू की गई। 31 मार्च, 1997 को सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग को

ग्यारह लाख रुपये की परियोजना स्वीकृत की गई और उसका उत्तरदायित्व तत्कालीन विभागाध्यक्ष को दिया गया था, अब वह सेवा निवृत्त हो गये हैं तथा प्रश्न करने वालों की जमात के अंग हैं। मार्च 1998 में इस प्रकार के प्रस्ताव फिर स्वीकृत हुए मगर कार्य नहीं हुआ। आलोचना यह हो रही है कि एन.सी.ई.आर.टी. ने बिना शिक्षा नीति के बदलाव के 1999 में पाठ्यक्रम निर्माण का कार्य क्यों प्रारम्भ किया। अपेक्षा यह थी कि जो कार्य कई वर्षों से उपेक्षित पड़ा था उसे पूरा किया जाना प्रशंसा प्राप्त करेगा। निश्चित रूप से कुछ लोग, केवल कुछ लोग चाहते हैं कि एन.सी.ई.आर.टी. 30, 20 या 12 वर्ष पुरानी पुस्तकें ही जारी रखे। उनके अनुसार हैं कहां उस स्तर की पुस्तकें लिखने वाले? एन.सी.ई.आर.टी. की पुस्तकें केवल शैक्षिक उत्तरदायित्वों का ही निर्वाह नहीं करती हैं वह अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक उत्तरदायित्वों का भी निर्वाह करती हैं। ऐसे प्रयत्न और दबाव भी सामने आ रहे हैं कि एन.सी.ई.आर.टी. पाठ्यपुस्तक प्रकाशन से अलग हो जाय तथा स्पष्टतः, निजी प्रकाशक ही यह कार्य करें। एन.सी.ई.आर.टी. इससे सहमत नहीं है।

सबसे महत्वपूर्ण हैं वह बच्चे जो स्कूल शिक्षा से बाहर हैं, जो स्कूल में आये मगर रह नहीं पाये, वह जो किसी प्रकार कक्षा 10वीं की परीक्षा में बैठे मगर फेल हो गए। जिन 100 बच्चों की कक्षा को 10वीं पास करनी चाहिए उसमें से 10 से भी कम पास होते हैं। यह जो लगभग 90 प्रतिशत युवाशक्ति 'नॉन-मैट्रीकुलेट्स' की है क्या देश उनकी अनदेखी नहीं कर रहा है? विरोध के झण्डाबरदार यदि इस प्रश्न के समाधान के लिए कोई ठोस विकल्प पूर्ण रूप से सहमत होकर देश के सामने रखते तो निश्चित ही वह विचारणीय हो सकता था। पाठ्यक्रम के नए प्रस्तावों में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और यदि सही परिपेक्ष्य में लागू किए जा सकें तो पाठशाला छोड़ने वाले बच्चों की संख्या घटेगी, जो कुछ वर्ष बाद छोड़ भी देंगे, वे भी प्राप्त शिक्षा का उपयोग कर सकेंगे। बस्ते का बोझ कम हो सकेगा, इतिहास एक भयावह विषय न रहेगा जहां आक्रमण, तिथियां, राजाओं-महाराजाओं के नाम, उनके शासनकाल के सन् और वर्ष रटते हुए बच्चे अपने को ठगा महसूस करते हैं।

इतिहास को लेकर 'जबरदस्त' बौखलाहट है। यह होगा, वह होगा, यह हटेगा, यह आएगा की तर्ज पर बड़े-बड़े नाम वाले लोग अपनी कल्पनाशीलता का परिचय देते हुए पर्चे लिख रहे हैं और उनकी यथास्थान सुपात्र श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुति कर रहे हैं। जिन्हें पुस्तकें लिखनी हैं, वे केवल तैयारी कर रहे हैं।

'मल्टीनेशनल्स', बाहरी प्रभाव तथा आई.टी. आलोचक को काफी बड़ा क्षेत्र प्रदान करते हैं। वैश्वीकरण, निजीकरण तथा उदारीकरण का सामना करना ही होगा। आंख मूंद लेने से काम नहीं चलेगा। आई.टी. सामने है, उसे भी जानना समझना होगा

तथा जहां सही हो, उपयोगी हों, उसको इस्तेमाल करने में देश का कोई अहित नहीं होगा।

कुछ आलोचनाओं का स्तर सचमुच प्रसन्नता उत्पन्न करता है। एक नामी-गिरामी विद्वान जो जाने-माने 'एक्टिविस्ट' भी हैं, के अनुसार एन.सी.ई.आर.टी. ने सफाई, समय की पाबन्दी तथा मूल्यों की संस्तुति बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के दबाव में की है क्यों कि वहीं पर इन तीनों पर बेहद जोर दिया जाता है।

एन.सी.ई.आर.टी. इस आलोचना का तथा अन्य आलोचनाओं का सम्मानपूर्वक तथा आदर के साथ अध्ययन करती है। गांधी जी ने कितना सही कहा था 'मेरे आलोचक ही मेरे सर्वोत्तम मित्र हैं'। मेरे भी! ☐☐

14

कैसी शिक्षा दे रहे हैं हम?

पिछली अर्ध-शताब्दी में प्रारम्भिक शिक्षा का प्रचार और प्रसार अत्यन्त तेजी से हुआ है। शिक्षा की महत्ता को पहचाना गया और जीवन कौशल के रूप में उसको प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक माना गया। विकासशील तथा उपनिवेशवाद से मुक्त हुए देशों के लिये प्रगति का यही सर्वाधिक प्रभावशाली मार्ग सर्वमान्य हुआ। इस श्रेणी में अधिकांश देश वे थे जिन पर बाहरी शिक्षा प्रणालियां थोपी गईं थीं। स्वतन्त्रता मिलने पर जो राष्ट्र नई राह पर डगमगाये नहीं वे भी इन पद्धतियों को उखाड़ कर नहीं फेंक सके। ऐसा करने के लिये सुदृढ़ विकल्प चाहिए था, राजनैतिक इच्छा शक्ति और दृढ़ता चाहिए थी और नौकरशाहों को परिवर्तन के कठिन मार्ग पर चलने के लिये तैयार करना आवश्यक था। यह सब सरल कार्य नहीं था। भारत में विकल्प तैयार था। गांधी जी तथा उनके सहयोगियों ने न केवल विकल्प की परिकल्पना की थी वरन् उसे व्यावहारिक रूप में क्रियान्वित करके उसके परिणाम देश के सामने रख दिये थे। यह ऐसी व्यवस्था थी जिसकी जड़ें भारत में थीं, जो भारतीय मानस की एकता को उसकी समस्त विविधताओं के साथ समग्र रूप में आत्मसात करती थी। किन्तु हमने उसे नकार दिया और विरासत में मिली व्यवस्था को ही अपनाए रखा।

परिणाम सामने हैं। जो कार्य संविधान के निर्देशानुसार हमें दस वर्ष में करना था उसे हम आज भी नहीं कर पाए हैं। हम हर बच्चे को साक्षर नहीं बना पाए हैं। और कितने वर्ष लगेंगे कोई निश्चित रूप से नहीं कह पा रहा है। जो भी तिथियां तय की जाती हैं उन पर न तो जनता विश्वास करती है और न क्रियान्वयन करने वाले ही उसे अपेक्षित उत्साह तथा प्रेरणा से निष्पादित करते हैं जिसके बिना इस प्रकार का लक्ष्य प्राप्त करना किसी भी देश के लिये असम्भव है। परस्पर विश्वास की कमी तो हर तरफ है और शिक्षा का क्षेत्र उससे अछूता नहीं है। सरकार तथा सरकारी संस्थाओं द्वारा संचालित स्कूलों में वही बच्चे जाते हैं जिनकी सामर्थ्य अन्य निजी विकल्पों में जाने की नहीं है। प्रचलित मापदण्डों के अनुसार उपलब्धि के जो स्तर गैर सरकारी 'पब्लिक स्कूल' प्राप्त कर लेते हैं, सरकारी स्कूल उससे बहुत पीछे

रह जाते हैं। सारा देश जानता है कि ऐसी अकर्मण्यता, अनुशासनहीनता, प्रबन्धन के प्रति अनादर तथा किसी भी परिस्थिति में राजनैतिक संरक्षण प्राप्त कर सकने का विश्वास इस मौजूदा स्थिति के लिए उत्तरदायी है। फिर भी हम इसमें सुधार नहीं कर पाते हैं। इससे भी अधिक चिन्ता का विषय यह है कि प्रयास प्रारम्भ करने की इच्छा भी अधिक स्पष्ट रूप तथा व्यापक स्तर पर शायद ही कहीं दिखाई देती हो।

इस समय हर स्तर पर शिक्षा व्यवस्था के लगभग सभी पक्ष चर्चित हैं और इसमें चिन्ता का पुट हर तरफ स्पष्ट दिखाई देता है। व्यवस्था में जो भी कमियां होंगी उसका प्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ेगा और आने वाले समय के समाज की संरचना पर भी पड़ेगा। इसके अनेक परिणाम सामने आ भी गए हैं। आज वे नवयुवक या युवतियां जो विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, निराशा का आवरण ओढ़े हैं, उन्हें पता नहीं है कि उनका भविष्य क्या होगा? वे लोग जो पहली पीढ़ी में शिक्षा ग्रहण करने आए थे और अनेक कठिनाइयों के बाद शिक्षा ग्रहण कर पाए थे, पचास तथा साठ के दशकों में वे भी इतनी हताशा के घेरे में कभी नहीं आए। दुर्भाग्य है कि हम आज भी लगातार ऐसी डिग्रियां देते जा रहे हैं जो न तो उपयोगी कौशल सिखाती हैं, न व्यक्तित्व का विकास करती हैं और जो स्वयं उद्यम करने को प्रेरित नहीं करती हैं। पाठ्यक्रमों में परिवर्तन वृहत् स्तर पर नहीं हो सका है। प्रबंधन तथा सूचना तकनीकी के नये-नये पाठ्यक्रम प्रारम्भ हुए हैं। ये क्षेत्र बहुत तेजी से उभरे हैं, कुछ हजार बच्चों को सिलिकॉन वैली तक भी ले गए हैं मगर 'अब वह बात वहां भी नहीं रही' है। भले ही नए संस्थान अभी भी खुलते जा रहे हैं। शिक्षा का, विशेषकर व्यावसायिक शिक्षा का 'निजीकरण' तेजी से हो रहा है। वैसे इसका सही शब्द 'व्यापारीकरण' ही है। जो कुछ हो रहा है उसमें सबसे महत्वपूर्ण परन्तु अनुत्तरित प्रश्न है संस्थान मनमाने ढंग के शुल्क लेते हैं परन्तु बदले में जो देने का वायदा करते हैं वह अंशमात्र भी नहीं देते। वे दे भी नहीं सकते क्योंकि देने की उनकी मंशा ही नहीं होती है। सारा देश शिक्षक-प्रशिक्षण के पत्राचार पाठ्यक्रमों से परिचित है। देश के अनेक विश्वविद्यालयों ने केवल बचत करने के लिये यह पाठ्यक्रम चलाये जो धीरे-धीरे गुणवत्ता में लगातार कम होते गए। इस प्रक्रिया को नियन्त्रित करने के जो प्रयास किए गए उनकी काट में अब लगातार नये शिक्षक-प्रशिक्षण कालेज खुल रहे हैं और वहां जो कुछ हो रहा है उसे सही दिशा देना या अंशमात्र भी सुधार कर पाना अत्यन्त कठिन कार्य होगा। आज भी देश में ऐसे 'प्रायवेट' शिक्षा संस्थान हैं जो शिक्षक-प्रशिक्षण की उपाधि देने के लिये अधिकृत नहीं हैं परन्तु उनके विज्ञापन निकल रहे हैं, हजारों अनजान विद्यार्थी वहां प्रवेश लेकर 'डिग्री' प्राप्त कर रहे हैं। यह केवल एक उदाहरण है। कितने ही

इन्जीनियरिंग संस्थान, फिजिकल एजुकेशन के कालेज जिन परिस्थितियों में चलाए जा रहे हैं वहां सीखने वाले को व्यावसायिक कार्य करने के लिये तैयार किया ही नहीं जा सकता है।

विभिन्न स्तरों पर शिक्षा की गुणवत्ता, उपयोगिता तथा उपादेयता राष्ट्र के सामने एक यक्ष प्रश्न के रूप में उभर रही है। इसका उत्तर किसी के पास है ऐसा नहीं लगता है। इससे भी अधिक निराशा इस तथ्य से उभरती है कि उत्तर पाने का प्रयत्न भी नहीं किया जा रहा है। ऐसा लगता है कि शिक्षा प्रबंधन में प्रवेश और परीक्षा ही सबसे महत्वपूर्ण हो गए हैं। जो पक्ष सबसे प्रमुख होना चाहिए उसके लिए समय, तैयारी और इच्छाशक्ति का समेकित अभाव हर तरफ दिखाई देता है। संबंधों के वे मापदण्ड एवं मानक जो अध्यापक तथा संस्था के बीच सदा से निर्धारित रहे हैं, लगभग भुला दिए गए हैं। शिक्षा के हर स्तर पर अध्यापक का उपलब्ध न होना एक बड़ी समस्या के रूप में उभरा है। इसका प्रभाव प्राथमिक शालाओं में ही नहीं, विश्वविद्यालयों तक में देखा जा रहा है। बड़े-बड़े नामी-गिरामी विश्वविद्यालयों में अध्यापक का कक्षाओं में न जाना कोई नई बात नहीं है। प्राथमिक शाला का अध्यापक यदि दूरी, आवागमन के साधनों के अभाव, या राजनैतिक संरक्षण को बहाना बनाता है तो उच्च शिक्षा का अध्यापक या प्राध्यापक 'अन्यत्र' व्यस्त होता है और उससे भी बड़ी बात यह है कि उससे कोई भी कुछ कह सकने का साहस नहीं कर सकता है। वह कब संस्था में आता है कितने दिन आता है और आकर क्या करता है यह सब उसकी 'अकादमिक स्वायत्तता' के दायरे में आता है। समयबद्ध-प्रोन्नति के अवसर अब लगभग सभी के लिये उपलब्ध हैं। पिछले बीस वर्षों में इसका जो प्रभाव विश्वविद्यालयों में अध्ययन, अध्यापन तथा शोध कार्य पर जिस रूप में पड़ा है उस पर अधिकांश लोगों की एक ही राय है जो केवल आपसी बातचीत में ही कही जाती है, अधिकारिक रूप से कहीं नहीं कही जा सकती है।

इस सारे वातावरण में भी अनेक संस्थायें आज भी आशा की केन्द्र बिन्दु बनी हुई हैं। इस देश में अध्यापक की अपने कार्य के प्रति प्रतिबद्धता की अद्वितीय परम्परा रही है। शिक्षा व्यवस्था बाह्य पर्यावरण से अछूती नहीं रह सकती है अतः उन अध्यापकों और प्राध्यापकों की निष्ठा भी प्रभावित हुई है जो अपनी क्षमता, प्रतिबद्धता के लिए आज भी जाने जाते हैं। व्यवस्था अब इस महत्वपूर्ण अन्तर को लगभग भुला चुकी है। जो अपने उत्तरदायित्व निभाते हैं और जो नहीं निभाते हैं, लगभग हर प्रकार से बराबर हैं और यह बराबरी पिछले कुछ वर्षों की नीतियों का परिणाम है। इन पर त्वरित पुनर्विचार की आवश्यकता है। जो सर्वोत्तम है उसे वैसा कहने का प्रयास व्यवस्था को करना चाहिये ताकि अन्य का उत्साहवर्धन हो और वह भी उस श्रेणी में आने का प्रयत्न करें। शब्द अध्यापक या 'प्रोफेसर' का उच्चारण ही श्रद्धा और आदर का भाव सामने

लाता था, 'लाता है' कहना आज सम्भव नहीं है। विचारणीय प्रश्न है कि इसे फिर कैसे प्रतिष्ठित किया जाय। प्राथमिक शालाओं के कितने ही अध्यापक और मुख्य अध्यापक अपनी कर्त्तव्य-निष्ठा के लिये और कार्य निष्पादन के लिए दूर-दूर तक जाने जाते थे और समाज का सम्मान प्राप्त करते थे। आज भी प्रतिष्ठित और सम्माननीय प्रोफेसर, हैडमास्टर और अध्यापक इस देश में हर जगह हैं। इन्हें पहचानना आवश्यक है और इस पहचान को समुदाय के सामने लाना है ताकि शिक्षा और समाज के बीच एक परस्परता स्थापित की जा सके जो शिक्षा की गुणवत्ता तथा उसकी स्वीकार्यता के लिये परम आवश्यक है।

यूनेस्को ने 21वीं शताब्दी में शिक्षा का क्या स्वरूप होगा इसे समझने के लिए एक आयोग का गठन किया था जिसने 1996 में अपना प्रतिवदेन प्रस्तुत किया। इसे डेलॉर्स आयोग के नाम से जाना जाता है और प्रतिवेदन का शीर्षक है 'लर्निंग द ट्रेजर विदिन'। सीखने का खजाना तो हर व्यक्ति के अन्दर होता है। अध्यापक और शिक्षा व्यवस्था तो इस अथाह धरोहर को खोजने में सहायता करती है या यों कहें सहायता कर सकती है। हर देश को अपनी शिक्षा प्रणाली का इस मापदण्ड पर मूल्यांकन करना चाहिये। ऐसा होने पर यह स्पष्ट होगा कि अध्यापक क्या सचमुच पूरी तरह तैयार तथा प्रशिक्षित हैं, क्या पाठ्यक्रम की विषयवस्तु तथा अध्ययन-अध्यापन की विधियां समयानुकूल हैं और सन्दर्भ को ध्यान में रखकर लगातार नया स्वरूप ले रही हैं या नहीं। डेलॉर्स प्रतिवेदन में यह भी कहा गया है कि शिक्षा समाज में समरसता बनाने का आधार है अतः यह शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। भारत की सारी विविधताओं को एकता के सूत्र रूप में देखने की क्षमता हर विद्यार्थी में विकसित करने का कार्य एक विचारवान तथा प्रगतिशील शिक्षा-प्रणाली ही कर सकती है। ऐसी शिक्षा-प्रणाली का विकास केवल विशेषज्ञों के द्वारा नहीं हो सकता है। ऐसा कौन है जो शिक्षा से जुड़ा न हो। अतः हर वर्ग की शिक्षा से अपेक्षायें समझी जानी चाहिये। निश्चित है इसके लिये एक रणनीति बननी चाहिये जो शिक्षा नीति का आवश्यक अंग हो तथा जब भी आवश्यकता हो इसमें भी परिवर्तन करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिये। शिक्षा-प्रणाली पर लोगों का और नई पीढ़ी का विश्वास फिर बन सके, इसके लिये शैक्षिक परिवर्तन में विचार-विमर्श का दायरा विस्तृत करना अत्यन्त आवश्यक है।

शिक्षा जगत में इस समय बाह्य पर्यावरण का प्रभाव व्यग्रता उत्पन्न कर रहा है। इस प्रक्रिया में उसकी अपनी कमियां और कमजोरियां उभरकर सामने आ रही हैं। अपेक्षायें अपनी जगह पर सही हैं। समस्यायें बढ़ रही हैं, साधन लगातार कम होते जा रहे हैं जो कुछ हद तक समायोजन और प्राथमिकताओं के निर्धारण के

परिणाम भी माने जा सकते हैं। शिक्षा को सामाजिक कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व मानने वालों की संख्या घट रही है। इसमें व्यापार की सम्भावनाओं की गंध उन लोगों को लग गई है जो लगातार ऐसे क्षेत्रों की तलाश में रहते हैं। ऐसे में उन मूल्यों की चर्चा करना जो कि भारतीय शिक्षा व्यवस्था के देशज मापदण्ड रहे हैं, कई लोगों को असंगत लगता है। राष्ट्र को समाधान ढूंढना ही होगा। वैचारिक चिन्तन को सुदृढ़ करना होगा, कार्य संस्कृति की शिथिलता को हटाना होगा और शिक्षा व्यवस्था को राष्ट्र निर्माण में उसकी न्याय संगत प्राथमिकता व्यावहारिक तथा क्रियान्वयन के स्तर पर प्रदान करनी होगी। □□

15

शिक्षा जीवनोपयोगी बने

वर्षों तक एक लेखक, कवि या सर्जक अपनी कृति पर कार्य करता है, उसमें अनेकों बार परिवर्तन और संशोधन करता है। फिर उसके प्रसार की प्रक्रिया में खटता है कि जो किया है वह लोगों के हाथों में पहुंच जाए। इसी से उसे सर्वाधिक प्रसन्नता होती है। यदि इस पर चर्चा हो जाए और लोग अपनी राय और सुझाव दें तो फिर यह प्रसन्नता कई गुना बढ़ जाती है। इस प्रकार की चर्चा में वह लोग भी शामिल होते हैं जो केवल आलोचना के आधार पर अपना जीवन गतिशील रखते हैं। इस तथ्य से कि किसी भी प्रयास में आलोचना लोगों का ध्यान आकर्षित करती है वे अवगत होते हैं और उसी का उपयोग करते हुए अपनी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। कई बार वे इस प्रयास में सफल भी हो जाते हैं।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने स्कूली शिक्षा के नए पाठ्यक्रम की रूपरेखा इस वर्ष बाल दिवस के अवसर पर देश के सामने रखी। इस प्रक्रिया की शुरुआत अगस्त 1999 में हुई तथा जनवरी 2000 में एक परिचर्चा-प्रपत्र प्रकाशित किया गया। इसमें स्कूली शिक्षा में नए उभरते हुए मुद्दों को उठाया गया था। यह जानने का प्रयत्न किया गया कि स्कूल शिक्षा के भावी स्वरूप के संबंध में देश में किस प्रकार की चिन्ताएं तथा चिन्तन चल रहे हैं। देशभर में सभी जगह कई महीने इस पर वृहद् चर्चा हुई और शिक्षाविदों, विचारकों, लेखकों, नीति निर्धारकों, स्वयंसेवी संस्थाओं तथा बहुत से संगठनों ने इसमें सक्रिय भाग लिया और अपने विचार राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् को दिए। इसकी विवेचना की गई और पाठ्यक्रम की रूपरेखा को दिया गया स्वरूप आज देश के सामने है और चर्चा में है।

पिछले पांच दशकों में राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा के क्षेत्र में सबसे बड़ा लक्ष्य हर बच्चे को प्राथमिक शिक्षा में लाना रहा है। इस समय देश में आजादी के समय की जनसंख्या से दुगुने लोग साक्षर हैं, परन्तु छत्तीस करोड़ लोग आज भी साक्षरों की श्रेणी में नहीं हैं। संविधान में निर्धारित लक्ष्य तक पहुंचने के लिए देश को अभी बहुत कुछ करना बाकी है। एन.सी.ई.आर.टी. ने इस लक्ष्य को अपने समक्ष रखा

है और पूरे दस्तावेज में हर स्तर पर वह प्रतिबद्ध दिखाई देता है। परन्तु यह अचंभे की बात है कि कुछ पूर्वाग्रह प्रेरित लोगों को ऐसा लग रहा है कि यह मसौदा भूमंडलीय विश्व व्यवस्था को समझना तो आवश्यक होगा ही, भले ही हम ऐसा करना चाहें या नहीं।

आज स्थिति यह है कि जिन सौ बच्चों को कक्षा दस तक शिक्षा मिलनी चाहिए थी उनमें से केवल आठ बच्चे कक्षा दस की परीक्षा पास कर पाते हैं। इसकी गणना बहुत ही आसानी से समझ में आ सकती है। सौ बच्चों में साठ से कुछ ही अधिक बच्चे स्कूलों में आते हैं। उनमें से लगभग आधे बच्चे कक्षा आठ तक पहुंच कर स्कूल छोड़ देते हैं। बचे हुए तीस बच्चों में से बीस से अधिक कक्षा दस तक नहीं पहुंच पाते हैं। दसवीं की परीक्षा में औसतन केवल 40 प्रतिशत छात्र ही पास होते हैं। इस गणना में कुछ प्रतिशत आगे पीछे हो भी जाए तब भी यह निश्चित है कि 9 से अधिक बच्चे दसवीं पास नहीं करते हैं। इसमें स्कूल न जाने वाले, बीच में स्कूल छोड़ने वाले तथा दसवीं में अनुत्तीर्ण होने वाले बच्चे भी शामिल हैं। ये बच्चे भी देश के भावी नागरिक हैं जो आज किसी के ध्यान में नहीं हैं। पाठ्यक्रम की नई रूपरेखा में इस बात का ध्यान रखा गया है कि जो बच्चे शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर स्कूल छोड़ देते हैं उन्हें भी ऐसी शिक्षा मिले जो जीवन में काम आ सके। अनेक संस्तुतियां इस दस्तावेज में उपलब्ध लक्ष्यों के संदर्भ में देखी जा सकती हैं। किसी भी विकासशील देश की उपलब्धियां तथा प्रगति इस तथ्य से भी आंकी जाती है कि वह देश अपने बच्चों का कितना ख्याल रखता है और उनके लिए क्या कुछ करता है। वे राष्ट्र जो अपने अधिकांश बच्चों की ओर ध्यान नहीं देते और उनको मूलभूत अधिकार उपलब्ध नहीं करा पाते हैं, समय की दौड़ में पिछड़ जाते हैं। उनकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है और जीवन की गुणवत्ता को सुधारने का उनका सपना धूमिल हो जाता है।

बच्चों की देखभाल केवल शिक्षा देकर ही नहीं हो सकती है। उनके प्रति हर राष्ट्र के समक्ष अनेक अन्य कर्त्तव्य भी होते हैं। फिर भी यह निर्विवाद है कि निश्चित रूप से शिक्षा का योगदान और विशेष रूप से अच्छी शिक्षा का योगदान अत्यन्त महत्व रखता है। इस समय यह समझना आवश्यक है कि जो बच्चे स्कूलों में अभी भी नहीं हैं उन्हें स्कूलों में लाना पहले की तुलना में आज एक अत्यन्त कठिन कार्य है और इसके लिए सरकार और समाज को मिलकर कार्य करना पड़ेगा। समाज शिक्षा से पिछले पांच दशकों में धीरे-धीरे अलग हुआ है। यह सही है कि पंचायत राज अधिनियम में जो व्यवस्था की गई है वह इस समझ की परिचायक है। शिक्षा का प्रसार और उसकी गुणवत्ता तभी बढ़ सकती है जब समाज को इसकी जिम्मेदारी और उत्तरदायित्व दोनों ही सौंप दिए जाएं। भारतवर्ष की अपनी शिक्षा व्यवस्था रही है, यह सदियों चली और उसका लोहा विश्व के सभी प्रमुख राष्ट्रों ने माना। ब्रिटिश

शासन काल में इस व्यवस्था को समूल नष्ट करने का प्रयास किया गया। यह उनकी अपनी आवश्यकता थी क्योंकि उन्होंने लोगों में भेद करना था, उन्हें हतोत्साहित कर उनका मनोबल तोड़ना था। उन्होंने जो तैंतीस प्रतिशत की परीक्षा पद्धति देश में लागू की उसने लाखों करोड़ों बच्चों को केवल एक उपहार दिया जीवनभर असफलता को अपने मस्तिष्क में ढोते रहने का उपहार! बहुत से लोगों को यह ज्ञात नहीं है कि यह परीक्षा प्रणाली ब्रिटेन में कभी भी इस रूप में लागू नहीं की गई थी। आज वहां पर 'ग्रेडिंग' की प्रणाली लागू है और सफलतापूर्वक चल रही है। आज ब्रिटेन में एक या दो विषयों में असफल होने वाले विद्यार्थी व्यवस्था से बाहर नहीं फेंक दिए जाते हैं। जिस विषय में विद्यार्थी को प्रवीणता प्राप्त होती है उसमें ही आगे बढ़ने और पढ़ने के सारे अवसर उसे प्रदान किए जाते हैं।

1986 की शिक्षा नीति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बाह्य परीक्षा प्रणाली पर निर्भरता कम की जानी चाहिए। आज चौदह वर्ष बाद भी एन.सी.ई.आर.टी. ने देश के सामने नीति के इसी निर्देश को व्यावहारिक स्तर पर रखा है। वर्ष के अंत में होने वाली परीक्षा में लाखों बच्चे बैठते हैं और यह बच्चों के गहरे संताप का कारण बनती है।

यह सही है कि 'ग्रेडिंग' की व्यवस्था लागू होने और वर्ष के अन्त में होने वाली कक्षा दस की परीक्षा का महत्व कम हो जाने से विद्यार्थियों को तो नहीं किन्तु उन लोगों को कष्ट होगा जो ट्यूशन पढ़ाते हैं या जो लोग व्यापारिक दृष्टि से शिक्षा से जुड़े हैं। पास-फेल खत्म होने से विद्यार्थियों को अपनी रुचि के अनुसार पढ़ने का अवसर मिलेगा। उन्हें जीवनभर परीक्षा परिणाम के आधार पर असफल कहलाने का दुःख नहीं झेलना पड़ेगा। 'ओपन स्कूल' में विद्यार्थी इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसी भी अन्य विषय में अपनी प्रवीणता सुविधानुसार सही अवसर पर प्राप्त कर सकेंगे। करोड़ों बच्चों के चेहरे पर मुस्कान लौट आएगी। केवल निहित स्वार्थवश ही इसका विरोध हो सकता है। कहा जाता है कि नब्बे प्रतिशत अंक प्राप्त करने वाले को इक्यानवे प्रतिशत अंक प्राप्त करने वाले के साथ जोड़ना, बच्चों के सामने की चुनौती को हटा देगा। कौन ऐसा अध्यापक है जो इक्यानवे प्रतिशत तथा नब्बे प्रतिशत में श्रेष्ठता को स्पष्ट रूप से निर्धारित कर सके? जीवन में सब कुछ अंकों में नहीं मापा जाता और न मापा जाना चाहिए।

इस 'दस्तावेज' में संस्कृत की शिक्षा पर जोर दिया गया है। संस्कृत देश को जोड़ती है। वह संस्कृतियों को गुणवत्ता देती है। पण्डित जवाहर लाल नेहरु ने संस्कृत के लिए कहा था

"यदि मुझसे पूछा जाए कि भारत की सबसे विशाल सम्पत्ति क्या है और उत्तराधिकार के रूप में उसे सर्वोत्तम कौन सी वस्तु प्राप्त हुई है तो मैं निस्संकोच उत्तर दूंगा कि यह सम्पत्ति संस्कृत भाषा और साहित्य एवं उसके भीतर जमा सारी

पूंजी ही है। यह एक उत्तम अधिकार है और जव तक वह कायम है तथा हमारे जीवन को कायम किए है, तब तक भारत की आधारभूत प्रतिभा भी अक्षुण्ण रहेगी। यह बड़े आश्चर्य की बात है, अतीत की सम्पत्ति होते हुए भी संस्कृत एक जीवित परंपरा है। मैं संस्कृत के अध्ययन को, प्रोत्साहन को और अपने विद्वानों को इस भाषा के साहित्य को, जो प्रायः भुला दिया गया है, छानबीन में लगाना पसंद करूंगा।"

प्रोफेसर हीरेन मुखर्जी ने लोकसभा में 1959 में अपने भाषण में कहा

"भारत को गौरवपूर्ण उत्तराधिकार के रूप में संस्कृत प्राप्त हुई है। इसने राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधा है और इस भाषा के द्वारा जो संस्कृति प्रवाहित हुई, उसने सम्पूर्ण मानव-सभ्यता के क्षेत्र में चमत्कारपूर्ण योगदान दिया है।"

देश के हर महान विचारक, चिंतक तथा नेता ने संस्कृत के महत्व को समझा है और जाना है। कुछ तथाकथित चिन्तित लोग इसमें छुपा हुआ 'एजेण्डा' ढूंढ़ रहे हैं।

मूल्यों की शिक्षा को लेकर भी कुछ लोगों को कष्ट है। क्या शिक्षा व्यवस्था कहीं भी किसी भी समय स्वयं को मूल्यों से अलग रख पाई है? वह शिक्षा व्यवस्था निश्चित ही अपूर्ण सिद्ध होगी जो शरीर, मस्तिष्क तथा अध्यात्म के समन्वय को न समझ सके। ऐसे लोगों को 'स्पिरिचुअल वैल्यूज़ इन एलीमेन्ट्री स्कूल्स' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिए जो 1947 में अमेरिका में छपी थी। आज जो संवैधानिक और मानवीय मूल्यों की चर्चा करें या आध्यात्मिकता की ओर ध्यान दिलाएं उन्हें शंका की निगाह से देखना बुद्धिजीवी कहलाने के लिए आवश्यक माना जाता है। एक छोटे से भयभीत वर्ग को लें, इन्हें 'धर्म' शब्द से डर लगता है। वे यह भूल जाते हैं कि भारतीय समाज एक धार्मिक समाज है। यह समाज विभिन्न धर्मों के प्रति परस्पर आदरभाव तथा सम्मान के ऐसे अनेक ठोस उदाहरण देता है जो अन्य कहीं विरले ही मिलेंगे। हर धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को जानना किस प्रकार अहितकर हो सकता है, यह साधारण समझ से परे है! एन.सी.ई.आर.टी. ने धार्मिक शिक्षा की बात नहीं की है। इस दस्तावेज में यह तथ्य अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है। देश के स्कूलों में पचास लाख अध्यापक हैं। उनकी क्षमता पर विश्वास किया जाना चाहिये।

शिक्षकों ने भी शिक्षा के प्रसार में तथा पठन-पाठन में बहुमूल्य योगदान दिया है और 1992 की शिक्षा नीति बनाने में योग दिया है और आज भी उन्हीं की क्षमता को आधार मानकर कार्य चल रहा है। इन्हीं नीतियों के आधार पर हर पांच वर्षों में पाठ्यक्रम के पुनः निर्माण करने की व्यवस्था है और इसी कारण एन.सी.ई.आर.टी. ने वर्तमान मसौदा बनाने का प्रयत्न किया है। कुछ गिने-चुने लोगों को जब आलोचना के लिए कुछ सार्थक कहने को नहीं मिलता है तो वे व्यक्तिगत आक्षेपों पर उतार आते हैं और उन्हें लगता है कि पूरी संस्था ही किसी व्यक्ति विशेष की विचारधारा को सामने ला रही है। सोच के इस स्तर पर केवल सहानुभूति ही व्यक्त

की जा सकती है। आवश्यकता यह है कि शिक्षा को राष्ट्रीय स्तर पर देखने की क्षमता पैदा की जाए और यह प्रयत्न हो कि सारा देश मिलकर शिक्षा को जीवनोपयोगी बनाने का संकल्प ले। अधिकांश लोग उच्च शिक्षा में जाकर स्कूली शिक्षा के आधार पर ही जीवन-यापन करते हैं इसे समझा जाए और साथ ही साथ यह व्यवस्था भी रहे कि जो बच्चे अध्ययन में मेधावी हैं वे उच्च शिक्षा के प्रांगण में जाकर देशवासियों के हित में कार्य करें। □□

16

आदर्श शिक्षा के लक्ष्य

आजादी के बाद आरंभिक वर्ष अपेक्षाओं, आकांक्षाओं और अभिलाषाओं के वर्ष रहे थे। आजादी स्वयं एक महान उपलब्धि होती है। सारे भेदभाव, राग-द्वेष और विचार-विभेद भुलाकर देशवासियों ने एक-जुट होकर त्याग और संघर्ष को सत्याग्रह का देशव्यापी स्वरूप देकर स्वतंत्रता प्राप्त की थी। सारे देश के सामने लक्ष्य स्पष्ट था, रणनीति गांधी जी की थी और तपे हुए सेनानायक इसको क्रियान्वित कर रहे थे। जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, वल्लभभाई पटेल और राजेन्द्र बाबू, ये सभी अप्रतिम व्यक्तित्व के धनी थे। ये सभी अलग-अलग व्यक्तित्व थे परन्तु राष्ट्रीय लक्ष्य ने उन्हें किस प्रकार परस्पर जोड़ा था यह अपने आप में आज इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है। अपनी अनेकानेक विविधताओं के साथ राष्ट्र उनके पीछे एकजुट खड़ा था। क्या कभी किसी के मन में यह विचार तक आया कि गांधी जी गुजरात के और नेता जी बंगाल के थे? वे समग्र देश के थे और देश के लिए ही थे, उनमें से कोई भी 'स्वयं के लिए' नहीं था। वे देश की आशाओं के केन्द्रबिन्दु थे। वे सब राष्ट्र के संगठित विश्वास के प्रतीक थे।

उस समय ऐसा कुछ नहीं लगता था जो भारत के लिए अलभ्य या असम्भव हो, इसी कारण अनेक संकल्प और अनेक लक्ष्य उभरे थे। हर लड़के और लड़की के लिए भारत के हर गांव में 14 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था होगी। सब के लिए समान अवसर उपलब्ध होंगे। जाति, धर्म, लिंग, भाषा और क्षेत्रीयता के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होगा। भाई-भतीजावाद नहीं होगा, स्वार्थ नेताओं के आस-पास नहीं फटकेगा और नौकरशाह जनसेवक होंगे। भ्रष्टाचार का समूल नाश किया जाएगा। गांधी जी के अनुसार देश के अन्तिम व्यक्ति को मानवोचित सम्मान, साधन और सुविधाओं का मौलिक अधिकार प्राप्त होगा और सारा राष्ट्र इसके लिए प्रयत्न करेगा। गरीबी का अंत होगा।

ये सब मात्र नारे नहीं थे, ये जन-जन के अंतरंग लक्ष्य और आत्मविश्वास से भरे मंत्र थे। लगता था कि मानो अब कुछ समय का ही विलम्ब है। एक नए स्वर्ण युग का उद्भव होने जा रहा है। सन् 1950 में यह विश्वास सभी के लिए

प्रारम्भिक शिक्षा की दस वर्ष के अन्दर व्यवस्था कर लेने के संवैधानिक निर्देश के रूप में व्यक्त किया गया। किसी को नहीं लगा कि यह कठिन या असम्भव लक्ष्य है। किन्तु आज क्या स्थिति है? विगत पांच दशकों में क्या कुछ नहीं बदला है! पंथ और जातिवाद नए-नए आकारों और स्वरूपों में अपनी जड़ें जमा रहा है। विविधताएं अब विभिन्नताओं के रूप में ही उभरती हैं। देश की इस देन और विविधता की परम्परा को निभाने या उन्हें उभारने के प्रयत्न सीमित हो गये हैं। कुल मिलाकर आज के समय में लोगों का विश्वास लगभग धराशायी हो चुका है।

अनेकानेक विसंगतियों और बौद्धिक अक्षमताओं से ग्रस्त जन-समुदाय को अपने राष्ट्र के अभ्युदय, विकास अथवा नवनिर्माण के लिए देशवासियों के ज्ञान, समझ और बौद्धिक क्षमता पर निर्भर होना होता है और इसलिए जनता के द्वारा शिक्षा उपार्जन से अर्जित किए गए आधारभूत ज्ञान और बोधि की इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसी राष्ट्रोन्मुखी शिक्षा के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था – "स्वतंत्र भारत में महत्वपूर्ण गतिविधि होगी 'शिक्षा'।" शिक्षा ही लोगों को आगे बढ़ाएगी। उन्हें जीवन को जानने, समझने और जीने के गुर प्रदान करने में सहायक होगी। गांधी जी ने शिक्षा के महत्व व स्वरूप को समझा था और भारत की आजादी की लड़ाई के साथ-साथ अज्ञान और गरीबी से लड़ाई लड़ने की अपनी रणनीति बुनियादी शिक्षा के रूप में विकसित की थी। यह मानवीय मूल्यों के आधार पर बनी परिकल्पना का साकार रूप में उभरना था। इसमें काम करने का महत्व, काम करने वाले का महत्व, व्यक्ति के उत्तरदायित्व, मानवीय गरिमा से तादात्म्य, असमानता से मुक्ति, कंधे से कंधा मिलाकर काम कर सकने की क्षमता और संकल्प और ऐसे ही कितने ही अन्य पक्ष शामिल थे जो वास्तव में मानव मूल्यों को जानने, समझने और उन्हें जीवन में उतारने के लिए देश के हर व्यक्ति को तैयार कर सकने की क्षमता रखते थे। किन्तु आजादी मिलने की खुशी में हम यह सब भूल गए। हमने अंग्रेजों द्वारा लागू की गई शिक्षा पद्धति को ही श्रद्धापूर्वक खाद-पानी देना जारी किए रखा। हमारी परिस्थिति का उचित विश्लेषण करके हमें समझाने वाले गांधी तब हमारे बीच रहे नहीं। परिणाम सामने हैं।

आज राष्ट्र मानव मूल्यों में गिरावट, भ्रष्टाचार, वैमनस्य, अविश्वास, असहयोग और हिंसा इत्यादि से ग्रसित, पीड़ित और चिन्तित है। आज तलाश है उन लोगों की जो इन पीड़ाओं को खत्म करने के लिए संघर्ष का आह्वान करें और नेतृत्व प्रदान करने का साहस दिखाएं। यह संघर्ष प्रारम्भ होना ही चाहिए अन्यथा अनेकानेक यातनाएं सहकर और कुर्बानियां देकर प्राप्त की गई आजादी भी कई प्रकार के खतरों में पड़ सकती है।

इन खतरों से निपटने की तैयारी देश ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा के क्षेत्र में गहन विचार-विमर्श के बाद की थी तथा इसके क्रियान्वयन की योजना बनाई

थी। डा. कोठारी की अध्यक्षता में गठित शिक्षा आयोग इस दिशा में उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम था। इस आयोग ने अपने प्रतिवेदन में भारत के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना को बड़े ही स्पष्ट रूप से व्यक्त किया। इसमें कहा गया है कि भारत का भविष्य उसकी कक्षाओं में निर्मित हो रहा है। यह कोई नारा नहीं था। विज्ञान और तकनीक के नए युग में शिक्षा ही वह मूल तत्व है जो किसी भी राष्ट्र की समृद्धि, खुशहाली और सुरक्षा के आयाम का स्तर तय करेगा। आयोग ने यह भी कहा है कि शिक्षा प्रदान करने के लिए शिक्षा केंद्रों से निकलने वाले व्यक्ति और उनमें अंतर्निहित मानवीय ज्ञान ही राष्ट्र के पुनर्निर्माण और विकास के लिये किए गए प्रयत्नों की सफलता या असफलता तय करेंगे। राष्ट्र की समृद्धि, कल्याण और सुरक्षा के लिए अच्छी शिक्षा नींव का पत्थर है। निश्चित रूप से विदेशों से लेकर रोपी गई शिक्षा पद्धति यह कार्य नहीं कर सकती है। इसके लिए ऐसी शिक्षा व्यवस्था चाहिए जो भारत की जमीन से उपजी हो और जिसकी जड़ें गहराई तक अंदर गई हों। शिक्षा के इस वृक्ष में लगातार स्वयं को पुनः निर्धारित, नवीनीकृत और स्वतः पल्लवित होते रहने की क्षमता पूरी तरह विद्यमान होनी चाहिए।

अब 5 दशकों के बाद 93वें संविधान संशोधन विधेयक की संकल्पना पहली बार देश के सामने आई है। देर से ही सही, यह अपने में एक प्रभावशाली कदम हो सकती है जो शैक्षिक विकास और विस्तार के लिए सारे देश के प्रयत्नों को नई दिशा और नई स्फूर्ति प्रदान कर सकती है। इस समय गांधी जी के इस वाक्य को याद करना उचित होगा : ''मैं निःशुल्क और अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा के सिद्धांत में दृढ़तापूर्वक विश्वास करता हूं।'' उन्होंने अपने शैक्षिक चिंतन में लगातार उस शिक्षा की व्यवस्था की बात की थी जहां व्यावसायिक कौशल, हाथों से काम करना, हर काम के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न करना जैसे लक्ष्य पहले स्थान पर थे। वे शिक्षा के द्वारा शरीर, मस्तिष्क और अध्यात्म तीनों के विकास की अनुशंसा करते रहे। ऐसी ही शिक्षा व्यक्ति को सही कौशल प्रदान कर सकती है और उसे सही निर्णय लेने की क्षमता भी दे सकती है। कौशल सम्पन्न तथा क्षमतावान व्यक्ति ही समाज के उत्थान में अपना उचित योगदान दे सकते हैं।

विश्व का हर देश, विशेष रूप से ऐसे देश जो ज्ञान और तकनीकी योग्यता की दिशा में विकसित माने जाते हैं, वे अपनी सुरक्षा को लेकर आज चिंतित हैं। वैसे यह चिंता अब विश्वव्यापी हो चुकी है। इसके क्या कारण हो सकते हैं? इस पर विचार करने के लिए संभवतः हमें वैश्विक गांवों में विद्यमान विविधताओं की ओर ध्यान देना अपेक्षित होगा। विविधताओं के अध्ययन और अनुभूति के लिए भारत से बड़ी प्रयोगशाला अन्य कहीं हो ही नहीं सकती है। ऐसी कोई विविधता नहीं है जो इस देश में विद्यमान न हो। यह भी अपनी जगह सही है कि इन विविधताओं ने ही इस देश की एकता में अप्रतिम योगदान किया है। विज्ञान और तकनीकी

विधा के विकास के साथ-साथ संसार में हिंसा, युद्ध और बर्बरता की जो भीषण आशंका पनप रही थी उसका स्पष्ट और सटीक चित्रण यूनेस्को के चार्टर के प्रारंभ में दिया गया है – "क्योंकि युद्ध मनुष्य के मस्तिष्क में प्रारंभ होते हैं, अतः शांति की, सुरक्षा की परिकल्पना भी मनुष्य के मस्तिष्कों में ही बनाई जानी चाहिए।" इस समय जो नरसंहार आतंकवाद के नाम पर हो रहा है वह निश्चित रूप से मनुष्य के विकृत मस्तिष्क की सोच का ही परिणाम है। यह शिक्षा की उस मूल अवधारणा को भी सुदृढ़ करता है कि हर व्यक्ति के अंदर सही निर्णय लेने की क्षमता का विकास व्यक्ति के लिए ही नहीं समाज, देश तथा विश्व के लिए भी आवश्यक है। हिटलर जैसा एक व्यक्ति करोड़ों व्यक्तियों पर निर्मम अत्याचार कर सकता है और मानवता के सारे सिद्धांतों को ताक पर रखकर निरीह स्त्रियों, बच्चों तथा निरपराध लोगों के साथ दिल दहला देने वाली क्रूरता का बर्ताव कर सकता है। 60 से अधिक देशों से जीविकोपार्जन के लिए आए लोग, जिन्होंने किसी के प्रति कोई अपराध नहीं किया था, 11 सितम्बर 2001 के दिन आतंकवादियों के हमले में निर्ममतापूर्वक मार डाले गए! निश्चित रूप से इस सारी योजना का सूत्रपात किसी एक मानव मस्तिष्क में ही प्रारंभ हुआ होगा। यदि उस व्यक्ति के अंदर मानवीय गुणों का, मानव मूल्यों का, दूसरों के प्रति सम्मान का और जीवन के उद्देश्यों को समझने का माद्दा सही ढंग से पल्लवित हुआ होता तो यह दुर्घटना शायद नहीं घटित हुई होती। हिटलर के कई रूप और नाम हो सकते हैं। किसी भी मानवीय हिंसा के अंतर्गत यदि एक भी व्यक्ति की बलात और अकारण हत्या होती है तो सारी मानवता का कर्त्तव्य बनता है कि वह ऐसे उपाय करे जिससे किसी दूसरे को ऐसे दुर्भाग्य से न गुजरना पड़े।

वैश्वीकरण की चर्चा आज केवल बाजार के आधार पर की जाती है। प्रचार-प्रसार के सभी माध्यम आज भौतिकवाद को ही बढ़ावा दे रहे हैं। इस ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है कि मानव जीवन मार्केट फोर्सेज के अलावा भी बहुत कुछ होता है। मानवीय सौहार्द, मानवीय भावनाएं और संवेदनायें उतनी ही आवश्यक हैं जितनी संप्रेषण की आवश्यकता या कम से कम समय में संप्रेषण की बढ़ती हुई जरूरतें। तकनीक को जान लेना और उस का उपयोग करना सुविधाजनक हो सकता है परन्तु मानव संबंधों को किसी न किसी रूप में वह मशीनी भी बना देता है। दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने की क्षमता बच्चों में उत्पन्न करना किसी भी शिक्षा व्यवस्था का एक आवश्यक अंग होना चाहिए। बीसवीं शताब्दी में पहली बार विश्व के हर देश ने स्वीकार किया है कि अच्छी शिक्षा ही ऐसी राह दिखाती है जो लोगों को मानव मूल्यों की विश्वव्यापी समानताओं से परिचित करा सकती है और साथ ही विभिन्न प्रकार की विविधताओं को सम्मानपूर्वक देखने और समझने

की क्षमता प्रदान कर सकती है। भारत में सदियों से ऐसी ही समझ तथा परम्परा रही है।

'हितोपदेश' के अनेक श्लोकों में शिक्षा के महत्व का वर्णन है। शिक्षा ही समृद्धि और स्थायित्व को विकसित रखती है, विनयशीलता का विकास करती है और धन-संपत्ति के उचित अर्जन के लिए पात्रता प्रदान करती है। सुख प्राप्ति के लिए भौतिक संपन्नता के साथ-साथ सही आचरण भी आवश्यक माना गया है। आज के युग में जब भौतिक संपन्नता और समृद्धि को ही सुख का पर्याय मान लिया गया है, संभवतः सही आचरण का महत्व, सारे विश्व को स्पष्ट दिखाई देना भी आवश्यक हो गया है। कई लोग इस प्रकार के चिंतन को पुराना कह सकते हैं परन्तु यदि इस पर ध्यान दिया जाए तो लगेगा कि वह एक शाश्वत सत्य है।

आज के समय में शान्ति तथा सद्‌भाव की स्थापना के लिए नया मार्ग खोजना आवश्यक होगा। शिक्षा पर निर्भरता निरंतर बढ़ती जाएगी। पहले भी जब चिंतकों और आचार्यों ने गुरु और ईश्वर को समकक्ष मानने की बात कही थी तब मूलतः वह ज्ञानार्जन के महत्व की ओर ही ध्यान दिला रहे थे। किसी भी राष्ट्र या समाज में समृद्धि, शान्ति और सुख का सही मापदण्ड, उस समाज के ज्ञानवान और शिक्षित व्यक्तियों के आचरण और अनुभव पर ही निर्भर करता है। स्वामी विवेकानन्द ने इस संबंध में कहा था "सभी प्रकार की शिक्षा और प्रशिक्षण का लक्ष्य आदर्श व्यक्ति का निर्माण होना चाहिए। शिक्षा सूचनाओं का संग्रहण नहीं है जिसे किसी के दिमाग में ठूंस दिया जाए और जो बिना पचाए या समझे जीवन भर बनी रहे। हमें ऐसी शिक्षा देनी अपेक्षित है जो जीवन तथा मनुष्य के चरित्र निर्माण के लिए विचारों को स्थान दे सके। यदि तुम्हारे पास पांच विचार हैं और तुमने उन्हें अपने जीवन और चरित्र में ढाल लिया है तो तुम उस व्यक्ति से श्रेष्ठ हो जिसने पुस्तकालय की सारी पुस्तकें रट ली हैं।"

शिक्षा का उद्देश्य मानसिक शक्ति का विकास करना है, शब्दों का परिचय और संचय मात्र ही शिक्षा नहीं है। मानसिक शक्ति का विकास सही दिशा में हो इसके लिए मानव मूल्यों से परिचित होना, उन्हें आत्मसात करना और व्यावहारिक रूप में जीवन में उतारना आवश्यक है। आज मूल्यों के ह्रास से सभी चिंतित हैं परन्तु भविष्य द्रष्टाओं ने इसके महत्व को बहुत पहले ही समझा था और शंका व्यक्त की थी कि यदि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मूल्य आधारित शिक्षा नहीं दी गई तो हमारे राष्ट्र का भविष्य क्या होगा। गांधी जी के शब्दों में, "हमें याद रखना चाहिए कि स्वतंत्रता प्राप्त होते ही लोगों को सुख-सुविधा प्राप्त नहीं होगी। जैसे ही हमें आजादी मिलेगी चुनाव, अन्याय, अमीरों के अत्याचार जैसी कमियां तथा प्रशासन चलाने का बोझ हमारे ऊपर आ जाएगा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लोग सोचने लगेंगे कि उन दिनों अधिक न्याय था, प्रशासन अधिक अच्छा था, तब शान्ति थी और

प्रशासकों में अधिक ईमानदारी थी। आजादी का एक ही लाभ होगा कि हम दासता और उससे उपजे अपमान के कलंक से बच जाएंगे।" आज आवश्यकता ऐसे शैक्षिक नियोजन की है जो मौलिक रूप से भारत की जड़ों से जुड़ा हो और जिसमें यह क्षमता हो कि वह बड़ी संख्या में चरित्रवान, ज्ञानवान, दृढ़ निश्चयी तथा भौतिक तथा शारीरिक रूप से योग्य युवा पीढ़ी का निर्माण कर सके। यह कार्य जितना शीघ्र होगा उतनी ही शीघ्रता से राष्ट्र की समृद्धि और संपन्नता बढ़ेगी। इससे परस्पर विश्वास तथा समरसता अपने आप बढ़ेगी। □□

17

भविष्य की स्कूली शिक्षा

शिक्षा व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों को समझने की आवश्यकता ने इस समय सभी लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रखा है। यह एक अत्यंत उत्साहजनक स्थिति है। शिक्षा के क्षेत्र में भी परिवर्तन पिछले पांच दशकों में कई प्रकार से, कई योजनाओं, कार्यक्रमों तथा नवाचारों के रूप में हुए हैं। किसी भी परिवर्तन की सही प्रक्रिया अपने लक्ष्यों को तभी प्राप्त कर पाती है जब उससे सम्बन्धित सभी लोग अपनी राय दें, अपने विचार स्पष्ट रूप से बिना किसी दबाव के और बिना किसी पूर्वाग्रह के प्रकट करें। यदि ऐसा नहीं होता है तो परिवर्तन, विशेष रूप से परिवर्तन के क्रियान्वयन को कभी भी सफलतापूर्वक लागू नहीं किया जा सकता है। हमारा यह सौभाग्य है कि हमारे देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्र निर्माताओं ने ऐसी व्यवस्थाएं कीं और ऐसी संस्थाएं बनाईं जिन्होंने अपने क्षेत्रों में अध्ययन और नवाचार प्रयुक्त किए तथा उनमें अनुभव प्राप्त किया और इन अनुभवों का लाभ उठाया। एन.सी.ई.आर.टी. शिक्षा के क्षेत्र में एक ऐसी ही संस्था है और शिक्षा पर ही इस समय देश-व्यापी चर्चा चल रही है।

इस समय जो एक मुख्य चर्चा है वह है एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा देश के सामने प्रस्तुत स्कूली शिक्षा के नए पाठ्यक्रम की रूपरेखा। एन.सी.ई.आर.टी. ने पिछले 40 वर्षों के अन्तर्गत स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में न केवल अपना भरपूर योगदान दिया है बल्कि इस क्षेत्र में अनेक अनुभव भी प्राप्त और एकत्र किए हैं, आज इसके द्वारा स्कूली शिक्षा में दिए गए योगदान को सम्मान के साथ देखा जाता है। ऐसा तभी संभव हुआ जब एन.सी.ई.आर.टी. ने देश में शिक्षा की समस्याओं का स्तर पर तथा हर संदर्भ में अध्ययन किया, नवाचार प्रारंभ किए, अन्य लोगों द्वारा प्रारंभ किए गए नवाचारों में हिस्सा लिया और इन नवाचारों को नीति निर्माण की दिशा में जहां-जहां भी सम्भव हुआ लाने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया में जो विशेषज्ञता या जो सहभागिता स्थापित हुई है वह अपने में अद्वितीय है। एन.सी.ई.आर.टी. जैसी संस्थाओं की यदि वस्तुपरक आलोचना की जाती है तो यह स्वस्थ प्रक्रिया का ही अंग होती है। संस्थान को इससे आगे बढ़ने में तथा अपने विचारों को अपने चिंतन

द्वारा परिष्कृत करने में सहायता मिलती है। गांधी जी ने कहा था कि "मेरे आलोचक ही मेरे सबसे बड़े मित्र हैं", एन.सी.ई.आर.टी. इस वाक्य को मार्गदर्शक स्वीकार कर आगे बढ़ रही है।

यह सभी को स्पष्ट होना चाहिए कि नए पाठ्यक्रम की रूप-रेखा बनी कैसे या इसकी आवश्यकता क्यों अनुभव हुई। देश की शिक्षा नीति में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि हर पांच वर्षों के बाद शिक्षा नीति के क्रियान्वयन के सभी आयामों पर पुनः विचार होना चाहिए। 1986 की शिक्षा नीति के आधार पर एन.सी.ई.आर.टी. ने एक नया पाठ्यक्रम 1988 में प्रस्तुत किया था। बाद में राज्यों ने इसे आधार मानकर अपनी पुस्तकें बनाईं। एन.सी.ई.आर.टी. नहीं चाहती कि एक ही सी पुस्तक सारे देश में पढ़ाई जाए। सच्चाई तो यह है कि आज भी देश के मात्र तीन प्रतिशत से कम स्कूलों में इन पुस्तकों से पढ़ाई की जाती है। हम चाहते हैं कि हर राज्य में वहां की स्थितियों के अनुसार, वहां की सारी परिस्थितियों को देखते हुए पाठ्यपुस्तकें बनें। 28 राज्यों में जो संस्थान राज्य स्तर पर हैं उनमें भी यह विशेषज्ञता बढ़े कि पुस्तकें कैसे लिखी जाती हैं, उनमें क्या होना चाहिए, उन का मूल्यांकन कैसे होना चाहिए बच्चे जो कुछ सीखते हैं उस का मूल्यांकन कैसे होना चाहिए, शोध कैसे होना चाहिए, पुस्तकों का पुनर्मूल्यांकन कैसे होना चाहिए, इत्यादि। इस प्रकार की सारी विशेषज्ञता राज्य स्तर पर विकसित करना भी एन.सी.ई.आर.टी. का उत्तरदायित्व रहा है और एन.सी.ई.आर.टी. ने अपने इस उत्तरदायित्व को पिछले चार दशकों में निष्ठापूर्वक निभाने का प्रयास किया है।

एन.सी.ई.आर.टी. पर अध्यापकों, बालकों, शिक्षाविदों का दबाव था कि 1988 की पुस्तकें पुरानी पड़ रही हैं और बदली जानी चाहिए। एन.सी.ई.आर.टी. ने अपने कर्त्तव्य को समझा और स्कूल शिक्षा के क्षेत्र में जितने भी मुद्दे इस समय महत्वपूर्ण थे उन सब पर वृहद और व्यापक चर्चा प्रारंभ की। चार क्षेत्रों में जाकर एन.सी.ई.आर.टी. के विशेषज्ञों ने इन सभी महत्वपूर्ण बिंदुओं को इकट्ठा किया और जनवरी 2000 में एक परिचर्चा-प्रपत्र छापकर देश के सामने रखा। खेद है कि बहुत से लोगों ने इसे ध्यान से न पढ़कर इसी को पाठ्यक्रम की रूपरेखा मान लिया। इस परिचर्चा-प्रपत्र देशव्यापी चर्चा के आधार पर जो सुझाव आए उन पर विश्लेषण कर चुकने के बाद ही एन.सी.ई.आर.टी. ने नए पाठ्यक्रम की रूपरेखा देश के सामने नवम्बर, सन् 2000 में रखी।

आज जो चर्चा हो रही है उसमें कुछ चिंतित बुद्धिजीवी प्रश्न उठा रहे हैं कि भारतीय शिक्षा का क्या होने जा रहा है? ऐसा लग रहा है कि पिछले पांच दशकों में जो कुछ विशेष नहीं हुआ उससे वे पूर्ण रूप से संतुष्ट हैं। उसमें सबकुछ नया था, समय के साथ बदल रहा था, उसमें नवाचार थे, भारत की राष्ट्रीयता और अस्मिता के लिए सारे प्रयास किए जा रहे थे। कहीं किसी प्रकार के परिवर्तन की गुंजाइश

नहीं थी।

बड़े अचम्भे की बात है कि इन्होंने कभी उस बच्चे की चिंता नहीं की जो आज भी स्कूल के बाहर है! इस समय भी देश के 15-16 वर्ष के 100 बच्चों में से केवल 10 से भी कम बच्चे कक्षा दस पास करते हैं। क्या कभी उन्हें यह चिंता हुई कि जो 90% बच्चे या तो स्कूल गए नहीं या स्कूल छोड़ गए या जो 10वीं में फेल करार कर दिए गए वे भी देश के बच्चे हैं और देश को उनकी भी आवश्यकता है? उनके लिए हम क्या कर सकते हैं? कभी न चिंतित होने वाले ये लोग आज अपनी बौखलाहट को कई प्रकार से प्रकट कर रहे हैं। शिक्षा पाठ्यक्रम की रूपरेखा में एक भी ऐसा बिन्दु वे नहीं पा सके जो सही लग रहा हो। वे आज तक उस दस्तावेज में से एक भी वाक्य देश के सामने नहीं रख सके हैं जिस को कह सकें कि यह वाक्य संविधान की मूल धारा और भावना के विरुद्ध लिखा गया है। इन लोगों से ऐसा भी एक वाक्य नहीं बताया जा सका है जो 1985- 1986 की शिक्षा नीति से अलग हो। नए पाठ्यक्रम में ऐसा एक भी वाक्य नहीं है जो हमारी सबसे बड़ी परम्परा मानवीयता, भाईचारा और पंथ निरपेक्षता के विरुद्ध हो। इन्होंने ऐसे वाक्यों को लेकर आलोचना की है जो एन.सी.ई.आर.टी. के दस्तावेज में कहीं हैं ही नहीं और जो हैं इन्होंने उन्हें अनदेखा कर दिया है। इनसे यह प्रश्न पूछा जाना चाहिए कि 12 वर्षों के बाद भी अगर पुस्तकें नहीं बदलेंगी तो क्या तभी आप प्रगतिशील कहे जाएंगे और यदि हम पुस्तकें बदलने की प्रक्रिया प्रारंभ करेंगे तो हम पोंगा-पंथी कहलाएंगे। यह जो पूर्वाग्रह जनित पोथी जिसे देश के लोगों को ये लोग पढ़ा रहे हैं, देश अब उसको स्वीकार नहीं करेगा। इन आलोचकों को जानना चाहिए कि देश के इस समय 65 प्रतिशत से अधिक लोग साक्षर हैं परन्तु शत-प्रतिशत लोग अपने भविष्य को जानते हैं। वे देश के प्रति अपने कर्त्तव्य को जानते हैं और वह यह भी जानते हैं कि कुछ लोगों ने शिक्षा के क्षेत्र में जो एकाधिकार प्राप्त कर रखा था वह देश के हित में नहीं था और शिक्षा के क्षेत्र में कोई भी अस्पृश्य नहीं है।

यह सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है कि पिछले चार दशकों में जो लोग शिक्षा व्यवस्था को अपने हाथों से नकेल डाल चला रहे थे, जिन्होंने शिक्षा संस्थानों पर अपनी चौकड़ी जमा रखी थी, जिन्होंने अधिकांश लोगों को शिक्षा संस्थानों के क्रिया-कलापों से बाहर कर रखा था, जो सारी पुस्तकें स्वयं लिखते थे, सारी नीतियां अपनी 'विचारधाराओं' के अनुसार तय करते थे और अपने पूर्वाग्रह से इन संस्थाओं को चलाने का प्रयास करते रहे थे आज की बदली हुई परिस्थिति में स्वाभाविक है कि वे चिंतित हैं। सम्भवतः अब उनके पास आलोचना और चिंता करने के अलावा कुछ ज्यादा बचा भी नहीं है। इन लोगों को चिंता इस बात से है कि इनकी विशेषज्ञता को ही सर्वोपरि क्यों नहीं माना जा रहा है। इन्हीं की राय के साथ सारा देश, सारी संस्थायें क्यों

नहीं चल रही हैं। ये लोग मानने को ही तैयार नहीं हैं कि 100 करोड़ लोगों की आबादी वाले देश में और भी अनेक विद्वान हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सन् 60 में या सन् 70 में जो लोग पुस्तकें लिख चुके हों वे ही 21वीं शती के लिए भी पुस्तकें लिखें और उनके रहते अन्य किसी को कोई अवसर न दिया जाए। यह देश अब ऐसा स्वीकार नहीं करेगा।

अभी कुछ दिन पहले एक परिचर्चा में कुछ बुद्धिजीवी और राजनेता एकत्रित हुए और बहुत जोरशोर से उन्होंने एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्यक्रम की रूपरेखा को वापस लेने की बात कही। कारण यह बतलाया गया कि वह मूल्य शिक्षा और भारत के लोगों को सभी धर्मों की मूलभूत जानकारी देने की वकालत करता है और इस तरह इन लोगों ने एक बहुत बड़े दस्तावेज को भुला दिया। यह दस्तावेज है माननीय संसद सदस्यों की वह समिति जिसकी रिपोर्ट जनवरी 1999 में संसद के पटल पर रखी गई थी। इस समिति के सदस्य लगभग सभी पार्टियों के माननीय सांसद थे। इसके अध्यक्ष श्री शंकर राव चव्हाण थे। यह रिपोर्ट एन.सी.ई.आर.टी. के पास भी उपलब्ध है और हमने इस का अध्ययन भी किया है। यह जानते हुए कि माननीय संसद सदस्यों ने अपनी समझ और अनुभव से जो संस्तुतियां की हैं उन्हें देशव्यापी समर्थन मिल रहा है, एन.सी.ई.आर.टी. ने इस रिपोर्ट को अपनी सिफारिशों का आधार बनाया। ऐसी ही संस्तुतियां हमारी बहुत सी परिचर्चाओं में भी उभरीं थीं। मुख्य रूप से यही इस समय आलोचना का बिंदु है और कुछ लोग इन्हीं संस्तुतियों से भयभीत हैं। वास्तव में ये संस्तुतियां हैं शिक्षा में मूल्यों का स्थान और दूसरा सभी धर्मों की जानकारी। यह सही है कि एन.सी.ई.आर.टी. ने मूल्यों की शिक्षा की बात कही है, संवैधानिक मूल्यों की बात कही है, पांच उन मूल्यों की भी बात कही है जो संवैधानिक मूल्यों में शामिल हैं परन्तु अलग से भी हमने जिनकी बात कही है वे हैं: शांति, अहिंसा, सत्य, भाईचारा, सही आचरण और प्रेम। इन पांचों संस्तुतियों की वकालत चव्हाण समिति ने भी की है। जो लोग मूल्य शिक्षा की आलोचना कर रहे हैं उनसे मेरा अनुरोध है कि वे एक बार चव्हाण कमेटी की रिपोर्ट को भी ध्यान से थोड़ी देर के लिए ही सही अपने पूर्वाग्रह छोड़कर पढ़ें। चव्हाण समिति ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि भारत के सभी बच्चों को कक्षा 6 से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक सभी धर्मों की जानकारी दी जानी चाहिए। चव्हाण समिति ने यह भी कहा है कि जो कुछ भाईचारा बनाता है, सामाजिक समरसता को बढ़ाता है उसे हमें स्पष्ट रूप से बच्चे के सामने रखना चाहिए। दुनिया में कोई भी देश और कोई भी समझदार व्यक्ति इसके विरुद्ध नहीं जा सकता। भारत के लोगों के अनेक धर्म हैं और ये धर्म सदियों से साथ-साथ रह रहे हैं। उनको मानने वाले साथ-साथ रह रहे हैं। इस देश में ऐसे अनेकानेक उदाहरण हैं कि एक धर्म के लोग दूसरे धर्म के प्रति किस प्रकार से अपना आदर और सम्मान प्रकट करते हैं। यहां ऐसे भी स्थल हैं, ऐसे

भी स्थान हैं जहां सभी धर्मों के अनुयायी जाते हैं और सारे भेदभाव भुलाकर श्रद्धा, आदर और सम्मान को ही याद रखते हैं। ऐसे देश में यह बात कही जाए कि सब धर्मों की एक अपेक्षित जानकारी दी जानी चाहिए तो फिर ये चिंतित होने वाले लोग कौन हैं? उन्हें भारत की कितनी समझ है और ये बाकी लोगों की समझ का आदर क्यों नहीं कर पा रहे हैं? शिक्षा, मूल्य शिक्षा और धर्मों की जानकारी के यह प्रयास यदि 40 वर्ष पहले किए गए होते तो उन्हें भी इस देश को समझने का अवसर और अच्छे ढंग से मिला होता। अब कम से कम आने वाली पीढ़ी इस सबसे वंचित नहीं रहेगी।

एक विद्वान आलोचक के अनुसार एन.सी.ई.आर.टी. ने अपने दस्तावेज में समयबद्धता, सफाई और मूल्य पर जोर दिया है और उनके अनुसार यह सारा कुछ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के दबाव में किया है क्योंकि समय की पाबंदी की बात, मूल्यों की बात बहुराष्ट्रीय कंपनियां ही करती हैं। हम नहीं!

मैं समझता हूं आलोचकों की समझ को जानने के लिए अन्य उदाहरणों की कोई आवश्यकता अब नहीं रही है। ये लोग वैदिक मैथमेटिक्स का नाम लेने मात्र से भड़क उठते हैं। इन्हें उन बच्चों की भी चिंता नहीं हुई, उन लाखों बच्चों की जो प्रति वर्ष परीक्षाओं में केवल इसलिए असफल हो जाते हैं क्योंकि गणित को रुचिकर नहीं बनाया जा सका है, गणित को जीवन से जोड़ा नहीं जा सका है। गणित से उन का सामंजस्य नहीं बैठाया जा सका है। एन.सी.ई.आर.टी. ने पिछले पांच वर्षों में गणित को व्यावहारिक रूप देने के लिए, उसमें बच्चों की रुचि उत्पन्न करने के लिए अनेक प्रयोग किए और हमने मैथमेटिक्स-कार्नर बनाने की बात कही है जिससे गणित की शिक्षा से जो भय बनता है वह दूर हो।

प्रश्न उठता है जो पुस्तक 30 साल पहले से चल रही है क्या वही आने वाले समय में भी चलती रहनी चाहिए? धर्म विशेष या समुदाय विशेष को इन आलोचकों के लिखे कुछ वाक्यों से व कुछ घटनाओं से दुख पहुंचा है, उनकी दूरियां बढ़ी हैं, उनको वैसे का वैसा ही रखा जाना क्या तर्कसंगत है? क्या हम देश के लोगों के और सम्माननीय व्यक्तियों के प्रति अपना आदरभाव प्रकट नहीं कर सकते? क्या हम उन चीजों पर पुनर्विचार नहीं कर सकते जिन के कारण तनाव बढ़ता है, जिनके कारण दूरियां बढ़ती हैं और यदि शिक्षा यह नहीं कर सकती है तो शिक्षा को शिक्षा कहलाने का क्या हक है? क्या हम इस तथ्य को भुला देंगे कि भारत के लोग धार्मिक हैं और भारत एक पंथ निरपेक्ष राष्ट्र है? परन्तु वह सब धर्मों का आदर भी करता है और लोगों से अपेक्षा करता है कि वे सभी भेदभाव भुलाकर एक दूसरे के कंधे से कंधा मिलाकर देश की प्रगति में योगदान दें। एन.सी.ई.आर.टी. ने कुछ समय पहले एक कार्यक्रम प्रारंभ किया— बच्चों के द्वारा सामुदायिक गीत गाना, सभी भाषाओं के गीत गाना। नवम्बर, 2000 में एक ऐसा ही कार्यक्रम 10,000 बच्चों

के द्वारा दिल्ली के जवाहर लाल नेहरु स्टेडियम में पेश किया गया। कुछ लोगों ने इसकी भी आलोचना की ओर कहा कि एन.सी.ई.आर.टी. ने विभिन्न भाषाओं के गीतों के साथ-साथ सरस्वती वन्दना क्यों बीच में डाल दी है? उन्हें कहा भी गया कि सरस्वती वन्दना कहीं पर भी आवश्यक नहीं की गई है। सरस्वती वंदना तो जरूर किसी आदेश के अनुसार ही डाली गई होगी। यह कार्यक्रम मूल रूप से श्रीमती इंदिरा गांधी ने शुरू किया था। 1980 के बाद और उस समय जो पुस्तक एन.सी.ई.आर.टी. ने छापी थी, सरस्वती वंदना उसमें भी थी। तब किसी ने आलोचना नहीं की थी। एक नेता जी जो राष्ट्रीय स्तर पर जाने जाते हैं, मुझे एक बार मिले और कुछ चर्चा के दौरान मैंने जब कहा कि संस्कृत इस देश की सबसे बड़ी धरोहर है और इसे कहने में मुझे कोई एतराज नहीं है, तो वे बहुत नाराज हुए और बोले कि आप यह कैसे कह सकते हैं, लोग इस बात को बिल्कुल नहीं मानेंगे। उस समय मेरे हाथ में छोटी सी पुस्तक थी मैंने उनसे कहा कि इसे पढ़िए। यह वाक्य पढ़िए जो पंडित जवाहर लाल नेहरु का था, जिन्होंने कहा है बिना हिचक मैं कह सकता हूं कि भारत की जो सबसे बड़ी धरोहर है वह है संस्कृत और संस्कृत साहित्य एवं उसमें जो कुछ निहित है।

अपेक्षा करनी चाहिए कि इस समय की चर्चा निश्चित ही एक वस्तुपरक रूप लेगी और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर भारत के बच्चों की शैक्षिक आवश्यकताओं को केन्द्रबिन्दु में लाएगी। □□

18

सुधारोन्मुख परिवर्तन का विरोध

प्राथमिक शिक्षा के लिए विश्वव्यापी चाहत और स्वीकृति 20वीं शताब्दी की उपलब्धियों में मील का पत्थर मानी जाएगी। यद्यपि इसमें अभी तक पूर्ण सफलता नहीं मिली है, इसे प्राप्त करने की प्रक्रिया ने, मानव के प्रयासों तथा पहलों ने बदलाव के हर पक्ष पर प्रभाव डाला है। इतिहास के इस पड़ाव पर बदलाव हर जगह इतने बड़े पैमाने पर दिखाई पड़ रहा है जितना पहले कभी न तो अनुभव किया गया न ही समझा गया। कहने की आवश्यकता नहीं है कि परिवर्तन पृथ्वी पर मानव सभ्यता की वृद्धि एवं विकास की विशेषता रहा है। हर समय और काल में बदलाव को समझने, उसकी कल्पना करने, उसका विश्लेषण करने तथा फिर उसे स्वीकार करने या न करने का प्रयास होता रहा है। वांछित में से अवांछित को छान कर अलग करने की प्रक्रिया में अज्ञानता, निरक्षरता तथा गरीबी अक्सर बाधक बनते रहे हैं। सामान्य रूप से यह तो माना जाता है कि परिवर्तन अपरिहार्य है परन्तु अतीत से तादात्म्य स्थापित करने तथा हर नई चीज को शंका की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति के कारण इसका प्रतिरोध भी किया जाता रहा है।

परिवर्तन को 'समझदारी से' समझने की जरूरत सदा रही है। इस समझ के बाद ही स्वीकृति या अस्वीकृति का निर्णय होना चाहिए। परिवर्तन बड़े पैमाने पर भी हो सकता है और छोटे पैमाने पर भी। यह आवश्यक नहीं है कि इसके बाद भी जो कुछ स्वीकृत हो वह विकास की ओर ही ले जाए। सुधारों की ओर उन्मुख सभी परिवर्तनों में मूल उद्देश्य उनको व्यवस्था में संस्थापित करना होता है चाहे वे बड़े परिवर्तन हों या छोटे। अनावश्यक देरी से पहलों और नवाचारों का बिखराव हो जाता है। इसकी एक मिसाल शिक्षा आयोग (1964-66) की वह सिफारिश है जो भारत में समान विद्यालयी पद्धति के लिए आयोग ने की थी। तीस से अधिक वर्षों के बाद यह सिफारिश लगभग भुला दी गई है। इस सिफारिश पर अमल करने में निर्णायकों तथा क्रियान्वयन करने वालों द्वारा इस दिशा में गंभीर प्रयास नहीं किए गए। विद्यालयी शिक्षा के महत्व पर किए जाने वाले संवादों एवं विचार-विमर्शों में इस शब्दावली का प्रयोग अब कभी-कभार ही सुना जाता है।

हर देश का संविधान उसके लोकाचार तथा उसकी मुख्य चिंताओं और आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करता है। तदनुसार भारत के संविधान ने व्यापक प्राथमिक शिक्षा को एक बड़े राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में पहचाना जिसे शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त किया जाना था तथा उसके लिए केवल दस वर्षों की समय सीमा 1950 में निर्धारित की गई थी। एक नए स्वतंत्र हुए विशाल देश की यह एक क्रांतिकारी दृष्टि थी, विशेषकर उस समय जब देश को भोजन, पोषण, स्वास्थ्य, ऊर्जा, सुरक्षा तथा संसाधनों की कमी जैसे कई मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ रहा था। अपनी आवश्यकताओं की परिकल्पनाओं को साकार करने के लिए बौद्धिक तथा व्यावसायिक मानवशक्ति देश में ही तैयार करनी थी। स्वतंत्रता संग्राम की प्रथम पंक्ति के नेताओं ने एक ओर शिक्षा के महत्व को तथा दूसरी ओर भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल विकास की दिशा को तय करने की आवश्यकता को एक साथ समझा। यह सही है कि सबके लिए प्रारंभिक शिक्षा का वह दस वर्षीय लक्ष्य आज भी अभी बहुत दूर है। उस सन्दर्भ में प्राप्त उपलब्धियां भी महत्वपूर्ण हैं। स्वतंत्रता के समय भारत की आबादी की लगभग दो गुनी जनसंख्या अब साक्षर है। शिक्षा की उपलब्धियों में यह बहुत दीप्तिमान उदाहरण हो सकता था यदि 36 करोड़ लोग अभी भी निरक्षर न होते। जनसंख्या, गरीबी, पर्यावरण, ऊर्जा, पानी, नगरीकरण तथा दूसरी अनेक समस्याएं अभी भी बड़े परिमाण में देश के सामने हैं। शिक्षा के विस्तार की दिशा में इन्हें भी जोड़ना होता है। विद्यालयों में शैक्षिक नीतियों एवं पाठ्यचर्या को निर्धारित करने में सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक संदर्भ प्रमुख मुद्दे होते हैं। इनका सामंजस्य समझना जरूरी है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में पहली बड़ी शैक्षिक नीति जो 1968 में बनाई गई 'कोठारी आयोग की रिपोर्ट (1964-66)' का परिणाम थी। इसी नीति के आधार पर नई शिक्षा पद्धति लागू की गई। इस नीति ने ही बिना किसी भेदभाव के लड़के लड़कियों के लिए दस वर्षीय विद्यालयी पाठ्यचर्या को शुरू करने की सिफारिश की जिसके दूरगामी परिणाम हुए। पहली बार लड़के व लड़कियों के लिए दस वर्षीय विद्यालयी पढ़ाई में विज्ञान तथा गणित को अनिवार्य विषय बनाया गया। इस सिफारिश ने राष्ट्रीय प्रयासों से विकास के क्षेत्रों के लिए उचित मानवशक्ति तैयार करने के लिए महत्वपूर्ण एवं प्रभावी योगदान दिया। 1968 की नीति को राष्ट्रीय स्तर पर स्कूलों में क्रियान्वयन को वर्ष 1975 में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा विकसित किए गए विद्यालयी पाठ्यचर्या की रूपरेखा के जरिए मूर्त रूप दिया गया। इस रूपरेखा ने शिक्षा आयोग की सिफारिश को 'शिक्षा के आंतरिक रूपांतरण' के लिए अभिकेंद्रित किया जिससे राष्ट्र के जीवन, आवश्यकताओं एवं महत्वाकांक्षाओं तथा हमारे संविधान में स्थापित उन मूल्यों को इससे जोड़ा जा सके जो बहुवादी खुले समाज तथा स्वभाव से धर्मनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक व समाजवादी राज्य के विकास की ओर उन्मुख हैं। पाठ्यचर्या की पूरी

रूपरेखा में उन लक्ष्यों, संरचना के उद्देश्यों व मूल्यों एवं विषयवस्तु के निर्माण की विधियों को प्रतिबिंबित करने के हर संभव प्रयास किए गए। इस बात पर भी जोर दिया गया कि प्रणाली की परंपरागत संरचना को बदला जाए तथा दूसरे विकल्पों जैसे बहुल प्रवेशों, अंशकालीन शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा तथा विद्यालयों में कर्मियों, कलाकारों, लेखकों आदि के द्वारा शिक्षण द्वारा समग्र शैक्षिक रूपांतरण के लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास किया जाए। शिक्षा प्रणाली की जड़ता ने अपनी पकड़ बनाए रखी तथा कई सिफारिशें सही ढंग से व्यवहार रूप में क्रियान्वित नहीं हो पाई, हालांकि अनौपचारिक शिक्षा, प्रौढ़ साक्षरता, अंशकालीन शिक्षा, पत्राचार शिक्षा के प्रयास महत्वपूर्ण बन गए, जिनके अच्छे परिणाम सभी को दृष्टिगोचर होने लगे हैं।

अगली शिक्षा नीति का निर्धारण हुआ राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के रूप में। इसे 1968 की पहली नीति के आधार पर प्राप्त अनुभवों का अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने तथा इस बदलाव के फल का लाभ सभी वर्गों तक पहुंचाने के कार्य को सुनिश्चित करने की ओर अभिकेंद्रित किया गया। राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा को मुख्यमार्ग माना गया। इसने "युगों पुराने तरीकों" को एक नई दिशा प्रदान करने की आवश्यकता की भी संस्तुति की। 1968 से 1986 के बीच के अंतराल में शैक्षिक सुविधाओं का बड़े स्तर पर विकास और प्रसार हुआ। यह फैलाव देश की 90% से अधिक ग्रामीण जनसंख्या तक पहुंचा जहां अब एक किलोमीटर के दायरे में प्राथमिक शिक्षा का प्रावधान है। यह महसूस किया गया कि 1968 की नीति को विस्तृत क्रियान्वयन की रणनीति की अनुपस्थिति के कारण क्रियान्वयन में रूपांतरित नहीं किया जा सका। इसको 1986 का क्रियान्वयन का कार्यक्रम बना कर सुधारा गया जिसमें केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा अपनाए जाने वाली विशेष रणनीतियों, कार्यक्रमों तथा पहलों का विस्तृत ब्यौरा दिया गया था। एक बार फिर से विद्यालयी शिक्षा की पाठ्यचर्या के महत्व को समझा गया तथा देश के सामने उभरी नई परिस्थितियों का सामना करने के लिए एन.सी.ई.आर.टी. ने पाठ्यचर्या की एक नई रूपरेखा 1986 में बनाई और इस बार यह भी ध्यान दिया कि पाठ्यचर्या बोझ जैसे अनेकों मुद्दे व्यवस्था की प्रमुख चिंता बन गए हैं। उनमें से कुछ को परखने का प्रयास 1977 में 'ईश्वरभाई पटेल समिति' द्वारा किया गया था। इस रिपोर्ट की ओर बहुत ध्यान एवं समर्थन नहीं दिया गया। इसमें माध्यमिक स्तर पर गणित एवं विज्ञान के लिए विभिन्न स्तरों के पाठ्यक्रम की सिफारिश की गई थी। 1983 में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा एक अध्ययन किया गया जिसमें विद्यालयी प्रणाली में पाठ्यचर्या बोझ तथा बड़ी संख्या में असफलताओं के लिए जिम्मेदार अनेक कारकों का विश्लेषण किया गया। इसमें विशेषरूप से सार्वजनिक परीक्षाओं के वर्चस्व की ओर इशारा किया गया जो विद्यार्थियों में सीखने की रुचि को नष्ट करने के लिए बहुत हद तक जिम्मेदार है। 1988 की पाठ्यचर्या की रूपरेखा में भविष्य के अच्छे नागरिकों

के निर्माण हेतु विद्यालयी पाठ्यचर्या में अनेक चिंताओं को आत्मसात करने पर जोर दिया गया है। इसमें शिक्षा की गुणवत्ता एवं अवसर, सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण, संवैधानिक जिम्मेदारियों, राष्ट्रीय पहचान तथा एकता को मजबूत करना, चरित्र निर्माण एवं मूल्यों को मन में बैठाना, सार्वभौमिक संकल्पना का विकास, पर्यावरण की सुरक्षा एवं प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण व छोटे परिवार के मानदंड शामिल हैं।

इन दोनों पाठ्यचर्या रूपरेखाओं का राज्य सरकारों तथा उनकी व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा विश्लेषण किया गया। सामान्य रूप से उन्हें स्वीकारा व सराहा गया। दोनों ही अवसरों पर तत्पश्चात् एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा तैयार की गई पाठ्यपुस्तकों के साथ-साथ राज्यों द्वारा भी ऐसे ही अभ्यास किए गए, जिसमें स्पष्ट रूप से स्थानीय विशिष्ट मुद्दों एवं संसाधनों को ध्यान में रखा गया। 1988 के बाद यह आशा की गई थी कि पाठ्यचर्या को हर पांच वर्षों के बाद संशोधित किया जाएगा। इस बात पर 1992 के नीति निर्धारण में भी जोर दिया गया था। एन.सी.ई.आर.टी. इस समय सीमा में नई पाठ्यचर्या की रूपरेखा लाने का प्रयास नहीं कर सकी और न ही नई पाठ्यपुस्तक श्रृंखला निर्मित हो पाईं। इधर कई वर्षों से विद्यालयी शिक्षा प्रणाली में यह प्रश्न उठाया गया है कि 1988 में विकसित की गई पाठ्यपुस्तकों तथा दूसरी सामग्री की अनुकूलता तथा उपयुक्तता सन् 2000 की आवश्यकताओं के अनुरूप कैसे मानी जाए? इस व्यावसायिक आवश्यकता पर ध्यान देते हुए एन.सी.ई.आर.टी. ने 1999 के उत्तरार्ध में पाठ्यचर्या विकसित करने की प्रक्रिया को आरंभ किया तथा इसे जनवरी 2000 में राष्ट्र के समक्ष विचार-विमर्श दस्तावेज के रूप में रखा, जिसमें उन सभी प्रमुख समस्याओं एवं मुद्दों को सूचीबद्ध किया गया, जिनका पहले के अनुभव एवं भविष्य की संकल्पना को आधार बनाकर विद्यालयी शिक्षा को उत्तर देना है।

पिछले पांच दशकों का अनुभव राष्ट्र को सावधान करता है कि शिक्षा-नीतियों का ईमानदारीपूर्वक क्रियान्वयन हो तथा विशेष रूप से विद्यालयों के लिए ऐसी पाठ्यचर्या को विकसित किया जाए जो 'संस्कृति से जुड़ी हो तथा विकास के प्रति निष्ठावान रहे'। समानता, एकरूपता एवं प्रासंगिता के स्तंभों पर आधारित दृढ़ता से जुड़े समाज निर्माण की आवश्यकता को हल्के रूप में नहीं लिया जा सकता। इसे प्राप्त करने के लिए स्वदेशी ज्ञान को शामिल करना एवं भारतीय विचारकों, वैज्ञानिकों, सृजकों तथा समुदायों के योगदान को मान्यता प्रदान करना तथा उसे उचित प्रकार से उल्लेखित करने की आवश्यकता है। यह राष्ट्र से जुड़े होने की भावना तथा देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता की समझ उत्पन्न करेगी जो 'वसुधैव कुटुंबकम्' जैसी भावना से ओत-प्रोत होगी। पाठ्यचर्या बोझ को कम करना, प्रशिक्षु के समग्र व्यक्तित्व के विकास की आवश्यकता, मानवाधिकारों तथा मूलभूत कर्त्तव्यों को आत्मसात् करना, सूचना एवं संप्रेक्षण तकनीकें एवं सार्वभौमीकरण जैसे मुद्दों को अब और अधिक अनदेखा नहीं किया जा सकता। विद्यालयी शिक्षा के संदर्भ में एक

ओर चरित्र निर्माण के मुद्दों तथा दूसरी ओर विज्ञान एवं तकनीकी के एकीकरण पर हमें बहुत गंभीरता से बहस करनी होगी। भारतीय समाज की बहुलताएं एवं अनेकताओं से राष्ट्र को अंतर्निहित शक्ति मिलती है जो समाज के हर तबके को आत्मविश्वास देगी। यदि परिवर्तन की प्रक्रिया को हर कदम पर सावधानीपूर्वक जांचा-परखा नहीं गया तो आवश्यक नहीं कि शिक्षा में सही ढंग के सुधार हो सकेंगे। इसे बहुत ही सूक्ष्मतापूर्वक समझने की जरूरत है कि यह आवश्यक नहीं है कि हर परिवर्तन से सुधार होगा ही। इसे प्राप्त करने के लिए मात्र परिवर्तन का एक हिस्सा बनकर कोई भी संतुष्ट नहीं हो सकता। राष्ट्र को स्वयं परिवर्तन के नेतृत्व के लिए तैयार होना होगा। भारतीय शिक्षा प्रणाली को व्यक्तियों, संस्थाओं, संगठनों एवं निर्णय लेने वालों से उनकी व्यक्तिगत पसंद-नापसंद से हटकर, व्यावसायिक प्रणाली तथा सार्थक क्रियान्वयन की रणनीति अपनाने की आवश्यकता है। 21वीं शताब्दी में भारत को महाशक्ति बनने के लिए अच्छी शिक्षा ही एकमात्र कुंजी है। □□

19

शिक्षार्थी आज हाशिये पर है

हज़ारों वर्षों से अनवरत चलती आ रही आध्यात्मिक खोज और समझ भारतीय राष्ट्र की सबसे मूल्यवान धरोहरों में से एक है। मानव व्यक्तित्व का आध्यात्मिक पक्ष तथा वैज्ञानिक परंपरा से परिपूर्ण एक समग्र दूरदृष्टि सांस्कृतिक लोकाचार का प्रबल बिंदु है। भारतीय पारंपरिक विचार 'धर्म' या 'सही आचरण' को सभी मतों और सीमाओं से अलग रखता है। यह आध्यात्मिक परंपरा चिंतकों, संतों और महात्माओं द्वारा आज के संदर्भ में भी विश्लेषित तथा सविस्तार प्रतिपादित की गई है। वेदांत दर्शन को पुनः आदर और श्रद्धा से पढ़ा और समझा जा रहा है। आज भौतिक उपलब्धियों ने आध्यात्मिक समझ के प्रयत्न को पीछे छोड़ दिया है। यदि मानवीय सोच-विचार और मूल्यों को दोनों में मिला दिया जाए तो जरूरी नहीं कि ये दोनों एक-दूसरे के विपरीत दिखें। स्वामी रंगनाथानंद अपने लेख में बहुत स्पष्ट संकेत देते हैं कि भौतिक सुधार के लिए किए गए प्रयास आध्यात्मिक दर्शन की समझ के प्रयासों से विपरीत दिशा में जाएं, ऐसा भी आवश्यक नहीं है। दोनों संयमित रहकर, साथ-साथ भी चल सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने अनैच्छिक या थोपी हुई दरिद्रता को अनाध्यात्मिक माना है। उन्होंने देशवासियों का सदा आह्वान किया कि लोगों के जीवन स्तर के सुधार में स्वयं को लगा दें क्योंकि मूलभूत मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरान्त ही उनका आध्यात्मिक जीवन पनप सकता है। वे इस पर विश्वस्त थे और उन्होंने साफ कहा था "मैं ऐसे धर्म में विश्वास नहीं करता जो किसी विधवा के आंसू न पोंछ सके या अनाथों का विलाप न रोक सके" तथा "यदि मेरे देश में एक कुत्ता भी भूखा है तो मेरा धर्म उसके लिए खाना उपलब्ध कराना है।"

गांधीजी ने भारतीय परंपरा और संस्कृति का सूक्ष्म तथा विशाल अर्थ और उसकी आन्तरिक शक्ति और निरन्तरता को समझा था। उन्होंने स्वयं भारतीय परंपरा, आध्यात्मिकता और धर्म की विशाल हृदयता की ताकत को आत्मसात् किया। भारत के सभी धर्मों के आधारभूत दर्शन से उन्होंने स्वयं शक्ति ग्रहण की। अपने विचारों, कार्यों और क्रियाकलापों द्वारा उन्होंने सामाजिक समरसता, परस्पर आदर और

साथ-साथ रहना सिखाया। कैसे यह सब किया, यह जानने के लिए उनका एक वक्तव्य याद करना काफी होगा : "मेरा जीवन ही मेरा संदेश है।" शिक्षा के महत्व को देश की प्रगति तथा जन कल्याण के लिए उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति के बहुत पहले समझा। भारत के लिए शिक्षा कैसी हो   इस पर चिन्तन किया तथा क्रियान्वयन करके देश के सामने रखा।

बुनियादी शिक्षा का दर्शन वास्तव में सामाजिक तथा आर्थिक धर्मतंत्र में अंतिम आदमी के जीवन में गुणात्मक सुधार करना था। उनका 'मंत्र' और 'जंतर' था मानवता, श्रमसाध्यता तथा विचारशीलता। उनकी अपेक्षा थी कि व्यक्ति विशेष के हर कार्य का निर्धारण, प्रकृति और समाज से जिन्हें कम से कम सुविधाएं उपलब्ध हैं, उन लोगों के प्रति उनकी उपयोगिता के परिमाण जानने और समझने के बाद ही किया जाए। उनका समाज पूर्णरूपेण समानता वाला एक स्वप्नवत् समाज था। उन्होंने राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय ज्ञान उपलब्ध कराने हेतु सभी खिड़कियां खुली रखने की वकालत की ताकि भारतीयता आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों से भी जुड़ी रहे तथा समय के साथ-साथ चले।

स्वामी विवेकानन्द भी चाहते थे वेदांत की आत्मा तथा आधुनिक विज्ञान का समीकरण बैठाया जाए। विकास और वैभव की दौड़ की प्रक्रिया में और संभवतः आंतरिक तथा बाहरी प्रभावों के दबावों में भारतीय लोकाचार द्वारा ज्ञान के सृजन, निर्माण तथा प्रसार का मार्ग भ्रमित हो गया। यह सुखद आश्चर्य है कि पश्चिमी जगत ने भी भारतीय ज्ञान और पांडित्य की उस परंपरा को, जो विवेक और आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करती है, पुनर्जीवित करने हेतु चिंता व्यक्त की है। वे उसे आयुर्वेद, योग व ध्यान की उपयोगिता का अनुभव कर सराहते हैं। यह तनाव, थकान तथा दबावों से परिपूर्ण दुनिया में मुक्ति का मार्ग हो सकता है। कुछ समुदायों तथा राष्ट्रों में वैभव, धन सम्पन्नता तथा विलासिता आई है। वह भी अनुभव से जानते हैं कि सुख और सन्तोष भौतिक बाहुल्य से नहीं प्राप्त होते हैं। परिणामस्वरूप आज जीवन जितना खोखला है, पहले कभी नहीं था। अतएव भारतीय परंपरा और मूल्यों पर भारत में ध्यान देना जरूरी है। यहां सहभागिता, दान, असंचयन, 'अपरिग्रह' का आदर और पालन व्यक्तिगत तौर पर तथा समुदाय द्वारा सदा किया जाता रहा है। इनकी स्वीकृति विश्व समुदाय को प्रभावित कर सकती है।

हमने क्यों और कैसे पारंपरिक ज्ञान, विवेक और पांडित्य को आगे बढ़ाने में रुचि लेना छोड़ दिया? जीवन के उद्देश्यों और लक्ष्यों को सही ढंग से न समझ पाना ही इस 'परिवर्तन' का कारण हो सकता है। यह समाज तथा व्यक्ति पर विकृत प्रभाव छोड़ रही है। हम इन विनाशकारी प्रवृत्तियों को समीक्षात्मक तथा विश्लेषणात्मक दृष्टि से नहीं देख पा रहे हैं जो वास्तव में राष्ट्रीय चिंताओं का मुद्दा है और जिसे संभवतः इस स्तर पर प्राथमिकता के आधार पर समझा और सुलझाया जाना चाहिए।

धनाढ्यता के मानस का विस्तृत अध्ययन किए जाने से बड़ी मदद मिलेगी, विशेष रूप से उनको जिनके पास अधिक भौतिकता प्राप्त करने एवं अच्छे आर्थिक भविष्य के लिए योजनाएं तथा कार्यक्रम हैं। धनाढ्यता ने पश्चिम में जनसंख्या के एक बड़े भाग को अस्त-व्यस्त कर दिया है, विशेष रूप से युवा जनों को। धन-वैभव से ऊबे हुए वह लोग मोक्ष एवं आध्यात्म की खोज में भारत की ओर झुंडों में भागे चले जाते हैं। भारतीय 'गुरु' अपने नुस्खों के साथ आसान हलों को लिए उनकी राह देख रहे हैं। वह स्वयं भी बड़ी संख्या में विदेशों में जा रहे हैं। इसका केवल अच्छा प्रभाव ही पड़ रहा हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वे भारत की यात्रा पर अक्सर आते हैं तथा अमरीका में गए अपने आश्चर्यजनक कार्यों के बारे में बताते हैं। हमारे लिए प्रासंगिक यह है कि मानसिक अस्त-व्यस्तता के कारणों एवं जीवन में खोखलेपन का ज्ञान जो पश्चिमी दुनिया में अनुभव किया जा रहा है, उसे हम भी समझें, अपनी परिस्थितियों और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में।

भारतीय द्रष्टाओं एवं मनीषियों ने जीवन के वास्तविक अर्थ को समझने में अनेक युगों तक प्रयास किए। आज विश्व समुदाय में भविष्य की पीढ़ी के लिए अपेक्षित चिंता तथा तैयारी दृष्टिगत नहीं होती है। सूचना प्रौद्योगिकी या सूचना एवं संप्रेषण तकनीक देश की सारी बीमारियों के लिए रामबाण औषधि जैसी प्रतीत हो रही है। सूचना प्रौद्योगिकी के व्यक्तियों की भारत के बाहर बढ़ती मांग हमें आनंदित करती है तथा हम भारतीय शिक्षा प्रणाली द्वारा तैयार सर्वोत्तम व्यक्तियों से इस मांग को पूरा कर सकने को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक कदम उठा रहे हैं। ऐसा करते हुए हम उन दूसरे युवा व्यक्तियों को भूल गए हैं जिनके कार्य करने की क्षमताएं एवं सामर्थ्य को आंका ही नहीं जा रहा है। क्या यह आवश्यक नहीं है कि बेरोजगारी, अवसरों एवं कार्यक्षेत्रों में कमी के कारण जो युवा शक्ति व्यर्थ जा रही है उसका विश्लेषण किया जाए? नैतिक पतन तथा उत्साहहीनता के स्तर की गणना कभी गणित द्वारा नहीं की जा सकती है। अनेक स्तरों पर विद्यालयी असफलताओं ने 90% से अधिक बच्चों के मन पर नैतिक पतन की छाप छोड़ी है। ये वे बच्चे हैं जो दस वर्षीय विद्यालयी शिक्षा में सफलता प्राप्त करने से वंचित रहे। कुछ स्कूल नहीं गए, कुछ बीच में छोड़ गए और कक्षा दस की परीक्षा में बैठने वाले साठ प्रतिशत असफल रहते हैं। दसवीं की परीक्षाओं में अंक देने की पद्धति के स्थान पर 'ग्रेडिंग' लागू करने के, व्यावसायिक रूप से ठोस सुझावों की अनदेखी कर दी गई है जो निश्चित रूप से गैर व्यावसायिक है और अनुसंधानों पर आधारित नहीं है।

राष्ट्र को समझना होगा कि भारतीय परंपरा के अनुसार शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को, अन्य व्यक्तियों को दुःखद परिस्थितियों से उबारने में अपना योगदान देना सिखाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह प्रवृत्ति आज उलट गई है और भारतीय शिक्षा को एक नया मुहावरा मिला है जो संक्षेप में इस प्रकार है : 'जो गांव में पढ़ते

हैं, शहरों के लिए निकल जाते हैं, जो शहरों में शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे महानगरों के लिए निकलने का प्रयास करते हैं तथा वे भाग्यशाली हैं जो महानगरों में शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे विदेश जाकर वहीं बसने का सपना देखते हैं।' कोई राष्ट्र इन परिस्थितियों को अनदेखा नहीं कर सकता क्योंकि यह सब सामाजिक विघटन को घटाता नहीं है, बढ़ाता है।

जब हम मेधावी भारतीय युवाओं की बात करते हैं तब हमारे दिमागों में केवल नामी संस्थाओं से निकले युवा होते हैं, विशेष रूप से वे जो भारत के बाहर स्थान पर रहे हैं। शेष बचे हुए क्या मेधावी एवं प्रखर नहीं हैं? क्या वे देश के विकास और प्रगति में योगदान करने में अक्षम हैं? इस राष्ट्र में हर मानव जीवन को ईश्वरप्रदत्त मानने की परंपरा है।

समाज व शिक्षा के समक्ष चुनौती है कि ईश्वरप्रदत्त मानवता के रूप को तथा हर व्यक्ति के अंदर मौजूद संपूर्णता को सामने लाएं। यह विचार कि हर व्यक्ति में असीमित सामर्थ्य विद्यमान है, सार्वजनिक रूप से संसार भर में मान्य है। यूनेस्को द्वारा 21वीं शताब्दी के लिए शिक्षा पर गठित किए गए आयोग की रिपोर्ट, जिसे डेलोर्स रिपोर्ट के नाम से जाना जाता है, बहुत स्पष्ट तौर पर इन विचारों को स्वीकार करती है। इस रिपोर्ट का शीर्षक दिया गया है "लर्निंग द ट्रेजर विदिन", "ज्ञान का 'खज़ाना' जो सीखने वाले के अंदर है।" भारतीय शिक्षा प्रणाली के नीति-निर्धारकों एवं निर्णय लेने वालों के समक्ष मुद्दा यह है कि इस खजाने को कैसे बाहर लाएं। भारतीय सभ्यता में अंतर्निहित सबसे सुंदर मूल्य हैं : सभी के कल्याण के लिए प्रयास किए जाएं, "सर्वभूतहिते रतः" यह धारणा हर व्यक्ति की श्रेष्ठता का आदर करती हुई हर व्यक्ति के आध्यात्मिक चरित्र को संपोषित करती है। यह सब तभी संभव होगा जब हर युवा को अपनी क्षमताओं को साधने व संपोषित करने का मौका मिले। स्पष्ट रूप से इसे समाज की चिंताहीनता तथा प्रणाली के प्रति समाज की उपेक्षा, साधनों की खामियों एवं अवसरों के अभाव को रहते कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

डेलोर्स आयोग रिपोर्ट हर देश के लिए जोरदार सिफारिश करती है कि शिक्षा को देश की संस्कृति की जड़ों के साथ जुड़ा रहना एवं प्रगति के प्रति समर्पित होना चाहिए। इस वक्तव्य पर कभी दो मत नहीं हो सकते तथा यह सार्वभौम रूप से स्वीकार्य प्रतीत होता है। स्मरण रहे कि विवेकानंद यही चाहते थे तथा इसी कारण गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा के सिद्धांत तथा व्यवहार की पैरवी की। अच्छी शिक्षा ही और अधिक शिक्षित होने का मार्ग दिखा सकती है। जीवनपर्यंत शिक्षा का लक्ष्य तभी प्राप्त हो सकता है जब व्यक्ति संवेदनशीलता एवं परानुभूति के साथ सीखने की प्रक्रिया जाने। अकेली शिक्षा ही प्रत्येक व्यक्ति को मुक्ति दिला सकती है एवं न केवल भौतिक जीवन की बल्कि उसके आध्यात्मिक एवं आंतरिक जीवन की गुणवत्ता

में भी वृद्धि कर सकती है।

यह बहुत जरूरी हो गया है कि भौतिकवाद के प्रभावों, जीवन की गुणवत्ता का अर्थ, शिक्षा प्रणाली की उपयुक्तता, शिक्षा की विषय-सामग्री एवं प्रक्रिया प्रबंधन तथा इन जैसे अन्य मुद्दों पर अनेक स्तरों पर गहराई से विचार-विमर्श किया जाए। एल.पी.जी. की नई क्रांति, उदारीकरण, निजीकरण एवं सार्वभौमीकरण को बहुत ही गंभीरतापूर्वक लेने की आवश्यकता है, विशेष रूप से इसके एक ओर सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक पक्षों पर रहने वाले प्रभावों तथा दूसरी ओर शिक्षण के माध्यम के परिप्रेक्ष्य में। इस देश ने हमेशा बाहरी प्रभावों का स्वागत किया है। इसमें से हमारे लिए क्या उपयोगी है तथा भावी पीढ़ियों द्वारा क्या उपयोग किया जा सकेगा, इसे छानने और इसका विश्लेषण करने की क्षमता विकसित करने की आवश्यकता है। राष्ट्र के सामने शैक्षिक उद्देश्य तेजी से सुस्पष्ट हो रहे हैं। भारतीय परंपराओं को समझना एवं युवाओं में इसके बारे में अधिक ज्ञानार्जन की जिज्ञासा का बीज बोना राष्ट्र को एक शिक्षित समाज बनाने की दिशा में बढ़ने के प्रयासों को और अधिक बल प्रदान करेगा। □□

20

स्कूली शिक्षा के संदर्भ

आज प्रत्येक व्यक्ति को यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जहां कुछ न कुछ बदल न रहा हो। बदलाव की तेजी से सभी आश्चर्यचकित हैं। हर क्षेत्र में आया हुआ यह बदलाव पूरी तरह प्रगति की ओर ही जाता हो यह आवश्यक नहीं है। बदलाव की दिशा कितनी उन्नति की ओर है और कितनी नहीं, इसका निर्णय करने के लिए बदलाव की पूरी प्रक्रिया को समझना आवश्यक होगा। उससे दूर रहने का प्रश्न ही अब नहीं बचा है। अतः उसका अंग बनने के लिए उस प्रक्रिया को दिशा देने की हमें क्षमता प्राप्त करनी होगी।

यह सूचनाओं का युग, सूचनाओं का समय कहा जा रहा है। हर तरफ जानकारियां बढ़ रही हैं। उससे भी बड़ा और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ये जानकारियां लोगों तक पहुंच रही हैं। इस समय आदमी की औसत जानकारी आज से 100 वर्ष पहले के आदमी की औसत जानकारियों से कितने ही गुणा अधिक सिद्ध होगी। आज का 12 वर्ष का बच्चा आज से 30 वर्ष पहले के अपनी उम्र के बच्चे से कितनी ही अधिक जानकारी रख सकता है। अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए आज हमें अनेक स्रोत और साधन उपलब्ध हैं, इनमें से कुछ ऐसे हैं जिनकी 30 वर्ष पहले कल्पना भी नहीं की गई थी।

बढ़ी हुई जानकारियां उपयोगी हो सकती हैं और होती भी हैं, परन्तु उन्हें ग्रहण करने की व्यक्ति की क्षमता पर भी चिंतन आवश्यक हो रहा है। किसी भी व्यक्ति विशेष की नई जानकारियों को आत्मसात् करने की क्षमताएं असीमित नहीं होती हैं अतः उपलब्ध सूचनाओं में से यह तय कर पाना कि क्या ग्रहण करना है और क्या नहीं, अपने आप में एक कौशल है जिसका विकास करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आज आवश्यक होता जा रहा है।

जानकारियों के स्रोत के इस युग में दो अन्य 'विस्फोटों' की भी चर्चा करनी चाहिए। सूचना तथा जानकारी सम्बन्धी 'विस्फोट' के साथ-साथ किसी भी राष्ट्र का पूरा परिदृश्य उसके आणविक तथा इच्छाओं के 'विस्फोट' को मिला-जुला कर ही समझा जा सकता है। सूचनाएं ज्ञान और इसके पश्चात् बुद्धि के विकास में सहायक

होती हैं। मानव सभ्यता के विकास की प्रक्रिया में तीन महत्वपूर्ण पड़ाव देखे गए हैं। पहला : जब भौतिक शक्ति सत्ता के लिए आवश्यक मानी जाती रही है, उसके बाद के युग में पिछले कुछ समय तक और कुछ हद तक आज भी धन की शक्ति सत्ता की प्रतीक रही है। फ्रांसिस बेकन ने बहुत पहले कहा था कि ज्ञान ही सत्ता है। बीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक में चर्चिल ने कहा था कि भविष्य के साम्राज्य मस्तिष्क के साम्राज्य होंगे। जो अपने मस्तिष्क को जितना विकसित करेगा उतना ही वह सत्ता के निकट पहुंच जाएगा। आज इस कथन का सत्य विश्व के सामने आ रहा है। अब समय आ गया है कि सत्ता, समृद्धि और सार्वभौमिकता ज्ञान और बुद्धि के द्वारा ही नियंत्रित और निर्धारित होंगे। आने वाला समाज ज्ञान आधारित समाज होगा। इसे यों भी कहा जा सकता है कि आने वाला समाज 'सीखने वाले लोगों का समाज' होगा। ऐसे लोगों का, जो लगातार अपने कौशल, क्षमताओं, गुणों और बुद्धि का विकास करने के लिए तत्पर रहेंगे। ऐसा नहीं होने पर कोई भी समुदाय या समाज ज्ञान आधारित समाज नहीं बन सकता। ज्ञान की कमी, बुद्धि की कमी में परिवर्तित होगी और उसके परिणाम समाज विशेष के लिए आशाजनक नहीं रहेंगे। ऐसा समाज पिछड़ जाएगा।

आज ज्ञान आधारित समाज के साकार होने की प्रक्रिया तेजी से प्रारम्भ हो चुकी है। यहां तक पहुंचने में कितने ही पड़ाव देखे जा सकते हैं और ढूंढे जा सकते हैं ऐसे समाज में जो व्यक्ति आज तकनीक की नई प्रणालियों और नए प्रभावों से पूर्ण रूप से परिचित है वह भी कुछ ही वर्षों में फिर अनपढ़ हो सकता है, यदि वह निरंतर अपने ज्ञान और कौशल का परिमार्जन और नया ज्ञानार्जन नहीं करता रहता है। इस पृष्ठभूमि में शिक्षा का सारा परिदृश्य बदल जाएगा। उसका उद्देश्य, चिंतन और शिक्षा प्रदान करने तथा ग्रहण करने की प्रणालियां लगभग नए कलेवर में लोगों के सामने आएंगी। कक्षा का स्वरूप, विद्यार्थियों और अध्यापकों का संबंध, शिक्षा की व्यवस्था, शिक्षा में सहयोग, शिक्षा की गुणवत्ता इत्यादि कितने ही नए प्रश्न अपना उत्तर पाने के लिए शिक्षाविदों के सामने खड़े हो रहे हैं। आगे आने वाले समय में शिक्षा के मुख्य उद्देश्य निर्धारित करने की प्रक्रिया अधिकांश देशों में चल रही है। यूनेस्को ने एक विश्व स्तरीय आयोग बनाकर इसमें चिंतन करने का आह्वान किया है। जैक डेलोर्स की अध्यक्षता में बने इस आयोग ने शिक्षा के चार स्तंभ गिनाए हैं

1. जानने के लिए शिक्षा
2. कार्य करने के लिए शिक्षा
3. बनने के लिए शिक्षा
4. मिलकर रहने के लिए शिक्षा

इस आयोग ने जो मुख्य उद्देश्य निर्धारित किए हैं उसमें सबसे पहला इस पर

आधारित है कि लोगों को आगे चलकर अपने से अलग संस्कृति, आचार-विचार, धर्म, भाषा इत्यादि के लोगों के साथ मिलकर रहना सीखना होगा। विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों, देशों के लोगों के साथ मिलकर काम करने के लिए तैयार होना पड़ेगा। समाज में सामंजस्य और समता लाने में शिक्षा महत्वपूर्ण योगदान देगी।

शिक्षा का एक जाना-माना उद्देश्य कि हर व्यक्ति की सृजनात्मकता का विकास हो, आगे के वर्षों में यह प्रमुखता के साथ उभरकर सामने आएगा। नई शिक्षा व्यवस्था को समाज में पनप रहे बहुत से तनावों से जूझना पड़ेगा। दूरियां कम हो गई हैं। लोग विश्वभर में एक-दूसरे के पड़ोस में आ गए हैं। पृथ्वी कई अर्थों में एक छोटे से गांव में बदल गई है। इन सबके परिणामस्वरूप तनाव पैदा हुए हैं उसमें मुख्य हैं वैश्विक और स्थानीय के बीच का तनाव, सार्वजनीन और व्यक्ति के बीच का तनाव, लंबे समय के परिदृश्य और निकट भविष्य के परिदृश्य में सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता का तनाव, प्रतिस्पर्द्धा और अवसर की समानता के बीच का तनाव, ज्ञान में आशातीत वृद्धि और मनुष्य की ग्रहण करने की क्षमता के बीच असामंजस्य की स्थिति का तनाव और सबसे अंत में सबसे महत्वपूर्ण, इस आध्यात्मिक और भौतिकवाद के बीच के तनाव का बढ़ता हुआ परिमार्ग! अगर वैश्विक गांव के लोगों को एक-दूसरे के पड़ोस में रहना है तो विश्व का भविष्य जो भी होगा उससे ही व्यक्ति प्रभावित होगा। अतः शिक्षा की जिम्मेदारी यह भी होगी कि वह एक 'कॉमन ग्लोबल फ्यूचर' अर्थात् समान और सम्मिलित वैश्विक भविष्य के लिए हर भावी नागरिक को ख़ासतौर से तैयार करे।

शिक्षा से हमारी आवश्यकताएं और हमारी अपेक्षाएं बढ़ी हैं। अधिकांश देशों में भौतिक रूप से प्राप्त उपलब्धियों को जीवन की गुणवत्ता का प्रतीक माना जाता है। भारतवर्ष में बेहतर गुणवत्ता की ओर जाने में भौतिक उपलब्धियों से अधिक आध्यात्मिक उपलब्धियों और समझ को महत्व दिया जाता रहा है। यहां पर बेहतर जीवन के साथ-साथ उच्च स्तरीय आध्यात्मिक जीवन की परिकल्पना की गई है। आध्यात्मिक चिंतन में हजारों वर्षों से भारत का चिंतन विश्व में अग्रणी रहा है और इस तथ्य को आज ऐतिहासिक स्तर पर स्वीकार भी किया जाता है। आज सारा विश्व अपने बढ़ते हुए तनावों से त्रस्त भारत की ओर उन समस्याओं के समाधान के लिए देख रहा है जिनके कारण मनुष्य, विशेष रूप से विकसित देशों के नागरिक, सारी भौतिक सुख-सुविधाओं के उपलब्ध होते हुए भी तनाव, चिंता और असामंजस्य का जीवन जी रहे हैं। उन्हें 'योग' और 'अध्यात्म' के क्षेत्र में भारत ही अग्रणी दिखाई देता है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि पिछली धरोहर को लगभग भुला दिया है। उससे जो हमारे लगाव होने चाहिए थे, हमारा उन पर जो आत्मविश्वास पैदा होना चाहिए था, वह सब हमारी विस्मृति में चला गया है। आज 'योग' के संबंध में जब अमेरिका और यूरोप से लोग यहां आते हैं तब हम स्वीकार करते हैं कि

पातंजलि ने किस स्तर का चिन्तन किया होगा। आज भी लोग उस स्तर तक नहीं पहंच पाए हैं। प्राकृतिक चिकित्सा और प्राकृतिक जड़ी-बूटियों के संबंध में जानकारी देने के लिए आज बाहर के देश के लोग यहां आ रहे हैं, नीम और हल्दी के 'पेटेंट्स' अमेरिका और जापान में बन रहे हैं!

इस स्थिति के लिए जो भी उत्तरदायी हों शिक्षा-तंत्र निसन्देह उसमें शामिल है।

हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था को 1836 में मैकाले के द्वारा निर्मित, प्रतिपादित, अनूदित और संचालित किया गया और उस व्यवस्था का उदाहरण मैकाले के उद्देश्य और उस समय के शासन तंत्र की आवश्यकताएं एक-दूसरे की पूरक थीं। हमने सुदूर यूरोप में चलने वाली व्यवस्था को अपनाया। उसके बहुत से अच्छे तत्वों को छोड़ दिया और वह अपनाया जो देश की मिट्टी के लिए उपयुक्त नहीं था, यूरोप के लिए ठीक था। लगभग 165 वर्ष में हम बहुत कुछ सीख सकते थे मगर हमने सीखा नहीं। 1917 में महात्मा गांधी ने कहा था कि विदेशी व्यवस्था को अपनाकर हम बहुत कुछ खो रहे हैं और पा कुछ भी नहीं रहे हैं। हमारा अंग्रेजी मोह लगातार बढ़ रहा है। सारी दुनिया संस्कृत को कंप्यूटर के तकनीकी दृष्टिकोण से सबसे उपयुक्त भाषा मानती है परन्तु हम संस्कृत के प्रचार-प्रसार को अभाव तथा अकथित भय और शंका की दृष्टि से देख रहे हैं।

इस शिक्षा व्यवस्था के स्थान पर भारत में ही भारत की अपनी भूमि में पनपे विचारों और विचारधाराओं के आधार पर गांधीजी ने 'बेसिक एजुकेशन' की स्थापना की, उसकी व्याख्या की और उसे क्रियान्वित करके लोगों के सामने व्यावहारिक रूप में रखा। यह अलग बात है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पांच दशक बाद भी हमने गांधीजी के उन प्रयत्नों, प्रयासों और नवाचारों को पूरी तरह भुला दिया। गांधीजी ने कई बार 'मस्तिष्क', 'हाथ' और 'हृदय' इन तीन शब्दों का शिक्षण की गुणवत्ता के लिए प्रयोग किया। उन्होंने यह भी कहा कि शिक्षा एक व्यक्ति के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के अंदर जो कुछ अच्छा है, उसे सुदृढ़ और परिमार्जित करती है। वह शिक्षा जो भारत से जुड़ी होगी वह 'स्वस्थ', 'स्वच्छ' और 'प्राकृत' इन तीनों के बीच पूर्ण समन्वय स्थापित करने की क्षमता रखेगी और व्यक्ति को इस समन्वय को सुदृढ़ बनाने के लिए तैयार करेगी। यदि इन शब्दों पर ध्यान दिया जाए तो यह स्पष्ट है कि शिक्षा व्यक्ति में विनम्रता को जागृत करेगी, उसके अन्दर करुणा, आदर, शान्ति, आत्मविश्वास जैसे गुणों का संचार करेगी। ऐसी ही शिक्षा व्यक्ति को बेहतर और ऊंचे जीवन स्तर की ओर अग्रसर करेगी। यह हृदय के मानवीय गुणों को उजागर करने की क्षमता रखेगी। □□

21

स्कूली शिक्षा और आध्यात्मिकता

लगभग तीन दशक पहले राजनीतिशास्त्र के एक जाने-माने विशेषज्ञ से चर्चा हुई थी। मैं उस समय भौतिकशास्त्र का अध्ययन और अध्यापन कर रहा था तथा उसी विषय में शोध भी कर रहा था। दोनों विषयों में अंतर को स्पष्ट करते हुए उन विशेषज्ञ महोदय ने मुझे समझाया कि 'भौतिकशास्त्र' और 'राजनीतिशास्त्र' में अन्तर स्पष्ट हैं। 'राजनीतिशास्त्र' में हर नागरिक विशेषज्ञ है और ऐसी कोई समस्या शेष नहीं होती जिसका समाधान उनके पास न हो। भौतिकशास्त्र के संबंध में लोग ऐसा नहीं सोचते और जो उसमें विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं उन्हें ही अपना कार्य निष्पादित करने को छोड़ देते हैं। पिछले 30 वर्षों से अधिक समय तक शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न स्तरों पर कार्य करने के पश्चात् मुझे इस अन्तर की व्याख्या और अधिक स्पष्ट रूप से समझ में आ रही है। संभवतः राजनीति से भी सही उदाहरण शिक्षा का क्षेत्र है, जिसमें सभी की समान रुचि है। हर व्यक्ति अपने और अपने परिवार के भविष्य के प्रति ध्यान देता है और उसी संदर्भ में वह शिक्षा के बारे में सोचता है और अपने विचार बनाता है। आज इस देश में ऐसा कोई नहीं है जिसे शिक्षा में रुचि न हो और जिसे यह न लगता हो कि प्रारंभिक शिक्षा सभी बच्चों के लिए आवश्यक है। शैक्षिक परिवर्तन तथा शैक्षिक सुधार में आज सभी की रुचि है। यह स्वयं एक उत्साहजनक परिवर्तन है। शिक्षा की समस्याओं, योजनाओं, उपलब्धियों तथा कमियों पर अपने विचार प्रकट करने का मूलभूत अधिकार सभी को है।

आज जब शिक्षा पर लोग अपनी राय देते हैं तो निश्चित रूप से राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् जैसी संस्थाओं को विशेष प्रसन्नता होती है। इस संदर्भ को ध्यान में रखकर ही राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने अगस्त 1999 में स्कूली शिक्षा के नए पाठ्यक्रम की रूपरेखा बनाने की प्रक्रिया पर विचार किया। परिषद् में ऐसी प्रक्रिया 1975 और 1988 में पूरी की जा चुकी थी। इसे हर 5 वर्ष में किया जाना था तथा यह 1992 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में निर्देशित भी था परन्तु किन्हीं कारणों से ऐसा हो नहीं पाया। 1999 में सबसे पहले प्रश्न यह उठा कि जो भी पाठ्यक्रम की रूपरेखा विकसित की जाएगी उसे सारे देश में

मान्यता मिलनी चाहिए और उसमें क्रियान्वयन की सभी सम्भावनाएं निहित होनी चाहिए। देशव्यापी चर्चा करने की आवश्यकता और लोगों की राय लेने की जरूरत को ध्यान में रखते हुए परिषद् ने सबसे पहले एक परिचर्चा-प्रपत्र बनाया और इसे जनवरी, 2000 में सारे देश में राज्य सरकारों, संस्थाओं, संगठनों, विशेषज्ञों तथा अन्य लोगों को बड़ी संख्या में वितरित किया। देश भर में जगह-जगह परिसंवाद और चर्चाएं आयोजित की गईं। छः महीने तक यह प्रक्रिया लगातार चली। इसके बाद सभी सुझावों का गहन अध्ययन कर 14 नवम्बर, 2000 को परिषद् ने स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रम की रूपरेखा देश के सामने रख दी। इस समय देश भर में इसी रूपरेखा के क्रियान्वयन पर चर्चा फिर से प्रारम्भ हो गयी है। मुख्यतया शंकाओं और आशंकाओं के कारण, जो कुछ परिषद् ने प्रस्तावित किया है, उसे कई बार तोड़-मरोड़ कर लोगों के सामने रखा जाता रहा है। उदाहरण के लिए अनेक लोग 'एस.क्यू' के प्रयोग से काफी आशंकित हैं।

बौद्धिक क्षमता (आई.क्यू.) के मूल्यांकन की बात शिक्षा के क्षेत्र में दशकों से चल रही है। इसके बाद भावनात्मक क्षमता (ई.क्यू.) की बात भी आई है। इसी के साथ अब आध्यात्मिक समझ की बात भी की जा रही है और शिक्षा के द्वारा व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकास को समझने की दिशा में इसे आवश्यक माना जा रहा है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् भी इस बात से सहमत है कि किसी भी बालक की योग्यता का आकलन या विकास केवल अंक आधारित परीक्षा के आधार पर नहीं किया जा सकता है। वर्तमान मूल्यांकन प्रणाली में कितनी कमियां हैं इस पर विस्तार से चर्चा न करते हुए यह कहना पर्याप्त होगा कि यह प्रणाली उन विषयों पर ही ध्यान देती है जिनमें 'जितना परीक्षा में पूछा जाना है वही पढ़ाया जाए और जिसे परीक्षा में न पूछा जाना हो वह न पढ़ाया जाए' ही एकमात्र आधार होता है। इस परीक्षा प्रणाली का सबसे बड़ा योगदान यह है कि बच्चों पर कई प्रकार का अनावश्यक बोझ बढ़ता है। पालकों की समझ में नहीं आता कि वह बच्चों की अधिक अंक प्राप्त कराने में कैसे सहायता करें। ट्यूशन जैसे व्यवसाय लगातार बढ़ते जा रहे हैं और उनके कुपरिणाम व्यवस्था पर पड़ रहे हैं।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने फरवरी 2000 में 'विद्यालयों में ग्रेड प्रणाली' नामक पुस्तक देश में परीक्षा प्रणाली के विकल्प पर चर्चा प्रारम्भ करने के लिए जारी की थी। अनेक स्थानों पर इसका अध्ययन हुआ, चर्चाएं हुईं, समर्थन भी मिला परन्तु यह अभी तक लागू नहीं हो सकी है। इसके कई कारण हैं, जिन्हें समझना आवश्यक है। जैसा कि हर व्यवस्था में होता है, शिक्षक, शैक्षिक प्रशासक और समुदाय तीनों ही परीक्षा प्रणालियों में जो कमियां हैं उनकी चर्चा तो करते हैं और उसे उसी रूप में स्वीकार भी कर लेले हैं। तथापि परीक्षा प्रणाली

की इसी विश्वसनीयता, वैधता और उद्देश्यपरकता पर प्रश्नचिन्ह लगाना आवश्यक है। इसी से चिन्तन में प्रगाढ़ता आएगी और सही स्थिति समझने में सहायता मिलेगी। कुछ अन्य कारण भी हैं, जैसे प्रशिक्षण एजेंसियों से जुड़े लोग, उसके आर्थिक पक्ष तथा बदलाव के प्रति उपेक्षा भाव जो सुधार की प्रक्रिया को रोक लेते हैं। नौकरियों में प्रतिस्पर्धा लगातार बढ़ रही है। अतः माता-पिता भी अंकों को ही अन्तिम लक्ष्य का दर्जा देते रहे हैं।

शिक्षा नीति में अनेक बार यह बात कही गई है कि शैक्षिक विषयों के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है जो व्यक्तित्व विकास में सहायक होता है और इसलिए शिक्षा व्यवस्था को उस में भी अपना योगदान करना चाहिए। सामाजिक संदर्भ को समझना, अपने सांस्कृतिक, शारीरिक तथा मानसिक विकास के प्रति जागरूक होना आदि विषय इसमें शामिल हैं। सामुदायिक जीवन से परिचय, जीवन में हर अवसर पर नया कौशल सीखने और क्षमता बढ़ाने के लिए प्रतिबद्धता आदि ऐसे क्षेत्र हैं जो एक ऐसे समाज की रचना में सहायता कर सकते हैं जहां लोग दूसरे की विभिन्नताओं का सम्मान करेंगे। इसमें धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा भाषागत विविधताएं शामिल होंगी। भारत जैसे राष्ट्र में एक समतामूलक और समन्वयित तथा समरस समाज की स्थापना के लिए ऐसा करना आवश्यक होगा। शिक्षा का इसमें सबसे बड़ा योगदान होगा। इसे आज नकारा नहीं जा सकता है।

'एस.क्यू.' के संबंध में कहा जा रहा है कि यह विद्यार्थियों को असफल घोषित करने का एक नया तरीका है। इस पर केवल एक प्रतिक्रिया की जा सकती है कि यह शिक्षा के प्रति पूर्ण अनभिज्ञता का परिणाम है। सम्भवतः यह शिक्षा के क्षेत्र में जो कुछ नवाचार के रूप में लाने का प्रयत्न किया जा रहा है उसे जानने और समझने का प्रयास न करने की प्रवृत्ति का परिणाम है। आज भावनात्मक और आध्यात्मिक पक्ष को सुदृढ़ करने के लिए विश्व में हर जगह प्रयत्न किए जा रहे हैं। भविष्य की शिक्षा के लिए कहा जाता है कि वह 'देश की संस्कृति से जुड़ी हो और प्रगति के प्रति प्रतिबद्ध हो'। वाक्य तो यही रहेगा परन्तु संदर्भ और विषय-वस्तु हर जगह बदल जाएगी। क्या यह सही नहीं है कि सदियों तक यूरोप से लाई गई शिक्षा व्यवस्था इस देश पर हावी रही है और उसके परिणाम हमारे सामने लगातार आज भी आते जा रहे हैं। यह समझ से परे है कि परिवर्तन की बात आने पर उसे शैक्षिक दृष्टि से न देखकर अन्तर्निहित स्वार्थों और पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर देखे जाने की परम्परा पनपी है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने परीक्षा प्रणाली समाप्त करने की बात नहीं की है और इसे स्पष्ट रूप से रूपरेखा में दर्ज किया गया है। यह भी अवश्य कहा गया है कि विद्यार्थियों को असफल घोषित करने की परम्परा खत्म की जाए। वे जिस क्षेत्र में आगे बढ़ रहे हैं उन्हें बढ़ने दिया जाए।

•

समय के साथ जो सरोकार उभरते हैं वह सदा एक से नहीं रहते। पाठ्यक्रम के संबंध में कहा जाता है कि इसे सतत् बदलते रहना चाहिए। इस प्रक्रिया में पूर्णविराम कभी नहीं आता, हां अर्धविराम कभी-कभी लगाया जा सकता है। दुर्भाग्य यह है कि इन मूलभूत सिद्धांतों से अपरिचित लोग पूछ रहे हैं कि यदि आध्यात्मिक और भावनात्मक पक्ष आवश्यक है तो क्या यही पहले शिक्षा का भाग नहीं था और यदि था तो इसे फिर क्यों कहा जा रहा है? उत्तर स्पष्ट है। जितनी हिंसा, भ्रष्टाचार और मूल्यों का ह्रास आज है उतना विश्व में पहले कभी नहीं था। क्या उसका उत्तर देने का प्रयत्न पाठ्यक्रम को नहीं करना चाहिए और इसके लिए क्या पाठ्यक्रम के सरोकर और संस्तुतियों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए?

महान दार्शनिक डा. राधाकृष्णन ने मानव जीवन में धर्म और आध्यात्म की विवेचना की। उन्होंने माना कि सभी धर्म मनुष्य की वैयक्तिक, सामुदायिक तथा वैश्विक समस्याओं के समाधन में साथी बनकर सहायता कर सकते हैं। सभी धर्म एक साथ खड़े होकर ऐसी मानवीय संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं जहां विश्व के सभी लोग एक ही स्रोत की संरचना के उत्तराधिकारी माने जाएं और उससे जन्मी भ्रातृभावना सारे विश्व में व्याप्त हो जाए। आध्यात्म को जानने समझने की प्रवृत्ति ज्ञान में वृद्धि करती है। पुस्तकें पढ़ने से जानकारी मिलती है, सही ज्ञान तो विद्या, चिन्तन तथा साधना से ही मिलता है, और तभी व्यक्ति 'आत्मविद्' बनता है और स्वयं को पहचानने का प्रयत्न करता है। प्रसिद्ध 'राधाकृष्णन कमीशन' ने शिक्षा में धार्मिक और नैतिक पक्ष सम्मिलित करने पर अत्यन्त महत्वपूर्ण विवेचनाएं और संस्तुतियां कीं। पूर्ण पंथ-निरपेक्षता के लिए हर व्यक्ति को 'हर धर्म में जो अच्छा और महान है' जानना आवश्यक है। सर्व-धर्म समभाव, सर्व-धर्म समादर और 'सर्वभूत-हिते रत:' तक की अवस्था तक पहुंचने के लिए यही सही रास्ता है।

आध्यात्मिकता से डरे हुए लोग यदि एक पुस्तक 'प्राथमिक स्कूलों में आध्यात्मिक मूल्य' देख सकें तो निश्चित रूप से उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन आएगा। यह पुस्तक 'नेशनल एलिमैन्टरी प्रिन्सिपल' के तत्वावधान में वाशिंगटन में छपी और सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह 1947 में छपी। इसकी रूपरेखा 1945 में बनी थी। यह अलग बात है कि विश्वयुद्ध के बाद ही आध्यात्मिक मूल्यों की महत्ता को समझा गया परन्तु बाद में समृद्धि बढ़ती गई और लोग इसे भूलते गए। आज विश्वभर में समृद्धि और सम्पत्ति की दौड़ बढ़ती जा रही है परन्तु सुख और आनन्द घट रहा है। वे लोग जो अत्यन्त समृद्ध हैं इस सुख, आनन्द और परिपूर्ण जीवन के लक्ष्य को समझने के लिए आज भारत की ओर देख रहे हैं। □□

22

नई पाठ्यचर्या की रूपरेखा
(एक विवेचना)

विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एन.सी.एफ.एस.ई, 2000) आशा के अनुरूप और ठीक ही, आज समाचारों की सुर्खियों में है। यह बहस तब शुरू हुई जब राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) ने जनवरी 2000 में विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा के लिए एक परिचर्चा दस्तावेज का प्रकाशन किया। थोड़े से अल्पसंख्यक पेशेवर आलोचकों ने, जो कई अव्यावसायिक कारणों से आशंकित थे, इस दस्तावेज की विषय-वस्तु की ग़ैरपेशेवराना आलोचना की। शिक्षा के क्षेत्र में रत व्यावसायिक लोगों ने पाठ्यचर्या की रूपरेखा के दस्तावेज को अंतिम रूप देने से पूर्व परिचर्चा दस्तावेज की तैयारी और देशव्यापी परामर्श के प्रति ईमानदारी के लिए एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा अपनाई गई रणनीति की प्रशंसा की। उन्होंने अंतिम दस्तावेज के लिए विचार और सुझाव भी दिए। यह बात स्पष्ट कर दी गई थी कि एन.सी.ई.आर.टी, जो शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोच्च स्तर की संस्था है, एक राष्ट्रीय सामंजस्य, जो व्यावसायिक तौर पर मजबूत और कार्यान्वयन योग्य हो, को तैयार करने के लिए उत्सुक है। देश में विद्यालयी शिक्षा की विश्वसनीयता, गुणवत्ता तथा उपयोगिता की रूपरेखा के अनुरूप बढ़ाने के उद्देश्य से एन.सी.ई.आर.टी. इसे राष्ट्र के समक्ष प्रस्तुत करेगी। शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों, शिक्षाविदों, निर्णायकों, प्रख्यात विचारकों तथा मौलिक योगदान देने वालों की प्रतिक्रिया, रुचि तथा जिज्ञासा प्रशंसनीय थी। कुछ लोग ऐसे भी थे जिनके अपने पूर्वाग्रह तथा पूर्व पोषित धारणाएं थीं और जिन्होंने परिचर्चा दस्तावेज को बंद आंखों से परखा। वे लिखित शब्दों को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे और वे अपनी ऊर्जा, क्षमता और प्रयासों को 'गुप्त कार्यक्रम' ढूंढ़ने में लगाए रहे, जिसका कहीं कोई अस्तित्व नहीं था और जो उनकी अपनी कल्पना की उड़ान थी।

व्यक्तिगत संपर्कों, राष्ट्रीय, राज्य तथा क्षेत्रीय स्तर की गोष्ठियों, राज्य और जिला स्तर की संस्थाओं तथा एजेंसियों, स्वैच्छिक संस्थाओं तथा अन्य लोगों के साथ बहस

से एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा शुरू की गई परामर्श की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप परिषद् द्वारा उठाए गए मुद्दों को और अधिक सराहा गया। इस कार्य का परिणाम यह हुआ कि एन.सी.ई.आर.टी. को उन सभी लोगों, जिनकी विद्यालयी शिक्षा में साझेदारी है और जिन्होंने शिक्षा को दांव पर नहीं लगाया है, की सोच, उनकी चिंताएं और सुझाव प्राप्त हुए हैं।

प्रत्येक बालक/बालिका को पठन-कार्य में सहायता प्रदान करने हेतु राष्ट्र ने एन. सी.ई.आर.टी. को एक सर्वोच्च संस्था के रूप में स्थापित किया था। विद्यालयी शिक्षा के लिए नीति निर्धारण तथा उसको लागू करने में व्यावसायिक सहायता प्रदान करना एन.सी.ई.आर.टी. का आवश्यक कार्य है। गत चार दशकों में विकसित इसकी व्यावसायिक तथा क्षेत्रीय विशेषज्ञता द्वारा इसे स्वीकार्यता प्राप्त हुई है। देशभर में सबसे निचले स्तर पर कार्यरत अध्यापकों से लगातार गहन पारस्परिक संपर्क द्वारा ही यह कार्य संभव हो सका है। अधिकांश शिक्षक कठिन और कमी वाली परिस्थितियों में कार्य करते हैं। अध्ययनों, सर्वेक्षणों, अनुसंधानों, बहुआयामी कार्यक्रमों तथा प्रेरक पहलों द्वारा केंद्रीय तथा राज्य स्तर के कार्यक्रमों जिनका उद्देश्य कई दृष्टिकोणों से विद्यालयी शिक्षा में सुधार करना था, में एन.सी.ई.आर.टी ने प्रभावशाली योगदान दिया है और विभिन्न स्तरों पर कार्यरत शैक्षिक कार्यकर्ताओं ने इसके साथ मिलकर सहभागी बन, सहयोग दिया है। यह उन्हीं की सहायता और सहयोग का परिणाम था कि 1968 की शिक्षा नीति के अनुसार एन.सी.ई.आर.टी. ने 1975 में प्रथम पाठ्यक्रम रूपरेखा – दस वर्षीय विद्यालय के लिए पाठ्यक्रम की एक रूपरेखा का विकास किया। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के अनुसार अगली राष्ट्रीय पाठ्यक्रम रूपरेखा प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या : एक रूपरेखा का विकास 1988 में किया गया था। दोनों ही अवसरों पर ये व्यावसायिक दस्तावेज़ राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 तथा 1986 की रूपरेखा के भीतर शिक्षा कर्मियों, विशेषज्ञों, व्यक्तियों, संस्थाओं तथा अन्य लोगों के परामर्श से क्रमवार तैयार किए गए थे। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 और संशोधित 1992 और तत्संबंधी कार्यक्रम क्रियान्वयन दस्तावेजों को देखने से साफ़ पता चलता है कि पाठ्यक्रम-विकास तथा नवीकरण अभ्यास प्रत्येक पांच वर्षों के बाद किया जाना चाहिए। एन.सी.ई.आर.टी. को इस बात का दोषी कहा जा सकता है कि उसने राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1992 को स्वीकार करने के बाद पाठ्यक्रम नवीकरण की प्रक्रिया को शुरू करने में कई वर्षों की देरी की है। 1988 के पाठ्यक्रम के अनुसार बनाई गईं पाठ्यपुस्तकें बिना किसी परिवर्तन/नवीकरण के पढ़ाई जाती रहीं। इस बीच प्रत्येक मानव क्रियाकलापों में हुए परिवर्तनों को विद्यालयी पाठ्यक्रम का अंग नहीं बनाया जा सका और परिणामस्वरूप पुस्तकें तथा अन्य शिक्षण सामग्री कमीपूर्ण तथा बासी हो गईं। अभिभावकों तथा शिक्षकों का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने एन.सी.ई.आर.टी. का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। पाठ्यक्रम

नवीकरण की प्रक्रिया को शुरू करने के लिए एन.सी.ई.आर.टी. पर दबावों तथा प्रेरणाओं का पता लगाने को एक बड़ा आतिशी शीशा लेकर स्वयंसिद्ध विचारोन्मुख शिक्षाविद्, खुफिया पुलिस की तरह व्यवहार कर रहे हैं। जबकि सच्चाई यह है कि इस कार्य में बहुत देरी हुई है और किसी व्यावसायिक संस्था द्वारा 1992 की राष्ट्रीय नीति के अनुसार इस पर तुरंत कार्य किया जाना अपेक्षित था। इस ओर जानबूझकर सोद्देश्य उनका ध्यान ही नहीं गया।

एक जीवंत तथा प्रगतिशील राष्ट्र की पहचान इस बात से होती है कि वह अपने बच्चों और उनके द्वारा अपने भविष्य की चिंता कितनी शिद्दत और कहां तक करता है। जो लोग बच्चों की उपेक्षा करते हैं उन्हें स्वयं अपना भविष्य बिगाड़ने के लिए भावी इतिहासकार दोषी ठहराएंगे। राष्ट्र के बच्चों के संदर्भ में एन.सी.ई.आर.टी. अपने दायित्व को भली-भांति जानती और समझती है। शिक्षा को बच्चों की दूसरी आवश्यकताओं से अलग रख कर नहीं देखा जा सकता। सभी बच्चों को उपलब्ध पहुंच और सफलता के समान और गुणवत्तापूर्ण अवसर प्रदान करने का संवैधानिक दायित्व सदा से एन.सी.ई.आर.टी. के शिक्षा कर्मियों की चिंता का विषय रहा है। देश के बच्चों की शिक्षण आवश्यकताओं को समझने के लिए एन.सी.ई.आर.टी. ने सभी संभव शिक्षा संबंधी आदेशों-सूचनाओं पर अमल करके देखा है। अनुसूचित जाति/जनजाति श्रेणियों, अल्पसंख्यक वर्गों, विकलांगों तथा जिन्हें विशेष और अतिरिक्त ध्यान की आवश्यकता है, समेत उन सभी बच्चों के लिए जिन पर खास तौर पर चिंता करना और ध्यान देना जरूरी है, एन.सी.ई.आर.टी. ने विशेष पहल करने वाले कार्यों की पहचान कर उन पर अमल किया है। कहना गलत न होगा कि इस प्रकार की पहल स्रोतों, परिस्थितियों, दशाओं, सहयोगों तथा विभिन्न स्तरों की प्रतिक्रियाओं के कारण अपनी सीमाएं होती हैं। इस मार्ग का अनुकरण एक या दो वर्षों का परिणाम नहीं है, वरन् यहां तक पहुंचने में 40 वर्षों का अनुभव रहा है। प्राथमिकताओं का महत्व और उन पर एकाग्रता समय के साथ अवश्य बदलती रहती हैं। यही समय है जब गत पचास वर्षों में अर्जित अनुभव बच्चों के कल्याणार्थ, जिनके लिए शिक्षा प्रगति का एक बड़ा साधन है, प्राथमिकता वाले क्षेत्रों में ठोस और एकाग्रतापूर्ण कार्य और पहल करने में राष्ट्र की सहायता कर सकता है।

यह हास्यास्पद ही है कि एन.सी.ई.आर.टी. पर सार्वभौमीकरण में सहायक होने का दोषारोपण किया जा रहा है। एन.सी.ई.आर.टी. की विद्यालयी शिक्षा की पाठ्यचर्या की रूपरेखा स्पष्ट रूप से प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण को राष्ट्र की मुख्य चिंताओं में से एक मानती है। पूरा दस्तावेज़ इसी 'प्राथमिकता' और परिणामों पर आधारित है। यह दस्तावेज स्पष्ट तौर पर इंगित करता है कि इस बात को सुनिश्चित करने का भरसक प्रयास किया जाए कि जो बच्चे सर्व सुविधासंपन्न स्कूलों में पढ़ते हैं उनके कारण शेष बच्चे पृष्ठभूमि में न ठेल दिए जाएं। दसवीं कक्षा में उत्तीर्ण

हो सकने वाले 100 छात्रों में से मात्र 10% से कम ही उत्तीर्ण हो पाते हैं। उन नब्बे प्रतिशत से अधिक छात्रों का क्या होगा जिन्हें स्कूल परीक्षा बोर्डों द्वारा अनुत्तीर्ण घोषित किया गया है, जो बीच में ही पढ़ाई छोड़ कर चले गए हैं और जो पढ़ने ही नहीं गए? ऐसे बच्चे को एक निरुद्देश्य तथा हतोत्साहित ज़िदंगी जीने के लिए छोड़ दिया गया है। बड़े पैमाने पर निरुद्देश्य तथा उदासीन युवा ऊर्जा के अति अल्प उपयोग के सम्बन्ध में एन.सी.ई.आर.टी. को भारी चिंता है। शैक्षिक रूप से उन्नत देशों में प्रचलित स्कूल आधारित विद्यार्थी मूल्यांकन प्रणाली अपनाने का सुझाव व्यावसायिक रूप से पक्का है। यह बच्चों में प्रेरणा के स्तरों को पुनर्जीवित करने के अवसर प्रदान करने में सक्षम है। इस से यह समझने में भी सहायता मिलेगी कि राष्ट्रीय प्रयासों में अपना योगदान देने के और भी अनेक रास्ते हैं, यदि कुशलता प्राप्ति, कुशलता नवीकरण और उसे वास्तविक उपयोग में लाने के साधारण सिद्धांतों को आत्मसात् कर लिया जाए। दसवीं और बारहवीं कक्षाओं में सह-शैक्षिक क्षेत्रों के लिए छात्रों का प्रदर्शन अब स्कूल द्वारा ही आंका जाएगा जो शिक्षण के शैक्षिक क्षेत्रों में प्राप्त अंकों को सूची में जोड़ने के लिए बोर्ड को सूचित करेगा। इस प्रणाली का गलत अर्थ केवल वे लोग ही निकालेंगे जो सच्चाई को देखना नहीं चाहते अथवा जो किसी सैद्धांतिक प्रभाव संग्रस्त हैं। वे शायद निम्नलिखित को पुनः पढ़ना चाहेंगे (एन.सी.एफ.एस.ई. 2000)।

"सामान्यतया यह माना जाता है कि निर्धारित कार्य के लक्ष्यों को प्राप्त करने तथा सामाजिक समरसता स्थापित करने की दृष्टि से यथेष्ट गुणात्मक तथा व्यापक शिक्षा एक बहुत ही शक्तिशाली साधन है। कुछ महत्वपूर्ण राष्ट्रीय लक्ष्य हैं पंथनिरपेक्षता, लोकतंत्र, समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व, न्याय, राष्ट्रीय एकता और देशभक्ति। शिक्षा का दायित्व है कि वह बच्चों में मानव अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति सम्मान की भावना विकसित करे। निर्बल समुदाय जिनमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, महिलाएं, विकलांग बच्चे और अल्पसंख्यक आते हैं, अब और देर तक सुविधावंचित नहीं रखे जा सकते। शिक्षा को चाहिए कि वह इस बड़ी जिम्मेदारी को निभाते हुए इन लोगों के उत्थान और सबलीकरण में योगदान दे।"

इस दस्तावेज़ (एन.सी.एफ.एस.ई. 2000) के प्राक्कथन में एन.सी.ई.आर.टी. का प्रस्तावित मार्ग स्पष्ट है

"अंत में, प्रस्तावित पाठ्यचर्या-रूपरेखा को एक जीवंत वास्तविकता में रूपांतरित करने के लिए इस दस्तावेज को जन-जन तक ले जाने वाली व्यवस्था से जुड़ी सभी संस्थाओं को दृढ़ संकल्प के साथ आगे आना होगा और समाज से अधिकतम समर्थन प्राप्त करना होगा। एक अत्यन्त सुविचारित और प्रगाढ़ पाठ्यचर्या भी कमजोर होकर बिखर जाती है अगर उसे लागू करने वाली एजेंसियों की मानसिकता यथास्थिति बनाए रखने की हो या वे पाठ्यचर्या की विषय-वस्तु की क्षेत्रीय आवश्यकताओं के

अनुरूप ढाल कर प्रासंगिक बनाने के लिए अपनी विशेषज्ञता को सक्रिय न बनाएं। पाठ्यचर्या शोध के परिणामों से पुष्ट प्रयासों को मान्य करते हुए और राजनीतिक-प्रशासनिक दृढ़ इच्छाशक्ति को देखते हुए यह विश्वास होता है कि नई पाठ्यचर्या में अंतर्निहित संदेशों और भावनाओं के समयबद्ध क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए देश वचनबद्ध है।"

हमें याद है कि परंपरागत भारतीय शिक्षा पद्धति समाज द्वारा ही संचालित और संरक्षित थी, जिसे निर्णय लेने का अधिकार था और जो तदनुसार शिक्षा को सुनिश्चित करने के प्रति उत्तरदायी भी थी। शिक्षक का निर्णय ही अंतिम था। अंग्रेजों ने सर्वविदित अपने लाभ के लिए भारतीय पद्धति को समूल नष्ट करने का हर संभव प्रयास किया। आजादी के बाद भी, शायद नौकरशाही के प्रभाव में, भारत ने एक विदेशी पद्धति को जारी रखा जो देश की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं थी। आजादी के बाद के पांच दशकों में यह बात अब स्पष्ट हो गई है कि समाज के विभिन्न अंग मुख्य धारा से इसलिए कट गए क्योंकि वे समझते थे कि शिक्षा केवल सरकार का दायित्व है। समाज की सोच भी यह बन गई कि जो करे, सरकार करे। 36 करोड़ लोग भारत में आज भी अशिक्षित हैं। यह एक या दो वर्षों में नहीं हुआ है। संविधान के इस प्रावधान, कि चौदह वर्ष के होने तक सभी बच्चों को राज्य द्वारा निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान की जाएगी, को लागू न कर पाने के दायित्व से कोई बच नहीं सकता।

यह एक उत्साहवर्धक संकेत है कि सरकारी और नौकरशाही के स्तर तक यह स्वीकार किया गया है कि अपने बच्चों की शिक्षा के प्रबंधन के अधिकार को विभिन्न समुदायों को लौटा देना चाहिए। इन्हें अधिकार देने के साथ ही आवश्यक रूप में उत्तरदायी भी बनाना चाहिए। भारतीय परंपरा तथा समाज के प्रति प्रतिबद्धता तथा दूसरों की चिंता इस बात को सुनिश्चित करेगी कि यह प्रयास सफल हो। लोग आगे आएंगे और सरकारी प्रयासों में हाथ बंटाएंगे। राष्ट्रीय प्राथमिक शिक्षा मिशन की स्थापना की परिकल्पना राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में की गई थी। दुर्भाग्यवश इसका महत्व पूरी तरह नहीं समझा गया और इसके संचालन में विलंब हुआ। समाज के पूर्ण सहयोग से वर्तमान में सर्व शिक्षा अभियान को शुरू करने की पहल राष्ट्र के लिए सही समय पर सही अवसर है।

इस स्तर पर प्रथम पंक्ति का पाठ्यक्रम कोई नई बात नहीं है। स्कूल पाठ्यक्रम को आवश्यक और तुरंत निवेशों से परिपूर्ण करने के लिए यह कई देशों में किया जा रहा है। पाठ्यक्रमों में कुछ स्थान ऐसे निवेशों के लिए सुरक्षित रखा जाता है। भारत में अब तीन और नए राज्य बने हैं। क्या यह सूचना देश के हर बच्चे तक नहीं पहुंचनी चाहिए? और क्या हम तब तक प्रतीक्षा करें जब तक भूगोल की पाठ्यपुस्तकें दुबारा लिखी जाएं या उन्हें संशोधित किया जाए? प्रथम पंक्ति मार्ग

एक प्रबंधन योग्य नीति है जिससे ऐसी परिस्थितियों का हल मिलता है। यहां हमें यह जानना चाहिए कि छात्रों की एक बड़ी संख्या और उससे भी अधिक देश के स्कूलों के लिए वेबसाइट और इंटरनेट आज भी स्वप्न सरीखे हैं। मुद्रण माध्यम आज भी महत्वपूर्ण है। दस्तावेज (एन.सी.एफ.एस.ई., 2000) का निम्नलिखित अंश का संदर्भ युक्तिसंगत है

"अग्रणी पाठ्यचर्या में कुछ क्षेत्र तुरंत शामिल करने योग्य होंगे, जैसे संचार प्रणाली में नवीनतम विकास, अंतरिक्ष-प्रौद्योगिकी, जैव-प्रौद्योगिकी, आनुवांशिक तंत्र विज्ञान, नए स्वास्थ्य-मुद्दे, ऊर्जा एवं पर्यावरण, विश्व भूगोल, बहुराष्ट्रीय कंपनियां, पुरातत्वीय खोज आदि।"

यह बात दिलचस्प है कि तथाकथित आलोचकों का ध्यान एकमात्र क्षेत्र पुरातत्व की ओर गया है। इतिहास या पुरातत्व शब्दों के उच्चारण भर से हलचल मच जाती है। वे एन.सी.ई.आर.टी. की व्यावसायिक साख और उसके लंबे अनुभव को भूल जाते हैं। व्यावसायिक चिंताओं को व्यावसायिक ढंग से परखना चाहिए और उसका निर्णय भी व्यावसायिक समझ-बूझ से करना चाहिए। राष्ट्रीय महत्व के मामलों में पूर्वाग्रह और व्यक्तिपरकता को आड़े नहीं आने देना चाहिए। प्रथम पंक्ति के पाठ्यक्रम के मुद्दे को बच्चों के हित में तथा देश के स्कूलों में शिक्षण-प्रशिक्षण की एक जीवंत प्रक्रिया को सुनिश्चित करने को ध्यान में रख कर परखना चाहिए।

मूल्य-स्थापना एक और विषय है जिससे ध्यान बंटता है। यह सच है कि इससे पूर्व भी एन.सी.ई.आर.टी. ने शिक्षा में मूल्यों की बात की है और पहले के पाठ्यक्रमों तथा दूसरी पहलों में भी इसका जिक्र है। भारत का प्रत्येक नागरिक सामाजिक, सांस्कृतिक, चारित्रिक, नीतिपरक और संवैधानिक मूल्यों के वर्तमान बोध को इतिहास के इस मोड़ पर जानता और समझता है। अधिकांश नागरिकों को अपने नित्य के जीवन में इस बात के कष्ट का अनुभव है जो मूल्यों में ह्रास से उसे भोगना पड़ता है। इसमें क्या गलत है यदि शिक्षा एक मूल्य आधारित जीवन तथा उसके द्वारा एक मूल्य आधारित समाज के लिए बच्चों को तैयार करने में अपना योगदान देने का प्रयास करे? मोहनदास करमचंद गांधी को क्या हानि हुई जब उन्होंने 'सत्यवादी हरिश्चंद्र' नाटक देखा या 'प्रहलाद' तथा 'ध्रुव' के बारे में पढ़ा? क्या हम आदि शंकराचार्य, पैग़म्बर मोहम्मद, ईसा मसीह, गुरु नानक, भगवान महावीर, गौतम बुद्ध तथा अन्य विभूतियों के दूसरों के लिए प्रेम और चिंता के सार्वभौमिक संदेशों से परिचित होने के अवसर से भारत के हर बच्चे को वंचित कर देंगे? सभी धर्मों के मूल सिद्धांतों और दर्शन देश के बच्चों को क्यों नहीं बताना चाहिए? एन.सी.ई.आर.टी. ने विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा की न तो वकालत की है और न करेगी। 'धर्म के बारे में शिक्षा' और 'धार्मिक शिक्षा' के अंतर को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। कोठारी कमीशन (1964-66) ने इस विषय पर बारीकी से तथा

स्पष्ट रूप से चर्चा की। एन.सी.ई.आर.टी. व्यावसायिक कारणों से मूल दर्शन अथवा भारत के लोगों के धर्मों को शामिल करने की सिफारिश करती है। (एन.सी.एफ. एस.ई. - पृ. 19-20)

"एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व है धर्म जो त्वरित रूप से ध्यान देने योग्य है। यद्यपि धर्म आवश्यक मूल्यों के विकास का एकमात्र स्रोत तो नहीं है फिर भी मूल्य-विकास के लिए निश्चित ही वह मुख्य स्रोत है। आज जिस बात की जरूरत है वह है धर्मों के बारे में शिक्षा। उनके मूलभूत सिद्धांतों, उनमें अंतर्निहित मूल्यों और सभी धर्मों के दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन की शिक्षा न कि धार्मिक शिक्षा। इस भावना का शिक्षा में उपयुक्त स्तरों से, यहां तक कि प्राथमिक स्तर से प्रसार आरंभ करने की जरूरत है। छात्रों में यह चेतना उत्पन्न करनी होगी कि सभी धर्मों का सार तो एक ही है, केवल उनके पालन के तरीके अलग-अलग हैं। छात्रों में यह समझ भी पैदा करनी होगी कि अनेक क्षेत्रों में मतभेद होना स्वाभाविक है और मतभेदों के प्रति भी सम्मान रखना चाहिए। चह्वाण समिति (1999) दृढ़तापूर्वक यह आग्रह करती है कि सभी धर्मों की शिक्षा देना सामाजिक समरसता और सामाजिक एवं धार्मिक सद्भाव के लिए एक महत्वपूर्ण उपकरण है। यूनेस्को का शांति की संस्कृति के लिए अंतर-सांस्कृतिक संवाद और बहुलता का विभाग (डिपार्टमेंट फॉर इंटर-कल्चरल डायलॉग एंड प्लूरलिज़्म फॉर कल्चर ऑफ पीस) भी 'आध्यात्मिक संकेंद्रण' की वकालत करता है और प्रस्तावित करता है कि सारी दुनिया में जहां पंथ के विषय में पंथों में स्वयं और इसी विषय पर उनकी अन्य पंथों से टकराहट आज आम बात हो गई है, उसे समाप्त करने के लिए विभिन्न धार्मिक और आध्यात्मिक परंपराओं के बीच संवाद स्थापित हो (जनवरी 2000)। इस विभाग का कहना है "शैशवकाल से ही 'अन्य व्यक्तित्वों' का महत्व समझाया जाए। उनमें सहिष्णुता का मूल्य, आदर और दूसरों के प्रति विश्वास की भावना विकसित की जाए। इससे दूसरों के प्रति किए जाने वाले व्यवहार और दृष्टिकोण में परिवर्तन आएगा। उपयुक्त शैक्षिक साधनों के माध्यम से जो अंतर-सांस्कृतिक और अंतर-धार्मिक संवाद पर आधारित विशेष शिक्षण शुरू किया जाएगा उसे ऐसे मूल्यों में हिस्सेदारी के लिए आदान-प्रदान करने योग्य और ऐसे ज्ञान के साधन के रूप में देखा जाएगा जिसमें सभी धर्मों और आध्यात्मिक परंपराओं के संदेश निहित होंगे और जिन्हें समाज की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत माना जाएगा।"

विभिन्न समुदायों, जिन्होंने हिलमिल कर रहना और कार्य करना सीखा है, में सामाजिक सामंजस्य की स्थापना को सुनिश्चित करने के लिए देश के हर भावी नागरिक के मन में दूसरे धर्मों के प्रति सम्मान की भावना घर करे, यही हमारी चिंता का विषय है। यह दूरदृष्टि भ्रांतियों, सैद्धांतिक पूर्वाग्रहों तथा अनावश्यक आशंकाओं से धुंधली नहीं पड़नी चाहिए। प्रत्येक मानव जीवन धरती से भी भारी

है और एक बच्चे को पाल-पोस कर बड़ा करने में पूरे गांव का योगदान होता है। इस ओर हर एक का एक कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व और जवाबदेही है।

संसारभर में प्रत्येक राष्ट्र की इच्छा होती है कि वहां शिक्षा संस्कृति की ओर ले जाए और उसकी प्रतिबद्धता विकास के प्रति हो। भारत के मनीषियों, साधुओं, संतों, फकीरों, गुरुओं तथा धार्मिक नेताओं ने सफलतापूर्वक शिक्षा के ऐसे वैकल्पिक प्रतिमानों का सफल प्रयास किया है। गांधीजी और ज़ाकिर हुसैन की बेसिक शिक्षा और बुनियादी तालीम आज भी प्रासंगिक है। ये और बात है कि हम इसके अभिप्राय को पूरी तरह न तो समझ सके और न ही इसके महत्व को सराह सके। शिक्षा के संदर्भ में भारतीय विचारों को 3 × 3 के सांचे में अच्छी तरह संक्षेप में समझा जा सकता है जो शिक्षा के पवित्र स्वरूप, शिक्षण और प्रशिक्षण की परिभाषा की व्याख्या करता है

सिर	हाथ	हृदय
स्वयं	समाज	प्रकृति
शरीर	मस्तिष्क	आत्मा

शिक्षा की प्रकृति का इससे बेहतर मूल्यांकन हो पाना कठिन है जिसकी जड़ें इसके अनेकतावादी श्रेष्ठ भारतीय संस्कृति में मज़बूती से जमीं हों और जो पूरी तरह सतर्क, जीवंत और गतिशील हो और यह सुनिश्चित करे कि समस्त प्रयास प्रगति के लिए प्रतिबद्ध हों।

भारत में शिक्षक प्रशिक्षक लंबे समय से आई.क्यू. (बुद्धि स्तर) को पढ़ते, पढ़ाते तथा समझाते आ रहे हैं। यह पूरी तरह पश्चिम की अवधारणा है और इस समय वहां भी व्यवहार में इसे त्याग दिया गया है। यह भली-भांति समझा जाता है कि इसका संबंध केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व के एक अलग पक्ष से है। ई.क्यू. (संवेग स्तर) नया मंत्र है, यह भी पश्चिम से ही उभर कर आ रहा है और हम इसकी सराहना कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त एन.सी.ई.आर.टी. ने प्रतिभा की पहचान के संदर्भ में 'एस.क्यू.' (आध्यात्मिक स्तर) शब्दावली का प्रयोग किया है

"एक ओर जहां पाठ्यचर्यागत कार्यक्रमों के माध्यम से ऐसी प्रतिभाओं की पहचान करना आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर इन कार्यक्रमों द्वारा बच्चों की विविधतापूर्ण सर्जनात्मक योग्यताओं के पोषण पर भी विशेष ध्यान देना होगा। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि ऐसी पहचान करके प्रतिभाओं का पोषण प्रारंभिक अवस्था से ही शुरू होता है। इसके साथ ही होनहार और प्रतिभावान बच्चों की पहचान केवल मानवीय गुणों पर आधारित न होकर बहुआयामी होगी और उसकी प्रक्रिया भी बड़ी व्यापक होगी। न केवल उनके बुद्धि-स्तर (आई.क्यू.) बल्कि संवेग-स्तर (ई.क्यू.) और आध्यात्मिक स्तर (एस.क्यू.) भी ध्यान में रखने होंगे। इसलिए होनहार एवं प्रतिभावान

बच्चों की पहचान करने के लिए एक उपयुक्त कार्यतंत्र तैयार करना होगा।

राष्ट्र में सामाजिक समरसता प्राप्त करने के लिए युवा पीढ़ी में 'साथ-साथ जीने की कला सीखने' की भावना सुदृढ़ करने वाली शिक्षा अपरिहार्य है। भारतीय परंपरा में इस विचार के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए कहा गया है 'सहृदयासर्वभूतानाम्'। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर 'साथ-साथ जीना सीखने की कला' संबंधी यह विचार बड़े जोरदार तरीके से डेलोर्स कमीशन के प्रतिवेदन 'लर्निंग द ट्रेज़र विदिन' के माध्यम से व्यक्त हुआ है। साथ-साथ जीना सीखने के लिए यह सुनिश्चित करना जरूरी है कि समाज एवं समुदाय के अंदर मौजूद स्थितियों में और पूर्वग्रहों का सही किस्म के अनुभव प्रदान करते हुए बड़ी संवेदनशीलता और समझ के साथ निराकरण किया जाए।"

दस्तावेज का मूल अभिप्राय यह बताना है कि संपूर्ण व्यक्तित्व का मूल्यांकन और उसे परखना आवश्यक है। श्री अरविंद ने समग्र शिक्षा की बात की थी और स्वामी विवेकानंद ने शिक्षा द्वारा मनुष्य के निर्माण के लिए कहा। जब तक स्वयं, आत्मा और आध्यात्मिकता की कुछ समझ प्राप्त न हो तब तक क्या कोई इन विचारों की परिकल्पना कर उन्हें समझ सकता है? गांधीजी ने शिक्षा के प्रति व्यापक पहुंच की वकालत की थी। प्रो. डी.एस. कोठारी, प्रो. अब्दुल कलाम तथा अन्य लोग जिन्होंने भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विकास को समझा है और जो भारत की आत्मा को जानते हैं, इन सभी ने भारतीय परंपरा, बुद्धि कौशल तथा आध्यात्मिकता को भारतीयों तथा विश्व के समक्ष रखने की आवश्यकता की अनुशंसा और वकालत की है। आज ऐसा समय है जब वे लोग जो संपन्न हो गए हैं, जीवन को निरर्थक समझते हैं। पश्चिम के लोग परमानंद और सुख-प्राप्ति के मार्ग की खोज में पूर्व की ओर देखते हैं। संपन्नता का मतलब खुशी नहीं होता। जैसाकि कुछ लोगों ने समझा है। एन.सी.ई.आर.टी. ने एस.क्यू. (आध्यात्मिक स्तर) की माप के लिए 'मीटर स्केल' की सिफारिश नहीं की है। यह सभी विकास और वर्धन के ऊपर प्रतिभा की सहायता का संकेतक है। इसकी परख उसी प्रकार की जानी चाहिए जैसे हम सौंदर्य, शक्ति, लगन और प्रतिबद्धता की परख करते हैं।

सन् 1965 में गुजरात विद्यापीठ में दीक्षांत भाषण देते हुए प्रो. डी.एस. कोठारी ने एक प्रश्न किया था – क्या हम विश्वविद्यालय में भारतीय दर्शन, नीतिशास्त्र और विचार को वह स्थान और प्रतिष्ठा दे रहे हैं जिसके वे पात्र हैं? यह प्रश्न आज भी हमारे सामने बड़े रूप में है और इसे एक सोचे-समझे उत्तर की अपेक्षा है। उसी भाषण में उन्होंने शिक्षा के मूल कार्य की व्याख्या की थी :

"हमें युवाओं को राष्ट्र के पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति में सहभागिता के लिए समुचित तथा चुनौतीपूर्ण अवसर प्रदान करने हैं। इसे पूरा करने के लिए कोई आसान और दर्शनीय हल नहीं है। इस बारे में तकनीकी रूप से विकसित देश भी कोई स्पष्ट मार्गदर्शन नहीं कर सकेंगे। वास्तव में, जो समाज जितना ही

अधिक विकसित होगा उसे व्यक्ति को रोज़ी कमाने योग्य शिक्षित और प्रशिक्षित करने में उतना ही अधिक समय लगेगा। शिक्षा को जीवन से कैसे जोड़ा जाए और शिक्षा और उत्पादन की कड़ी को कैसे मिलाया जाए, यह एक ऐसी समस्या है जिसे कमोबेश हर देश को स्वयं ही हल करना होता है। दूसरे देशों के अनुभव और विकास का लाभ हम उठा सकते हैं।"

यह याद रखना चाहिए कि बच्चे स्कूल में शब्दों और उनकी परिभाषाओं को याद कर उन्हें आत्मसात् नहीं करेंगे। वे दूसरों को देख कर, विश्लेषण कर तथा आंकने के बाद ही मनोवृत्ति, स्वभाव तथा मार्ग का विकास करते हैं। बच्चे अपने परिवार तथा अन्य लोगों, जिनके साथ वह समय बिताते हैं, के साथ नितांत व्यक्तिगत आदान-प्रदान द्वारा मूल्यों को ग्रहण करते हैं। मूल्य नित्य की दिनचर्या में सीखे जाते हैं। एक ओर कभी संकट के समय और दूसरी ओर गानों, कहानियों, नाटकों तथा खेलों के द्वारा। एन.सी.ई.आर.टी. के इस दस्तावेज़ में इसी मार्ग को दर्शाया गया है और इस संदर्भ में इसे सर्वाधिक व्यावहारिक और लागू करने योग्य मार्ग समझा गया है। कहना अनावश्यक न होगा कि अभिभावक तथा अध्यापक उन आदर्श लोगों की श्रेणी में प्रथम हैं जो बच्चों में मूल्यों का निर्माण करते हैं। अतः विद्यालयी शिक्षा और पाठ्यक्रम की एक विशेष भूमिका है। अध्यापकों के संदर्भ में राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् (एन.सी.टी.ई.) ने इन पहलुओं पर विचार कर अध्यापक शिक्षा के लिए एक तीन-मुखी रणनीति की सिफारिश की थी। इस नीति ने क्षमता ग्रहण, प्रतिबद्धता, मूर्तता तथा निष्पादन-साक्ष्य पर विशेष जोर दिया है। इस प्रतिबद्धता को काफी व्यापक होना है। अध्यापक और स्कूल एक ओर साधन और मार्ग इंगित कर सकते हैं और दूसरी ओर मूल्यों की आवश्यकता के महत्व और मूल्यों से जुड़े मुद्दों के बारे में बता सकते हैं। वे अपने स्वयं के आचरण और क्रियाविधि द्वारा बच्चों को इन बातों को जानने में सहायता कर सकते हैं।

एक बड़ा प्रश्न जो हर विचारशील स्त्री-पुरुष स्वयं से पूछता है वो है 'मैं' का अर्थ। मेरा अस्तित्व क्या है? मैं क्या करता हूं और जो भी कार्य मैं करता हूं उसका अंततः अर्थ क्या है। यह एक शाश्वत प्रश्न है। इस प्रश्न के उत्तर को खोजने की प्रक्रिया व्यक्तियों के स्तर को कई अर्थों में ऊंचा उठाती है। विनय भाव का गुण दूर नहीं रहता। इससे यह भी अनुभव होता है कि अभी समझने, पढ़ने और अज्ञान को कम करने के लिए बहुत कुछ करना है। सांसारिक चीजों के पीछे दौड़ने और आध्यात्मिक खोजों के बीच जो खाई कभी नहीं पटी है, यह भी एक शाश्वत प्रश्न है। आज यह खाई अधिक चौड़ी हो गई है। सांसारिक वस्तुओं की इच्छा और लाभ के उद्देश्यों के कारण आध्यात्मिक खोजों की अनदेखी हो रही है। इसके आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी गंभीर परिणाम होंगे। यदि दोनों के बीच खाई को यों ही अबाध बढ़ने दिया गया तो संसार में अमीर और गरीब के बीच

की दूरी और भी बढ़ जाएगी। श्रोडिंगर ने एक बार लिखा था कि विज्ञान का अंतिम ध्येय सबसे गहरे और पुराने प्रश्न– 'मैं कौन हूं और मैं यहां क्यों हूं?' में अपना विनम्र योगदान देना है। अधिक मौन प्रश्न यह है कि विज्ञान इस प्रश्न का उत्तर अभी तक नहीं दे सका है और इसलिए आध्यात्म में इसका उत्तर खोजने में कोई हानि नहीं है। अमर सोफोक्लिस ने कहा था "यहां बहुत से आश्चर्य हैं किन्तु मनुष्य से बड़ा कोई आश्चर्य नहीं है"। विनोबा भावे का संदेश था कि हम सब लोग राजनीति और धर्म के युग से विज्ञान और आध्यात्म के युग की ओर ऊर्ध्वगामी गतिशीलता के दर्शक हैं। इस ऊर्ध्वगामी गति को अवरुद्ध नहीं होना चाहिए।

राष्ट्रीय स्तर पर पाठ्यचर्या की रूपरेखा का निर्माण एक आवश्यक अभ्यास है। इससे सभी पहलुओं में विद्यालयी शिक्षा की गुणवत्ता, विश्वसनीयता और उपयोगिता की प्रक्रिया को प्रेरणा मिल सकती है। □□

23

संस्कृत, संस्कृति और संशय

भाषाओं की अनेकता और विविधता भारतीय संस्कृति और परंपरा की उत्कृष्ट विशिष्टताओं में से एक है। मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं को सीखना सदा ही एक मोहक प्रयास रहा है। बच्चों में अनेक भाषाओं को शीघ्र सीखने की असीम क्षमता होती है। भारतीय समाज में विशाल साहित्यिक निधि से परिपूर्ण विभिन्न भारतीय भाषाएं एक-दूसरे के व्यवहारों तथा परंपराओं को भाषाओं के ज्ञान और परिचय के द्वारा समझने का विशेष अवसर प्रदान करती हैं। अपनी सभी विविधताओं और बहुलताओं के वैभव से युक्त राष्ट्रीय एकता भावना से समृद्ध भारतीय समाज को सुनिश्चित और संवर्धित करने के लिए सभी बच्चों में राष्ट्र की सभी भाषाओं के प्रति संवेदनशीलता के साथ सम्मान उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व शिक्षा व्यवस्था पर आता है।

स्वाधीनता संग्राम के दौरान राष्ट्र के नेताओं ने भाषा की समस्या पर ध्यानपूर्वक विचार किया था। ऐसा भी समय था जब कुछ 'भारतीय भूरे साहबों' ने राष्ट्र की संपर्क भाषा के रूप में अंग्रेजी के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा को उपयुक्त मानने के विचार तक को ठुकराना देश के हित में माना। सौभाग्यवश इस विवेकहीनता का विरोध करने के लिए गांधीजी मौजूद थे। अंग्रेज़ी भाषा के प्रति गहरा लगाव रखते हुए भी गांधीजी का स्पष्ट मत था कि भारत को अपने ही वातावरण, परिदृश्य और साहित्य में फलना-फूलना है। वे चाहते थे कि राष्ट्र विदेशी भाषाओं के खजाने से भी लाभ उठाए किंतु साथ ही अपनी भाषाओं पर निर्भर होते हुए उन्हें प्राथमिकता से पोषित करे। देश की अधिकांश भाषाओं को सीखने व पुष्ट करने के लिए उन्होंने संस्कृत भाषा और साहित्य के महत्व, विशिष्टता और सार्थकता का अनुभव किया

"प्रत्येक भारतीय विद्यार्थी का यह कर्त्तव्य है कि वह संस्कृत सीखे – केवल हिंदू ही नहीं वरन् मुसलमान भी – क्योंकि आख़िरकार राम और कृष्ण उनके भी उतने ही पूर्वज हैं जितने हिंदुओं के और उन्हें समझने के लिए उन्हें संस्कृत पढ़नी चाहिए।"

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा विद्यालयी शिक्षा के लिए

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा के प्रकाशन के बाद विद्यालयों में संस्कृत शिक्षा अनेक बार चर्चा का विषय बनी है। त्रिभाषा सूत्र की सीमाओं के अंतर्गत एन.सी.ई.आर.टी. ने राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली में संस्कृत के अध्ययन के विशेष महत्व पर ज़ोर दिया है क्योंकि हज़ारों वर्षों से यह भाषा लगातार भारत में प्रयोग की जाती रही है और वर्तमान में भी यह विशाल भारतीय जनमानस के जीवन, कर्मकांडों तथा त्यौहारों से दैनिक स्तर पर जुड़ी है। यह सर्वविदित है कि इसमें ज्ञान और बुद्धि का एक विशाल भण्डार है जिसे वर्तमान और भविष्य के संदर्भ में समझने, दुहराने, पुनर्नियमित और प्रयोग करने की आवश्यकता है। हिंदी और भारत की अन्य क्षेत्रीय भाषाओं से संबंधों को सुदृढ़ करने वाली इस भाषा के शब्दकोश की बनावट इन सभी भाषाओं को सीखना आसान और बेहतर बनाती है। भारत के बाहर के लोग भी यह मानते हैं कि यह कंप्यूटर में प्रयोग के लिए तकनीकी रूप से अत्यधिक पुष्ट और सुगठित भाषा है। एन.सी.ई.आर.टी. की सिफ़ारिश है कि प्राथमिक तथा उच्च प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा के रूप में हिंदी तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं को पढ़ाते समय संस्कृत को भी एक समेकित पाठ्य-विषय के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। माध्यमिक स्तर पर संस्कृत का अध्ययन एक अतिरिक्त विकल्प और उच्चतर माध्यमिक स्तर पर एक वैकल्पिक विषय के रूप में होना चाहिए।

अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों और शोधकर्त्ताओं का दृढ़ मत है कि उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक अधिकांश भाषाओं का अध्ययन संस्कृत, जो इन सभी भाषाओं को एक सूत्र में पिरोने वाले धागे के समान है, के साथ परिचय और घनिष्टता से समृद्ध बनता है। संस्कृत हजारों वर्षों से भारतीय भाषाओं के अध्ययन का आधार रही है। स्थापित भारतीय परंपराएं और जीवन पद्धति संस्कृत के साथ विकसित हुई है जो विविधता में एकता बनाए रखने के लिए एक बड़ा कारक रही है। राष्ट्र के जीवन और इसकी प्रतिभा की अभिव्यक्ति संस्कृत में ही हुई है जो देश की राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को सांस्कृतिक आधार प्रदान करती है। धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त दार्शनिक और आध्यात्मिक साहित्य की विशाल निधि, संस्कृत को देश की विभिन्न भाषाओं में एक अद्वितीय स्थान प्रदान करती है। विद्वानों ने इन धर्मग्रंथों और बहुमूल्य साहित्य का संसार भर में अध्ययन किया है और इस भाषा के योगदान के महत्व को माना है। यह हमारे प्राचीन काल की सर्वाधिक मूल्यवान धरोहरों में से एक है। भारतीय संस्कृति और समृद्धि की इस धरोहर को संजोकर रखने के लिए संस्कृत को विद्यालयी पाठ्यक्रम में उचित स्थान देना ही होगा। संस्कृत के द्वारा ही हमें इस बात का आभास होता है कि हमारे पूर्वजों ने सर्वोच्च स्तर का चिंतन-मनन प्राप्त किया और उसे सर्वोत्तम गद्य और पद्य में व्यक्त करने की क्षमता विकसित की।

उच्चतम न्यायालय ने 1994 में स्कूलों में संस्कृत की पढ़ाई पर दिए गए अपने

निर्णय में सभी संदेहों और शंकाओं का निराकरण कर दिया है

"हमें अपने मन में कोई संदेह नहीं रहा है कि वैकल्पिक विषय के रूप में केवल संस्कृत का अध्यापन किसी भी प्रकार से धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध माना जाएगा। वास्तव में हमारा संविधान संस्कृत को प्रोत्साहन देना चाहता है क्योंकि अनुच्छेद 351 में भी कहा गया है, जिसमें हिंदी को प्रोत्साहन देने और प्रसार के लिए संघ के कर्त्तव्य का वर्णन करते समय, इस बात का प्रावधान रखा गया है कि जब भी इसकी शब्दावली के लिए आवश्यक और वांछित हो, यह मुख्य रूप से संस्कृत से लेगी। संस्कृत को भी प्रोत्साहन देना आवश्यक है क्योंकि यह आठवीं सूची में सम्मिलित भाषाओं में से एक है।"

इसी निर्णय में आगे कहा गया है

"अतः यह कहते हुए निष्कर्ष निकालते हैं कि हमारी सांस्कृतिक धरोहर को पोषित करने के महत्व के दृष्टिकोण से, जिसके कारण राजकीय शिक्षा नीति तक ने संस्कृत की शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया है, जिसने केवल संस्कृत को ही एक वैकल्पिक विषय बना दिया है, जबकि यह दर्जा अरबी और फारसी को नहीं दिया गया, किसी भी प्रकार धर्मनिरपेक्षता के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध नहीं जाता।"

भारत में अनेक समितियों और आयोगों ने संस्कृत के महत्व को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। दुर्भाग्यवश इनमें से कई अवधारणाएं, विचार और यहां तक कि नीति संबंधी वक्तव्य भी ईमानदारी और गंभीरतापूर्वक अमल में नहीं लाए गए। प्रसिद्ध कोठारी समिति की सिफारिशों पर आधारित 1968 की शिक्षा नीति में स्पष्ट कहा गया था कि विद्यालय तथा विश्वविद्यालय स्तर पर संस्कृत शिक्षा की सुविधा, संस्कृत के महत्व और भारतीय भाषाओं के वर्धन और विकास तथा देश की सांस्कृतिक एकता में योगदान को दृष्टिगत रखते हुए अधिक उदारतापूर्वक प्रदान की जानी चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में भारतीय विधाओं, मानविकी, सामाजिक विज्ञानों से दर्शन शास्त्र तक में शोध, ज्ञान के संश्लेषण की आवश्यकता तथा प्राचीन भारतीय साहित्य के विशाल ज्ञान के भंडार का पता लगाने पर जोर देते हुए संस्कृत के गहन अध्ययन के लिए सुविधाओं के विकास की सिफारिश की गई है। इस संदर्भ में पहले कहा जा चुका पंडित नेहरु के कथन को याद करना उचित होगा

"अगर मुझसे पूछा जाए कि भारत की सबसे बड़ी निधि क्या है और उसकी सबसे सुंदर धरोहर क्या है, तो मैं बिना हिचक के उत्तर दूंगा कि वह संस्कृत भाषा और साहित्य है और वह सब जो उसमें है। यह एक भव्य विरासत है और जब तक यह सहन हो और हमारे लोगों के जीवन को प्रभावित करे, तब तक भारत की मूल प्रतिभा जारी रहेगी।"

मौलाना अबुल कलाम आजाद ने अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन को भेजे अपने एक संदेश में कहा था "इस भाषा में भारत का प्राचीन दर्शन और

साहित्य है। अतः यह आवश्यक है कि इस भाषा के अध्यापन के विशेष प्रबंध किए जाएं।"

स्वामी विवेकानंद जनमानस में संस्कृत के प्रसार की आवश्यकता पर बल देते थे। उनका मानना था कि इससे जनमानस में स्वाभिमान और आत्मसम्मान आता है, ये दोनों ही राष्ट्र की उन्नति के आवश्यक तत्व हैं।

डा. राधाकृष्ण संस्कृत को माता-पिता मानते थे, जिससे अनेक भारतीय भाषाएं उत्पन्न हुई हैं। "इसका प्रभाव द्रविड़ भाषाओं पर भी है।" किसी दूसरे प्रवचन में उन्होंने कहा था "एक अर्थ में संस्कृत साहित्य राष्ट्रीय भाषा है किंतु इसका मंतव्य सार्वभौमिक है।"

श्री सी. सुब्रहमण्यम के अनुसार हमारे पूर्वजों द्वारा हमें सौंपी गई सबसे बहुमूल्य निधि संस्कृत है। उनके अनुसार "विश्व समुदाय भारत का उसकी प्राचीन संस्कृति तथा मानव मूल्यों के लिए आदर करता है। संस्कृत संस्कृति की भाषा है, केवल भारत की नहीं बल्कि मानव मात्र की।"

संस्कृत भारतीय जीवन का एक आवश्यक कारक है और इसे इससे अलग नहीं किया जा सकता। स्कूली शिक्षा में इसे समाहित कर शिक्षा की गुणवत्ता को नई शक्ति प्रदान की जा सकती है। □□

24

असहमत, सहमत और सहमति

भारतीय संस्कृति, संस्कृत और परंपरा की चर्चा इस समय जहां पर भी होती है, कुछ लोग सशंकित हो जाते हैं। यह एक वास्तविकता है कि भारतीय परंपराओं, दर्शन, ज्ञान और संस्कृति की ओर सारे विश्व का ध्यान इस समय आकर्षित हो रहा है। आध्यात्मिकता की बात भले ही इस देश में कुछ लोगों को अच्छी न लगे, पश्चिमी देश इसके लिए भारत की ओर ही देख रहे हैं। संस्कृत सिखाने वाले विश्वविद्यालयों की संख्या विदेशों में लगातार बढ़ रही है। इसके अध्ययन की ओर आकृष्ट होने वाले लोगों की संख्या भी लगातार बढ़ती जा रही है। सारे विश्व में शिक्षा को वैज्ञानिक, तकनीकी और संचार तकनीकी में हो रहे परिवर्तन के प्रभाव के संदर्भ में परिवर्तित करने के प्रयत्न हो रहे हैं। यूनेस्को ने कुछ समय पहले इस पर एक अंतर्राष्ट्रीय आयोग का गठन किया था। इस विश्व संस्था की अपनी संस्तुतियों में आध्यात्मिकता, सामाजिक संरचना और एक साथ मिलकर रहने को शिक्षा के मूलभूत उद्देश्य के रूप में निर्धारित किया है। ऐसे ही परिवर्तनों को स्कूल शिक्षा के संदर्भ में समझने के लिए एक राष्ट्रव्यापी चर्चा के उपरान्त एन.सी.ई.आर.टी. ने स्कूल शिक्षा के पाठ्यक्रम की एक रूपरेखा देश के सामने प्रस्तुत की है। इसकी प्रतियां पढ़ने और अध्ययन करने के लिए सर्वत्र उपलब्ध हैं।

कुछ लोग बिना पढ़े ही अपनी आशंकाएं और भय व्यक्त करने के लिए उतावले हैं। उन्हें भारतीय दर्शन और चिंतन की उस परंपरा से कोई सरोकार नहीं है जहां पर विभिन्न विचार रखने वाले लोग एक साथ बैठकर प्रश्न, प्रति प्रश्न और संवाद के द्वारा अपनी शंकाओं का समाधान करते हैं और समझ को बढ़ाते हैं और ज्ञान का सृजन करते हैं। भारतीय आचार्य परंपरा खण्डन में नहीं अपितु संवाद के द्वारा समाधान और नव ज्ञान सृजन में विश्वास करती है। वह समरसता की ओर ले जाती है और ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में सामंजस्य स्थापित करती है। दुर्भाग्य से कुछ लोग ऐसा नहीं कर, अपनी असहमति के लिए अपने पूर्वाग्रहों के आधार पर अपने विचार व्यक्त करते रहते हैं। उनके सारे कार्यकलाप मात्र आलोचना आधारित ही होते हैं। विभिन्न विचारों और विचारधाराओं में समन्वय करने की प्रथा का किस

प्रकार विकास हुआ है, इससे वे परिचित ही नहीं हैं।

हर प्राचीन भारतीय परम्परा और अवधारणा को सदा शंका और संशय से देखने वाले कतिपय लोग सम्भवतः यह नहीं जानते कि भारतीय चिन्तन धारा का अछूता पक्ष है – वदान्यता, वाद में साथ बैठकर, परस्पर चर्चा करने के बाद तथा पक्ष-विपक्ष दोनों के पूर्ण विमर्श के पश्चात् जो निष्कर्ष निकलता था उसे पुस्तकों या दस्तावेजों में लिपिबद्ध कर दिया जाता था। लोगों को अलग-अलग श्रोत ढूंढ़ने नहीं पड़ते थे। सबसे महत्वपूर्ण यह होता था कि चर्चा तथा निष्कर्ष दोनों का स्तर स्वस्थ और ऊंचा हो। उद्देश्य विपक्ष के मत का 'येन-केन-प्रकारेण' खण्डन भर करना नहीं होता था बल्कि समस्या या विचार बिंदु का गहन अवलोकन, निरीक्षण और परीक्षण होता था और तत्व के तल तक पहुंचना होता था। हजारों साल पहले की गोष्ठियों में बैठकर शास्त्र-चर्चा करने की प्रथा आज शिथिल हो गई है। नवीं-दसवीं शताब्दी के बाद यह प्रथा कई कारणों से उतनी सशक्त नहीं रही और शायद इसी का परिणाम है कि आज मुट्ठी भर लोग किसी भी संस्था या कार्य की आलोचना के लिए बैठकर अपना पक्ष प्रचार माध्यमों के समक्ष रखकर संतुष्ट हो जाते हैं। वह अपने उस नैतिक उत्तरदायित्व को भूल जाते हैं जिसे आलोचना और प्रताड़ना का लक्ष्य बनाया जा रहा है। उसे भी अपना पक्ष रखने का हक है और जो बात देश के व्यापक हित में है उसे स्वीकार करना भी आवश्यक है। वह जानते हैं कि यदि उन्होंने ऐसा किया तो सच सामने आ जाएगा और उन्हें कुछ करने को बचेगा नहीं। असत्य की नींव पर रची गई आलोचना क्षणिक लाभ, वाहवाही और प्रचार तो दे सकती है परन्तु फिर स्वयं ही भरभराकर ढह जाती है। तब वे कोई और नया आलोचना क्षेत्र ढूंढ़कर उसमें लग जाते हैं।

भारतीय शैक्षिक परंपराओं में यह माना जाता है कि "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमहि विद्यते" अर्थात् ज्ञान से अधिक पवित्र कुछ नहीं होता। पवित्र होने का अर्थ है कि वह शंकाओं और आशंकाओं का निराकरण करता है और उनके बारे में दृष्टि को साफ करता है। हमारे चिंतन को ज्ञान ही राग-द्वेष से अलग करता है। व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों से व्यक्तिगत द्वेष के आधार पर कभी भी दृष्टि और दृष्टिकोण को साफ नहीं किया जा सकता। ज्ञान की साधना की प्रक्रिया लगातार चलती है और इसमें सभी पक्षों के साथ बैठकर ही कुछ प्राप्त हो सकता है। अलग से और अकेले में कुछ मिलता नहीं है। अपने चिन्तन को सुदृढ़ करने में ज्ञान के ग्रंथ सहायक हो सकते हैं और हो रहे हैं। गीता का उदाहरण सर्वविदित है :

तुर्की के प्रधानमंत्री कुछ महीने पहले भारत आए थे। कितने ही लोगों को यह जानकार आश्चर्य हुआ कि वह गीता के विद्वान हैं और जब समस्याएं गहन और गम्भीर रूप में उनके सामने आती हैं तो वह गीता पढ़ते हैं और समाधान मिल जाता है। यह व्यक्ति तथा ज्ञान-ग्रंथ का संवाद होता है। ज्ञानार्जन की यह

परम्परा भारत में साधकों, विचारकों और मनीषियों ने हजारों साल पहले स्थापित कर दी थी। यह संवाद की उस वृहद् परम्परा का अंग थी जो ज्ञान-सृजन और ज्ञान-ग्रहण का आधार मानी जाती है। विचारों की विविधता शाश्वत है और उसका मानव के विकास में अप्रतिम योगदान रहा है। विचारधाराओं के विरोध भी संवाद में सही रूप से निखरे और विवाद से बचे रहे। यही परम्परा आदि शंकराचार्य ने सुदृढ़ की और उनका मण्डन मिश्र तथा उनकी पत्नी से हुआ संवाद आज भी आदर और श्रद्धा से स्मरण किया जाता है। उसके पहले गीता तो कुल मिलाकर कृष्ण-अर्जुन संवाद ही तो है। वहां विकट परिस्थितियों से विकल हुए अर्जुन को ज्ञान, बुद्धि और व्यावहारिकता आधारित समाधान संवाद के द्वारा ही मिलता है।

आज यह अवस्था है कि भारतीय संस्कृति, आध्यात्मिकता, मानव-मूल्य सभी धर्मों की मूलभूत जानकारी, विश्व सभ्यता में भारत का योगदान, संस्कृत के अध्यापन की आवश्यकता इत्यादि शब्दों का उच्चारण मात्र ही कुछ लोगों को विचलित एवं व्यग्र कर देता है। जो कुछ कहा या लिखा जा रहा है उसे सुनने या पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं समझते हैं और विरोध तथा निन्दा में अपनी सारी शक्ति लगा देने को तत्पर हो जाते हैं। उन्हें 'एजेण्डा' नहीं दिखाई देता है वह अपनी अलौकिक शक्ति से 'हिडन एजेण्डा' ही देखते हैं और उसमें जो चाहते हैं वही देख लेते हैं। वह जानते हैं कि आज के युग में सारे प्रचार माध्यम विरोध को ही प्रमुखता देने का प्रयास करते हैं, वैसे भी कुछ चटपटा उसी से मिलता है। विरोध करके पनपने वाले और विरोध का लगातार प्रचार-प्रसार करने वाले लोग बिना किसी कठिनाई के आपस में सहमत हो जाते हैं।

मूल प्रश्न भारतीयता का है। हमें इसे उसके सर्वांगीण रूप में विकसित करना है या नहीं? क्या कोई भी देश अपनी प्रगति की नींव अपनी जड़ों से कट कर रख सकता है? क्या वह अपने विकास की गाथा को भुलाकर आगे बढ़ सकता है? क्या इस राष्ट्र की सामाजिक समरसता पहचानना, विविधताओं को जानकर उनमें एकता को अन्तर्निहित करना, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक बहुआयामों को समझना आवश्यक नहीं है, और यदि है तो क्या शिक्षा को भारत की जड़ों से जोड़े बिना ऐसा सम्भव है?

एन.सी.ई.आर.टी. ने नए पाठ्यक्रम की रूपरेखा बनाने के लिए ऐसे ही चिन्तन और वैचारिक परम्परा को आधार मानकर राष्ट्रीय स्तर पर शैक्षिक चर्चा के बिन्दुः एक दस्तावेज प्रकाशित कर जनवरी 2000 में उठाए। सारे देश में इन पर विचार विमर्श के आयोजन किए। इस सारी प्रक्रिया में हजारों लोगों और संस्थानों ने भाग लिया। देश में हर जगह लोगों ने कहा कि पिछले पांच दशकों में शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रयत्न किए गए हैं उनके अपने महत्व हैं परन्तु शिक्षा प्रणाली अभी भी अपनी देशज जड़ों को पूरी तरह खोज नहीं पाई है। हम उसी शिक्षा प्रणाली को ढोते चले

आ रहे हैं जो हमारे विदेशी शासक हमें दे गए थे। संविधान में सभी के लिए शिक्षा व्यवस्था की बात इस आधार पर मानी गई थी कि सामाजिक न्याय, बराबरी, मानवाधिकारों और प्रत्येक व्यक्ति के आत्मसम्मान को बढ़ाने में शिक्षा सबसे बड़ी भूमिका निभाएगी। सभी बच्चों को समानता के अवसर मिल सकेंगे। यह प्रश्न आज भी हमारे सामने खड़ा है कि क्या ऐसा हो पाया है या हो रहा है? यह प्रश्न भी दुर्भाग्य से लोगों को विचलित कर रहे हैं। दसवीं की परीक्षा में बैठने वाले अधिकांश बच्चे फेल घोषित कर दिए जाते हैं और जीवन भर वे इस अपमान और तिरस्कार का बोझ ढोते हैं। कितने ही बच्चे पाठ्यक्रम के बोझ से विभिन्न बीमारियों से ग्रस्त होते हैं। बस्ते के बोझ से सभी चिन्तित हैं। इस विकट परिदृश्य को देखते हुए भी 1988 के बाद अब 1999-2000 में पाठ्यक्रम की रूपरेखा पर पुनर्विचार करना कुछ लोगों को राष्ट्र हित में नहीं लग रहा है।

उक्त देशव्यापी चर्चा में जो बिंदु मुख्य रूप से उभरे उनमें ऐसे समाज का निर्माण करना शामिल था जहां न्यायसंगत समानता के सभी अवसर सभी के लिए उपलब्ध हों। विद्यार्थियों को देशज ज्ञान से भी परिचित कराया जाए और विश्व सभ्यता के विकास में भारत के उस योगदान को उचित स्थान दिया जाए जो उनके आत्मविश्वास और आत्मसम्मान को बढ़ाए और उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक हो। यह सब विद्यार्थियों को अपने देश की विविधताओं को समझने में सहायता देगा और एकता के सूत्र उनके सामने उजागर होंगे। हमें ऐसा पाठ्यक्रम बनाना होगा जो सभी संस्कृतियों, सभ्यताओं और उनके बीच की समानता के बोध से अवगत कराता हो, जो हर बच्चे को ज्ञान के सर्जक के रूप में विकसित करना चाहता हो और जो अध्यापक को उनके उत्तरदायित्व के आधार पर अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह विश्वास के साथ करने के लिए प्रेरित करता हो। एन.सी.ई.आर.टी. ने यह भी कहा है कि पाठ्यचर्या का बोझ कम होना चाहिए। यह 1992 में प्रोफेसर यशपाल समिति की संस्तुतियों के अनुरूप है। पास-फेल की प्रणाली खत्म होनी चाहिए, जो 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अनुरूप है। इस प्रकार की अनेक संस्तुतियां जो आकदमिक स्तर पर देश भर में चर्चा का विषय बननी चाहिए थीं कुछ लोगों का ध्यान उनके पूर्वाग्रहों के कारण अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाई। उन्होंने केवल दो बिंदुओं पर अपनी बातें कही हैं : पहली – मूल्यों की शिक्षा की बात और दूसरी – सब धर्मों की जानकारी देने के संबंध में एन.सी.ई.आर.टी. की संस्तुतियां। इसके अतिरिक्त सारे पाठ्यक्रम में केवल एक विषय को महत्वपूर्ण माना गया है और वह है इतिहास का अध्ययन और अध्यापन। कुछ लोगों का आरोप है कि इतिहास को शुरू नहीं अपितु विकृत करने का व साम्प्रदायिकता बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है और स्कूल के पाठ्यक्रम को बिगाड़ा जा रहा है। दुर्भाग्य यह है कि इस देश में कुछ स्वनामधन्य विद्वान केवल पंक्तियों के बीच में अपनी विचारधारा के अनुसार अर्थ

ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं। वे पंक्तियों को पढ़ते नहीं हैं। यदि वे सचमुच दस्तावेज को पढ़ते और पूर्वाग्रह से ग्रसित न होते तो उन्हें इतने अनावश्यक प्रयास और प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। कहते हैं कि सच्चाई को देखने के लिए सबसे पहले मन के अंदर शुद्ध विचार और पूर्वाग्रह रहित दृष्टिकोण आवश्यक है, अन्यथा व्यक्ति को वही दिखाई देता है जो वह देखना चाहता है। एन.सी.ई.आर.टी. ने यह संस्तुति की है कि स्कूल शिक्षा में मूलभूत मूल्यों को शामिल किया जाए तथा देश के सब धर्मों के संबंध में मूलभूत जानकारी बच्चों के सामने रखी जाए। एन.सी.ई.आर.टी. ने स्पष्ट रूप से यह भी कहा है कि मूल्य शिक्षा और धर्मों के बारे में जानकारी का समन्वय भी पाठ्यचर्या के सभी विषयों में आवश्यकतानुसार किया जाए। इसमें निहित उद्देश्य कक्षा में, सभा स्थलों पर, खेल के मैदानों में, सांस्कृतिक कार्यक्रमों में तथा ऐसे ही अन्य क्रियाकलापों के द्वारा प्राप्त किए जाएं। किसी भी स्तर पर मूल्य शिक्षा और धर्मों के बारे में शिक्षा पहले से नहीं दी जा रही है। 1986 की शिक्षा नीति में भी स्पष्ट रूप से इसकी संस्तुति की गई थी और उसी संस्तुति को एन.सी.ई.आर.टी. ने अब दोबारा जोर देकर कहा है। 1988 के पाठ्यक्रम की रूपरेखा में भी इसी बात को स्पष्ट रूप से कहा गया था। नए पाठ्यक्रम की रूपरेखा में सही आचरण, सत्य, शान्ति, प्रेम और अहिंसा को मूलभूत मूल्यों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

यद्यपि भारत एक पंथनिरपेक्ष राष्ट्र है परन्तु भारतीय समाज एक धार्मिक समाज है। यह एक तथ्य है कि भारत के लोगों के विभिन्न धर्म सभी को साथ में रहने का आधार प्रदान करते रहे हैं। सामाजिक समरसता यहां हजारों साल पुरानी है। इन सबको ध्यान में रखते एन.सी.ई.आर.टी. ने संस्तुतियां की हैं कि भारत के सभी लोगों को सभी धर्मों की जानकारी होनी चाहिए और यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि धर्मों के बारे में जानकारी आवश्यक है न कि धार्मिक शिक्षा देने की। इस प्रक्रिया में सभी धर्मों को बराबर सम्मान मिलना चाहिए और किसी भी धर्म के साथ कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति को अन्य धर्मों की जानकारी हो। इसके अनेक उदाहरण विदेशों में भी हैं जहां विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोग रहते हैं और बच्चों को उन सब के बारे में मूलभूत जानकारी दी जाती है।

एन.सी.ई.आर.टी. पिछले कई महीनों से अनेक शंकाओं, आशंकाओं और आलोचनाओं का उत्तर देती रही है। भारत के जाने-माने चिंतक और विचारक न्यायमूर्ति श्री वी.आर. कृष्णा अय्यर ने 24 नवम्बर, 2000 को प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी जी के नाम एक पत्र लिखा जिसमें एन.सी.ई.आर.टी. के पाठ्यक्रम की आलोचना की गई थी। इस पत्र को एक पत्रिका में पढ़ने का मुझे अवसर मिला और 31 मार्च, 2001 को एन.सी.ई.आर.टी. का पक्ष न्यायमूर्ति श्री अय्यर के सामने

रखा गया। भारतीय दर्शन के चिंतन की नब्ज को समझने वाले न्यायमूर्ति श्री अय्यर ने न्याय की अकाट्य परम्परा को कायम रखते हुए एन.सी.ई.आर.टी. के पक्ष का बिना किसी पूर्वाग्रह के विश्लेषण किया और केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री को 3 अप्रैल, 2001 को पत्र लिखकर कहा कि एन.सी.ई.आर.टी. का पक्ष जानने के बाद मैं उसे स्वीकार करता हूं और अपनी आलोचना वापस लेता हूं। उन्होंने यह भी कहा कि वे आशा करते हैं कि एन.सी.ई.आर.टी. ने जो कुछ कहा है उसे ही वह व्यावहारिक रूप में लागू करेगी।

एन.सी.ई.आर.टी. सारे देश को यह विश्वास दिलाना चाहेगी कि वह ऐसा ही करेगी और पंथ-निरपेक्षता तथा विविधता में एकता, जो शिक्षा के क्षेत्र की भी अमूल्य निधि हैं, को सहेजकर रखेगी और ऐसे प्रयास करेगी कि भारत का हर नागरिक दूसरे नागरिकों के प्रति आदर, उनकी संस्कृति के प्रति सम्मान और उनकी परंपराओं के प्रति श्रद्धा का भाव रखे तथा राष्ट्रीय एकता और सामाजिक समरसता के लिए अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करने के लिए तैयार रहे। जीवन के मूल्यों को समझे तथा भारतीय संस्कृति की विविधता का सम्मान करते हुए राष्ट्रीय एकता के लिए सब कुछ न्यौछावर करने के लिए सदा तत्पर और तैयार रहे।

जाने-माने चिंतक और भारतीय दर्शन के मनीषी डा. कर्ण सिंह ने लिखा है कि आध्यात्मिक पक्ष को एक बार फिर शैक्षिक चिंतन में लाने को महत्व देने की आवश्यकता है। उन्होंने प्रसिद्ध चिंतक जैक डेलोर्स के वाक्य का हवाला दिया है: 'यदि अगले 10 वर्षों में हम राष्ट्र की आत्मा तथा आध्यात्मिक विश्वास को सही अर्थ नहीं दे पाए तो हमारे अन्य प्रयत्नों का कोई अर्थ नहीं होगा।' ऐसी स्थिति में जो मूल्यों तथा आध्यात्मिक पक्ष पर चर्चा से ही विचलित हो जाते हैं, उन्हें संभवतः अपने विचारों को समयानुकूल बनाना ही पड़ेगा अन्यथा वह समय से बहुत पीछे छूट जाएंगे। एन.सी.ई.आर.टी. उनकी सहायता के लिए सदा तत्पर रहेगी।□□

25

ग्लोबल विलेज इसका चौधरी कौन?

भारतमाता ग्रामवासिनी! ये शब्द कितने ही हृदयों को अपनत्व की भावना तथा जुड़ाव से भर देते हैं। आज पैंतीस प्रतिशत लोग शहरों में आ गए हैं। उनमें से अधिकांश के हृदय में आज भी अपने गांव की याद और तड़प कहीं न कहीं अपनी जगह बनाए हुए है। गांव में हर कोई एक-दूसरे को जानता है, उनके सुखों और दुखों में शामिल होता है। अपनापन घटा जरूर है परन्तु उसकी जड़ें बहुत गहरी हैं और अभी भी उनमें जीवनदायिनी शक्ति बची है। अपने चिन्तन में, अवधारणाओं में तथा क्रियान्वयन में गांधीजी ने गांव को सदा केन्द्रबिन्दु में रखा। चम्पारण में जब गांधीजी गए तो वहां की हालत देखकर उन्होंने वहां तीन स्कूल खोले जन समर्थन तथा जन सहयोग से। भारत में गांव सुधार का भविष्य था— सबको शिक्षा मिले। वह शिक्षा जो ज्ञान के दरवाजे खोलती है और प्रकाश को मानव के अंतरतम तक पहुंचा देती है। भारत के गांवों के संदर्भ में गांधीजी ने इसे स्पष्ट रूप से, एक भविष्य-दृष्टा के रूप में पहचाना था। गांव और ग्रामवासी भारत में सदा चर्चा में रहे। उनके विकास की ही नहीं, उद्धार तक की बातें पिछले पांच दशकों में लगातार हर स्तर पर प्रमुखता से उठाई जाती रही हैं। उन चर्चाओं के परिणाम क्या और कितने हुए, यह एक अलग विचार बिन्दु है। गांवों ने कुछ लोगों में अपने प्रति 'रोमांस' का भाव भी इन वर्षों में पैदा किया। 'रूरल लाइफ' पर सेमिनार हुए, पुस्तकें लिखी गईं और महानगरों में भारी चारदिवारियों के अन्दर 'फार्म हाउस' बने जहां पांच सितारा संस्कृति को आगे बढ़ाने के उपक्रम जारी हैं और एम.टी.वी. पीढ़ी इसकी घुट्टी पीकर फल-फूल रही है। गांव का गीत, संगीत, लिबास और गहने सब मिलकर वहां भी 'ऐथ्निक-टच' पाकर अलग और विशिष्ट होने का अहसास दिलाते हैं। गांव कितने ही रूपों और संदर्भों में दूसरों के उपयोग और उपभोग में ही ज्यादा आते रहे हैं। आज भी यही हो रहा है।

आज एक गांव की बड़ी चर्चा है। हर जगह हर देश और हर स्थान पर *'ग्लोबल*

विलेज' लोगों का ध्यान खींच रहा है। सारा विश्व एक छोटा सा गांव बन गया है या बनने वाला है। हर व्यक्ति किसी भी अन्य व्यक्ति से संपर्क कर सकता है तत्काल! हर कोई हर किसी के पड़ोस में आ गया है। कल्पनातीत परिवर्तन हुए हैं पिछले दशक में और पिछले पांच या छः दशकों में। कितनी ही कल्पनाओं और परी कथाओं के संदर्भ लगभग समाप्त हो गए हैं। सुन्दरता के शाश्वत प्रतीक चन्द्रमा की पूरी परख हो गई है। नील आर्मस्ट्रांग के चरण वहां पड़े, वह वहां से मिट्टी उखाड़कर लाए और सारे विश्व ने जगह-जगह 'मून रॉक' को देखकर दांतों तले उंगली दबा ली! कहां गई वह सूत कातने वाली बूढ़ी नानी? कहां गए वह चांद के चेहरे के दाग। वह सब दादी नानी की कहानियों से निकलकर वैज्ञानिकों की प्रयोगशालाओं में पहुंच गए जहां उनके भौतिक स्वरूप में पूर्ण विश्लेषण कर दिया गया। जो सदियों से सुन्दरतम रहा, उसका सही रूप सामने आ गया। गांवों में भी जो कुछ अच्छा नहीं था, वह भी पिछले पांच दशकों में उभरा है और सामने आया है। जनतन्त्र, राजनीति, जन सेवा के जो आयाम बने हैं उन्होंने अपने प्रभाव सर्वविदित कर दिए हैं। नए सत्ता केन्द्र उभरे हैं, जाति-पांति की नई व्याख्याएं हुई हैं, शोषण के नए तरीके पनपे हैं।

गांव छोड़ने की इच्छाएं और बड़े शहर में जाने की आकांक्षाएं उतना ही लुभाती हैं जितना सिलिकॉन वैली में आई.टी. प्रोफेशनल बनकर जाने की लालसा। ग्लोबल विलेज का युग है, दूरियां खत्म हो गई हैं फिर क्यों न कमाई की जाए। आखिर हमारे लोग ही तो मॉरीशस, त्रिनिडाड, फिजी और कितनी ही अन्य जगहों पर गए और उन्हें समृद्ध किया। हम सब इन नए अवसरों के उपलब्ध होने से प्रसन्न हैं। 'इण्डियन डायस्पोरा' पर हमें गर्व है। वैश्वीकरण में हम अपना योगदान दे रहे हैं। आई.एम.एफ., डब्ल्यू.टी.ओ. सभी जगह हमारे हस्ताक्षर हैं। वर्ल्ड बैंक बिना हिचक हमें कर्ज दे रहा है। हम प्रगति के पथ पर अग्रसर हैं।

यह वैश्वीकरण हमें कहीं यह तो नहीं सिखा रहा है कि हम अपने को ही भूल जाएं और जो वह चाहते हैं उसे ही पूरी तरह स्वीकार कर लें और निर्बाध रूप से एक बार फिर इतिहास के इस मोड़ पर हम अब एक-दूसरे प्रकार की दासता तथा पराधीनता स्वीकार कर लें। यह शब्द कठोर लग सकते हैं परन्तु संदर्भ के विवेचन में इनका उपयोग आवश्यक है। जो हो रहा है उसे समझना प्रत्येक क्षेत्र तथा देश के लिए आवश्यक है। क्या एक ऐसे वैश्विक गांव की कल्पना साकार हो रही है जहां सभी की इच्छाओं, आकांक्षाओं, अभिलाषाओं तथा क्षमताओं का बराबरी के स्तर पर सम्मान होगा? जहां सादर समन्वय का प्रयास चल रहा हो? जो हो चुका है या जो हो रहा है, उसमें केवल पश्चिम की इच्छाओं, अपेक्षाओं और आकांक्षाओं को क्या सर्वव्यापी मान लिया गया है?

वही सर्वमान्य और सर्वश्रेष्ठ है इसकी अलिखित घोषणा विश्व के समक्ष कर

दी गई है। यह भी, स्पष्ट कर दिया गया है कि 'या तो मानो नहीं तो.....'! शक्तिमान तो सदा सर्वशक्तिमान बनना ही चाहता है। अगर उसे लगे कि बाकी तो निरीह से निरीहतर हो रहे हैं तो उसकी निरंकुशता तो बढ़ेगी ही! शक्ति और अहंकार की छाया में इस *'ग्लोबल-विलेज'* में हर तरफ हर दिशा में स्पष्ट संकेत मिल रहे हैं

मानो
जो कुछ मैं कहूं सब को मानना है
मेरे देश को सर्वोपरि रहना है
अतः उसे सर्वोपरि रखने की जिम्मेदारी तुम सबकी है
यह 'गांव' मेरा है
मैं हूं इसका चौधरी
तुम्हें यहां मेरे आदेशानुसार चलना है
मेरे निर्देशन में रहना है
मैं तय करूंगा
क्या बिकेगा, तुम्हारे बाजारों में
कैसे बिकेगा
मैं खिलाऊंगा तुम्हें
आइसक्रीम, आलू के चिप्स,
वैश्विक एकता के मापदण्ड हैं
कोका कोला, पेप्सी
मैकडोनल्ड
पिज्जाहट, एडीडास, कैल्विन क्लाइन
तुम्हारे नौजवान और बच्चे
इस लायक बनें
कि कर सकें इस सुख का उपभोग।
नहीं रहने देंगे पिछड़ा तुम्हें
अवसर दे रहे हैं
सिलिकॉन वैली में
हमारे डॉक्टरों के पर्चे टाइप करने के
बदले में चाहिए हमें
तुम्हारे बाजार में जगह
और खुली पहुंच
और क्या करना है

हम सिखाएंगे तुम्हें
पर्यावरण सुधारना है; एड्स से लड़ना है
जनसंख्या बढ़त रोकनी है
इन पर काम करो
वर्ल्ड बैंक तथा आई.एम.एफ. से कर्ज लो
जितना चाहो ले लो
उत्पादन को छोड़ो
तुम्हें हम कारें देंगे, बिजली देंगे
अच्छी गुणवत्ता, अच्छी तकनीक
तुम्हारी प्रगति की जिम्मेदारी हमारी।
हमारी संस्कृति, हमारी भाषा, हमारी वर्तनी
तुम इसे बिना हिचक अपना सकते हो
विश्व विकास में सहायक हो सकते हो
मेरे अनुसार चलो
मेरे पीछे चलो
इसी में कल्याण है
तुम्हारा
तुम्हारे गांवों का
तुम्हारे लोगों का
मेरे इस *ग्लोबल विलेज* में।

यह है सशक्त संस्कृति! इसी शक्ति और संचय के आधार पर नए विश्व की संरचना का प्रयास हो रहा है। जो कर रहे हैं वह सफलतापूर्वक कर रहे हैं। साझेदारी से कर रहे हैं। इन्होंने अमरीका की खोज की। वहां के मूल निवासियों को 'निपटाया', केवल कुछ बचे रहने दिए, वैसा ही आस्ट्रेलिया में किया, न्यूजीलैंड में किया। कितने ही प्रकार का शोषण कहां-कहां नहीं किया। जब यह जातियों और कौमों का समूल नाश करने में बड़प्पन दिखा रहे थे, भारत जैसे देश में हजारों साल पहले से ज्ञान, ध्यान और परोपकार की एक सम्पूर्ण संस्कृति की जड़ें जमीन में गहरी जा चुकी थीं। डालियां टूटीं, पेड़ कटे और सूखे, मगर जीवन तत्व बना रहा और फलता-फूलता रहा। हिंसा, शोषण और भौतिकशक्ति के आधार पर पनपी संस्कृति की आंधियों में भी हमारा आत्मविश्वास कभी डिगा नहीं।

यह संवेदन की संस्कृति थी। जीवन में क्या करना है क्या नहीं करना है; किसके लिए करना है कैसे करना है; जीवन की निरंतरता का तात्पर्य क्या है, भविष्य को कैसे समझना है, इन सब प्रश्नों को जानना और फिर उनके उत्तर प्राप्त करने में यदि आवश्यक हो तो जीवन लगा देना, ये इसके अभिन्न पक्ष रहे हैं। यह सत्य

की खोज की, अनवरत साधना की और तपस्या की संस्कृति थी। यह विजय की नहीं, स्वीकार्यता की संस्कृति बनी। दूर करने की नहीं, पास लाने की विधा बनी। हर विचार, परम्परा, भाव, भावना और परिपाटी को बराबरी के स्तर पर जानने, समझने और स्वीकार करने की क्षमता और शक्ति इसमें समाई। इसमें ज्ञान तथा समझ के साथ जन-मानस की संवेदना और भाईचारा सबसे आगे थे। भाव, भावना और मानव के सामाजिक जीवन की निधि वैयक्तिक ही नहीं सामाजिक आवश्यकता भी बने। इसमें मारने और विनष्ट करने के स्थान पर प्यार करने और अपनाने के चरित्र को सर्वोपरि माना गया। इसे व्यवहार रूप में जिया गया। इस संस्कृति में 'अपने को पहचानो' पर जोर दिया गया। केवल बाहर के भौतिक विश्व को ही सब कुछ न माना जाए। अपने अन्दर झांक कर देखने की क्षमता विकसित करना आवश्यक माना गया और अथक परिश्रम और साधना से इसके तौर तरीके ढूंढ़े गए। 'सर्वभूतहिते रतः' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के सम्बल पर बनी संस्कृति को अपनाने वाले गांव तेल-बाती वाले दीपक की तरह आज *ग्लोबल विलेज* के तूफान के सामने प्रकाश बिखेरने का साहस करने की क्षमता तो रखते ही हैं। आखिर तूफानों में हर एक दीपक नहीं बुझ जाता। □□

26

परिमार्जित नया पाठ्यक्रम (संशय कैसा?)

आज सारा विश्व शिक्षा के प्रति जागरूक है और इस तथ्य को स्वीकार रहा है कि शैक्षिक परिवर्तन की प्रक्रिया उतनी ही तेजी से होनी चाहिए जिस तेजी के साथ इस समय विश्व का सारा परिदृश्य बदल रहा है। यह बदलाव सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, तकनीकी तथा सभी क्षेत्रों में लगातार प्रगट और परिलक्षित हो रहे हैं और उनके परिणामों और प्रभावों से कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रहा है।

परिवर्तन की इस प्रक्रिया के शैक्षिक परिदृश्य में, विशेषकर स्कूल शिक्षा को परिवर्तनों के अनुरूप बनाने के संदर्भ में एक सुनियोजित प्रयास एन.सी.ई.आर.टी. ने 1999 में आरम्भ किया। जनवरी, 2000 में एक परिचर्चा-परिपत्र देश के सामने रखा गया। इस परिपत्र में शैक्षिक परिदृश्य में उभरने वाले मुख्य बिंदु रखे गए थे। फिर सारे देश में महीनों तक इस पर चर्चा हुई तथा गोष्ठियों के आयोजन रखे गए व प्रत्येक क्षेत्र से जुड़े लोगों ने इन चर्चाओं-गोष्ठियों में भाग लिया। इन्हीं आयोजनों के अन्तर्गत उभरे तथ्यों व आग्रहों के आधार पर विद्यालयी शिक्षा की रूपरेखा 14 नवम्बर, 2000 को देश के सामने रखी गई।

इस रूपरेखा के पहले अध्याय से लिया गया निम्नलिखित उद्धरण इसमें निहित उद्देश्य, मूलभाव व चिन्तन-आधार को अभिव्यक्त करता है

'सामान्यतया यह माना जाता है कि निर्धारित कार्य के लक्ष्यों को प्राप्त करने तथा सामाजिक समरसता स्थापित करने की दृष्टि से यथेष्ट गुणात्मक तथा व्यापक शिक्षा एक बहुत ही शक्तिशाली साधन है। कुछ महत्वपूर्ण राष्ट्रीय लक्ष्य हैं : पंथ निरपेक्षता, लोकतंत्र, समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व, न्याय, राष्ट्रीय एकता और देशभक्ति। शिक्षा का दायित्व है कि वह बच्चों में मानव अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति सम्मान की भावना विकसित करे। निर्बल समुदाय जिनमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, महिलाएं, विकलांग बच्चे और अल्पसंख्यक आते हैं, अब और अधिक समय तक सुविधा वंचित नहीं रखे जा सकते। 'शिक्षा' को चाहिए कि वह इस बड़ी जिम्मेदारी

को निभाते हुए इन लोगों के उत्थान और सबलीकरण में योगदान दे।'

इसका एक विचारणीय पक्ष यह भी है कि रूपरेखा का निर्माण पूर्ण रूपेण 1986 और 1992 की शिक्षा नीति की परिधि के अंतर्गत ही हुआ है। निश्चित रूप से संविधान में निहित इन्हीं मूल्यों और दिशा-निर्देशों का पूरा ध्यान रखा गया है। इसमें मूल्यों की शिक्षा, सभी धर्मों का समान रूप से और बराबरी के आधार पर प्रारंभिक जानकारी देने का प्रस्ताव, माध्यमिक स्तर पर इतिहास, भूगोल, आर्थिकशास्त्र, नागरिक शास्त्र और अर्थशास्त्र को अलग-अलग न पढ़ाकर सामाजिक विज्ञान के रूप में 1986 की शिक्षा नीति के अनुसार समेकित करने का प्रस्ताव सम्मिलित है। इन्हीं तीन पर आलोचकों के एक वर्ग विशेष का ध्यान केंद्रित है। शिक्षा के क्षेत्र में जो लोग पूरे परिदृश्य से परिचित हैं और शैक्षिक एकाधिकार वाले गुट की रणनीति से पिछले चार दशकों से परिचित हैं उन्हें इन आलोचनाओं में कुछ भी अप्रत्याशित नहीं जान पड़ता है। केन्द्र बिंदु से हट जाने की विवशता व हताशा और तोड़-मरोड़कर तथ्यों को रखने के अपने कौशल के आधार पर ही यह आलोचना हो रही है। बार-बार कहा जा रहा है कि यह पूरी 'रूपरेखा' शिक्षा नीति के क्षेत्र से बाहर है। किन्तु इसे सिद्ध करने के लिए उद्धरण देने के लिए इनमें से कोई भी प्रस्तुत नहीं है। मनचाहे शब्दों को गढ़कर उन्हें अर्थ देने का भ्रमोत्पादक प्रयास किया जा रहा है। 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति' ने धार्मिक कट्टरवाद को हटाने की बात स्पष्ट रूप से कही है। धार्मिक कट्टरवाद को धर्मों का नाम लिए बिना और उनकी प्रारंभिक जानकारी के बगैर कैसे हटाया जा सकता है, यह समझ से परे है। सारा विश्व इस तथ्य को मानता है कि धर्म मानव मूल्यों के स्रोत रहे हैं, केवल वे ही स्रोत नहीं हैं, अन्य स्रोत भी हैं। यह रूपरेखा में दिए गए तथ्य हैं। एन.सी.ई.आर.टी. ने जो राष्ट्रीय संवाद स्थापित किया उसमें मूल्यों के ह्रास की बात हर जगह उभर कर आई और अपेक्षा की गई कि एन.सी.ई.आर.टी. मूल्यों की शिक्षा के क्षेत्र में अपने अपेक्षित उत्तरदायित्व को दृढ़तापूर्वक निभाए।

किसी क्षेत्र में जब भी कोई नीति बनती है तो उसमें विस्तार लाने तथा उसकी आगामी योजनाएं बनाने और कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करना सम्बद्ध संस्थाओं का उत्तरदायित्व होता है। एन.सी.ई.आर.टी. इसी उत्तरदायित्व को निभा रही है। मूल्यों की शिक्षा और धर्मों की जानकारी देने के संबंध में एन.सी.ई.आर.टी. ने जो कुछ इस रूपरेखा में प्रस्तुत किया है उससे कहीं अधिक तो मानव संसाधन विकास संबंधी संसदीय स्थायी समिति के 'मूल्य आधारित शिक्षा के संबंध में इक्यासीवें प्रतिवेदन' में कहा गया है। यह प्रतिवेदन 26 फरवरी, 1999 को राज्यसभा में प्रस्तुत किया गया और उसी दिन लोकसभा के पटल पर भी रखा गया जिसके निम्नलिखित दो अंश अत्यंत महत्वपूर्ण हैं

"8.0 सत्य, धर्म, शांति, प्रेम और अहिंसा जैसे मूल्य सार्वभौमिक मूल्य हैं जिन्हें उस आधारशिला के रूप में अभिनिर्धारित किया जा सकता है जिस पर मूल्यों

पर आधारित शिक्षा कार्यक्रम तैयार किया जा सकता है। वास्तव में यह पांच सार्वभौमिक मूल्य हैं और यह मानवीय व्यक्तित्व के क्रमशः पांच कार्य-क्षेत्रों : बौद्धिक, शारीरिक, भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये शिक्षा के पांच मुख्य उद्देश्यों अर्थात्, ज्ञान, कौशल, संतुलन, दर्शन और व्यक्तित्व की विशेषता के साथ तदनुसार सह-संबंधित भी हैं।

"13.0 अन्य पहलू जिस पर विचार किए जाने की आवश्यकता है वह है धर्म, जिसका अत्यन्त दुरुपयोग किया जाता है और इसकी अवधारणा के बारे में गलत अर्थ लगाया जाता है। विद्यार्थियों को सभी धर्मों के मूल सिद्धांतों, उनमें अंतर्निहित मूल्यों और सभी धर्मों के दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन से परिचित कराने की प्रक्रिया को स्कूलों में 'मिडिल' चरण पर प्रारम्भ किया जाना चाहिए और इसे विश्वविद्यालय स्तर तक जारी रखा जाना चाहिए। विद्यार्थियों को इस बात से अवगत कराना होगा कि प्रत्येक धर्म की मूल संकल्पना समान है, केवल व्यवहार में अन्तर है। यहां तक कि यदि कुछ बातों में मतभेद हैं तो भी लोगों को मिलजुल कर रहना सीखना होगा और उन्हें किसी भी धर्म के प्रति घृणा का भाव भी नहीं रखना होगा।"

एन.सी.ई.आर.टी. भी यह अनुभव करती है कि इस संयुक्त संसदीय समिति में दोनों ही सदनों के माननीय सदस्य मनोनीत थे जो सभी राजनीतिक दलों से सम्बद्ध थे। ये सभी माननीय सदस्य एकत्र हुए और उनके अध्ययन और विचार-विमर्श के उपरान्त जिस प्रतिवेदन को आकर मिला वह न केवल इस समिति के द्वारा अपितु दोनों सदनों के द्वारा स्वीकृत प्रतिवेदन माना जाएगा। एन.सी.ई.आर.टी. यह भी मानती है कि संसदीय समिति का उक्त प्रतिवेदन भारतीय जन मानस की अपेक्षाओं को प्रतिबिम्बित करता है।

आज कुछ सुनामधन्य आलोचक कह रहे हैं कि यह 'प्रतिवेदन' तो पटल पर केवल 'रखा गया' था, स्वीकृत नहीं किया गया था। किसी भी संसदीय समिति की जानबूझकर की गई ऐसी अवहेलना का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है। ऐसे तर्कहीन विचारों के आधार पर आज मानव संसाधन विकास मंत्री को यह चुनौती मिल रही है कि वे संसद में किए गए वायदे के अनुसार एन.सी.ई.आर.टी. के द्वारा बनाई गई नई पाठ्यचर्या की रूपरेखा को वापस ले लें क्योंकि वह नीतियों के अंतर्गत नहीं आती। ये लोग भूल जाते हैं कि इस देश के लोगों के लिए उनके अपने-अपने धर्म उनकी मानसिक संस्कृति की प्रमुख वाहिनी है जो एक वास्तविकता है और भारतीय जन मानस एक धार्मिक समाज का गठन करता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा के संबंध में जितने भी प्रतिवेदन प्रकाश में आए और अभी तक बने आयोगों में सबसे अधिक सम्मानित आयोग कोठारी आयोग माना जाता है। इस आयोग ने सभी धर्मों के सम्बन्ध में बच्चों को जानकारी देने की बात स्पष्ट रूप से कही है

"नैतिक मूल्यों और धर्मों में संबंध — जिन नैतिक मूल्यों की शिक्षा देने का

प्रयत्न किया जा रहा है उनमें और बड़े-बड़े धर्मों के उपदेशों में स्वभावतः कई बातें सहसंबंधित हैं। नैतिक मूल्यों और जीवन की समस्या पर चर्चा करते समय विश्व के बड़े-बड़े धर्मों से ली गई कहानियों की चर्चा करना अत्यन्त उपयुक्त होगा। सभी धर्म ईमानदारी और सचाई, दूसरों का ख्याल रखना, बूढ़ों के प्रति आदर, पशुओं पर दया, दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति जैसे चरित्र के आधारभूत गुणों पर बल देते हैं। प्रत्येक धर्म के साहित्य में अनुयायियों को किसी नैतिक मूल्य का महत्व बताने के लिए कहानी या दृष्टान्त को मुख्य स्थान दिया जाता है। नैतिक शिक्षा के कार्यक्रम में यदि शिक्षक ठीक मौके पर ऐसी कहानियां सुनाए तो उनका बहुत ही अच्छा असर पड़ेगा, निचली कक्षाओं में तो यह बात और भी प्रभावी होगी।"

यही नहीं इस आयोग ने स्पष्ट रूप से कहा है कि शैक्षिक कार्यक्रमों में सभी धर्मों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, सभी धर्मों के त्यौहारों का सम्मान होना चाहिए और उस धर्म की विभूतियों के जीवन की कहानियों और घटनाओं को बच्चों के सामने प्रस्तुत करना चाहिए। माध्यमिक स्तर के दो वर्षों में सभी धर्मों के आवश्यक उपदेश भी बच्चों के अध्ययन में लाए जाने चाहिए। प्रश्न यह भी है कि क्या यह सब शिक्षा नीति की विवेचना के अंतर्गत नहीं आता है?

1986 की शिक्षा नीति में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है

हमारा समाज सांस्कृतिक रूप से बहुआयामी है, इसलिए शिक्षा के द्वारा उन सार्वजनिक और शाश्वत मूल्यों का विकास होना चाहिए जो हमारे लोगों को एकता की ओर ले जा सकें। इन मूल्यों से धार्मिक अंधविश्वास, कट्टरता, असहिष्णुता, हिंसा और भाग्यवाद का अंत करने में सहायता मिलनी अपेक्षित है।

इस संघर्षात्मक भूमिका के साथ-साथ मूल्य शिक्षा का एक गंभीर सकारात्मक पहलू भी है जिसका आधार हमारी सांस्कृतिक विरासत, राष्ट्रीय और सार्वभौम लक्ष्य व दृष्टि है, जिस पर मुख्य तौर से बल दिया जाना चाहिए।

एन.सी.ई.आर.टी. की 1988 की रूपरेखा में भी स्पष्ट रूप से दिशा निर्देश था कि मूल्य शिक्षा की सामग्री राष्ट्रीय लक्ष्यों, वैश्विक अवधारणाओं, नैतिक प्रावधानों और चरित्र निर्माण के अवयवों को मिलाकर बनाई जाए। धार्मिक द्वेष-भाव, हिंसा, अंधविश्वास, अन्याय, शोषण इत्यादि को हटाने के लिए सारे प्रयत्न किए जाएं। ये प्रयत्न कैसे किए जाएंगे, यह नीति की व्याख्या का अंग है और उसी के अंतर्गत 'चव्हाण समिति' की संस्तुतियों की एन.सी.ई.आर.टी. की प्रस्तुत रूपरेखा में मूल्य शिक्षा और धर्म के सन्दर्भ में अंश आते हैं। जो लोग 'चव्हाण समिति' के प्रतिवेदन के संसद में रखे जाने के समय शांत रहे आज एकाएक आकुल-व्याकुल हो उठे हैं। कारण स्पष्ट है, मनन तो दूर, उन्हें रूपरेखा का अध्ययन भी स्वीकार्य नहीं है। वे केवल गैर-शैक्षिक कारणों के कारण इसके विरोध को हवा दे रहे हैं।

सभी धर्मों की मूलभूत जानकारी रखने वाले व्यक्ति ही एक बहुआयामी संस्कृति

को सही ढंग से समझने की क्षमता विकसित कर सकेंगे या समरसता का विकास कर सकेंगे और सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे दूसरों का आदर करना सीखेंगे भी और सिखाएंगे भी। आने वाले समय में शिक्षा के मुख्य उद्देश्यों में यह एक होगा कि अंतर को समझा जाए और जितनी भी विविधताएं हैं उनके प्रति सम्मान का भाव विकसित होने दिया जाए।

एन.सी.ई.आर.टी. ने जब मूल्य शिक्षा और सभी धर्मों की मूलभूत जानकारी की बात कही है तो उसने इसके सभी पक्षों पर भी गहनता से विचार किया है। एन.सी.ई.आर.टी. देश के अध्यापकों पर और उनकी क्षमताओं पर पूर्ण विश्वास करती है और उसे पूरा भरोसा है कि भारत के अध्यापक बिना किसी भेदभाव के सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते व कराते हुए आवश्यक जानकारी बच्चों तक पहुंचाने में सक्षम रहेंगे। इसी सब को ध्यान में रखते हुए एन.सी.ई.आर.टी. ने सावधानी बरतने की जरूरत को भी रूपरेखा में समाहित किया है

धर्मों के बारे में शिक्षा अत्यन्त सावधानीपूर्वक देनी होगी। ऐसे कदम पहले ही उठाने होंगे जो यह सुनिश्चित करें कि धर्मों के विषय में दी जाने वाली शिक्षा में कहीं कोई व्यक्तिगत पूर्वाग्रह या मान्यताओं की कोई ऐसी संकीर्णता न आ जाए जो इसके उद्देश्य को ही पराजित कर दे। साथ ही यह भी देखना होगा कि धर्मों के बारे में शिक्षा के नाम पर रूढ़ियों की, कट्टरता की और अंधविश्वास की बातें न पढ़ाई जाएं। इसलिए सभी धर्मों के प्रति समान आदर का व्यवहार करना होगा, सर्वधर्म समभाव और किसी भी पंथ के मूल तत्व पर कहीं भी कोई भेदभाव नहीं रखना होगा (पंथनिरपेक्षता)।

आज कोई भी मनुष्य यह नहीं कह सकता है कि शिक्षा का मूल्यों से संबंध नहीं है। शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थी में मूल्य अंकुरित करने का उत्तरदायित्व सबसे प्रमुख है और इस उत्तरदायित्व के निर्वाह में भारत के लोगों की संस्कृतियों, धर्मों, आर्थिक स्थितियों, विविधताओं और विषमताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। एन.सी.ई.आर.टी. ने ऐसा ही एक प्रयास किया है। 'रूपरेखा' बनाने के बाद 8 राज्यों में एन.सी.ई.आर.टी. ने राज्य स्तर पर शैक्षिक विशेषज्ञों, शिक्षाविदों और शिक्षक-प्रशिक्षकों के साथ इस पर चर्चा की। कहीं पर भी इस प्रकार की आलोचना नहीं हुई जो 'प्रबुद्ध' आलोचकों का एक वर्ग लगातार करता आ रहा है। इन आलोचकों का उन बच्चों से कोई सरोकार नहीं है जो आज भी स्कूलों से बाहर हैं या जो हमेशा की तरह कुछ वर्ष बाद स्कूल के बाहर हो गए या फिर जो दसवीं की परीक्षा में असफल घोषित कर दिए जाएंगे। इन आलोचकों को पाठ्यक्रम के बोझ की समस्या कोई बड़ी समस्या नहीं लग रही है। चीजों को तोड़ने मरोड़ने में अपनी सिद्धहस्तता को प्रमाणित करने में जुटे ये आलोचक एन.सी.ई.आर.टी. जैसी संस्थाओं के लिए 'ट्रिक ऑफ ट्रेड' जैसे शब्दों का प्रयोग कर अपने अज्ञान तथा शिक्षा के क्षेत्र से स्वयं के परे होने का ही परिचय दे रहे हैं। □□

27

अर्थ का अनर्थ करने वाले

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् एक स्वायत्तशासी संस्थान है जिसने शिक्षा के क्षेत्र में पिछले 40 वर्षों में लगातार कार्य किया है। कुछ आलोचकों को इस संस्था के सदस्य जोशी जी के साथी नजर आते हैं। निश्चित रूप से उनका इशारा मेरी ओर है। वे इस तथ्य से भी सहमत होंगे कि इससे पहले एन.सी.ई. आर.टी. के सदस्य प्रोफेसर नुरुल हसन, श्री पी. शिवशंकर, श्री शंकर राव चव्हाण, श्री के.सी. पंत, श्री अर्जुन सिंह की पसंद के ही रहे होंगे। क्योंकि यह सभी महानुभाव शिक्षा मंत्री होने के नाते एन.सी.ई.आर.टी. के अध्यक्ष रहे हैं। सम्भवतः आलोचकों को यह जानना पसन्द नहीं होगा कि एन.सी.ई.आर.टी. के वर्तमान निदेशक (यानी मैं) जिनकी नियुक्ति जोशी जी ने की है, इसके पहले भी राष्ट्रीय स्तर के कई महत्वपूर्ण पदों पर रह चुका हूं। 1974 में एन.सी.ई.आर.टी. में प्रोफेसर के पद पर नियुक्ति प्रोफेसर नुरुल हसन के हस्ताक्षरों से हुई थी। 1989 में संघ लोक सेवा आयोग के द्वारा चयन के उपरान्त श्री पी. शिवशंकर की संस्तुति के साथ शिक्षा मंत्रालय में संयुक्त शिक्षा सलाहकार एवं संयुक्त सचिव के पद पर नियुक्त हुआ। 1990 में राष्ट्रीय बाल-भवन तथा बाल-भवन सोसाइटी ऑफ इण्डिया के चेयरमैन के पद पर तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री वी.पी. सिंह के द्वारा नियुक्ति की गई थी। 1994 में श्री अर्जुन सिंह ने राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् के प्रथम अध्यक्ष के पद पर नियुक्त किया था। जोशी जी ने वर्तमान नियुक्ति 1999 में की। चूंकि मेरी नियुक्ति के पश्चात् एन.सी.ई.आर.टी. की सक्रियता बढ़ी है और कुछ क्षेत्रों से अपेक्षित आलोचना भी बढ़ी है।

कुछ आलोचकों को तथ्यों से कुछ लेना-देना नहीं होता है। उनकी केवल एक आशंका है कि जो छोटा सा वर्ग शिक्षण संस्थानों पर कई दशकों तक हावी और काबिज रहा है उसे अब अन्य लोगों की प्रतिभाओं और श्रेष्ठताओं का सामना करना पड़ रहा है। वे यह नहीं चाहते कि कभी कोई उनकी विचारधाराओं के विपरीत बात कहे। पिछले चार दशकों में जिस किसी ने भी ऐसा प्रयत्न किया उसे बाहर

कर दिया गया और उन्हें संस्थानों के पास फटकने भी नहीं दिया गया। अब जबकि लोग सब के साथ बैठकर अपनी बात कह रहे हैं, इस वर्ग को अत्यंत कष्ट हो रहा है। कितने आश्चर्य की बात है कि दस्तावेज में लिखित तथ्यों से आंखें मूंदकर उसके विपरीत वह पढ़ा जा रहा है जो आलोचक तथा उनके साथी देश को पढ़ाना चाह रहे हैं।

एन.सी.ई.आर.टी. के दस्तावेज में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि एन.सी.ई.आर.टी. धार्मिक शिक्षा की बात नहीं कर रही है। वह यह कर भी नहीं सकती है क्योंकि ऐसा सोचना या करना हमारे संविधान के विपरीत होगा। एन. सी.ई.आर.टी. ने केवल इतना भर कहा है कि सब धर्मों के मूलभूत सिद्धांतों और उनकी समानताओं से बच्चों को परिचित कराया जाए। ऐसा इसलिए भी आवश्यक है जिस से भारत का हर बच्चा हर दूसरे धर्म का आदर करे और अन्य धर्मों की विशिष्टताओं को समझ सके। यदि यह जानकारी उसे नहीं होगी तो फिर यह आदरभाव और सम्मान उत्पन्न करना सम्भव नहीं है। एन.सी.ई.आर.टी. ने धार्मिक मूल्यों की बात नहीं कही है। कोई भी दस्तावेज को पढ़कर देख सकता है कि इसमें मानव मूल्यों तथा संवैधानिक मूल्यों की बातें ही कही गई हैं। धर्मों के मूलभूत सिद्धांतों को जानने से मानव मूल्यों को समझने में सहायता मिलती है और इस बारे में दो राय नहीं हो सकती है।

एक आलोचक कहते हैं कि पाठ्यपुस्तकों को तैयार करने के काम से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को अलग रखा जाए। क्या वे यह बताना चाहेंगे कि किसके प्रति निष्ठावान लोगों को इसमें शामिल किया जाए? एन.सी.ई. आर.टी. में प्रतिदिन देशभर से जाने-माने शिक्षाविद, वैज्ञानिक, अध्यापक तथा शिक्षक, प्रशिक्षक विभिन्न कार्यक्रमों में भाग लेने आते हैं। एन.सी.ई.आर.टी. के दरवाजे पर उनसे यह नहीं पूछा जाता है कि वे किस धर्म, वर्ग, पार्टी या विचारधारा से जुड़े हैं। एन.सी.ई.आर.टी. के लिए देश का हर नागरिक जो शैक्षिक प्रक्रिया में योगदान कर सकता है, सम्माननीय है। हर प्रकार की विचारधारा को समझने का प्रयत्न करना एन.सी.ई.आर.टी. का दायित्व है।

एन.सी.ई.आर.टी. अनेक पुस्तकें तथा पत्रिकाएं प्रकाशित करती है। विभिन्न विचारधाराओं वाले लेखक लेख लिखते हैं जिन्हें एन.सी.ई.आर.टी. अपनी पत्रिकाओं में प्रकाशित करती है। सभी जानते हैं कि एन.सी.ई.आर.टी. विशुद्ध शैक्षिक संस्था है जबकि कुछ लोगों ने सरकारी संस्था लिखा है। एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन सरकारी प्रकाशन नहीं हैं। हर पत्र, पत्रिका और समाचार-पत्र विभिन्न विचारधाराओं को छापते हैं और यह आवश्यक नहीं होता है कि हर व्यक्ति के विचारों से प्रकाशक सहमत ही हो। किसी लेखक के एक वाक्य को लेकर सारी संस्था पर आरोप लगाना

किस प्रकार के चिंतन का द्योतक है, यह कहना उक्त पृष्ठभूमि में आवश्यक नहीं है।

पाठ्यपुस्तकों के सम्बन्ध में एक समिति केन्द्रीय सरकार ने 1992 में बनाई थी। एन.सी.ई.आर.टी. के एक प्राध्यापक उसके सचिव थे। यह एन.सी.ई.आर.टी. की समिति नहीं थी। शिक्षा मंत्रालय ने इसकी रिपोर्ट कभी भी एन.सी.ई.आर.टी. को नहीं भेजी। एन.सी.ई.आर.टी. में जो भी जानकारी उपलब्ध है उस से यह बात साफ जाहिर होती है।

भारत का हर नागरिक चाहता है कि देश के सभी नागरिक समानता और सम्मान के साथ रहें और एक-दूसरे के प्रति आदर का भाव रखें। किसी भी देश का विकास उनकी अपनी आधारभूत क्षमताओं और ज्ञान के आधार पर ही होता है। ऐसा कोई पेड़ नहीं है जो जड़ों के बिना विकसित होकर फल और छाया देने वाला विशाल वृक्ष बन सके। भारतीय शिक्षा प्रणाली में अंग्रेजों ने इसकी जड़ें काटने का पूरा प्रयत्न किया परन्तु उनका प्रयत्न सफल नहीं हुआ। संभवतः इस देश में अभी भी ऐसे लोग हैं जो इन जड़ों को काटना चाहते हैं। एन.सी.ई.आर.टी. के दस्तावेज में जो बातें कही गई हैं वे किसी भी शिक्षा प्रणाली में स्वीकार्य मानी जाएंगी। जैसे, इस देश के इतिहास और प्रभाव को उसकी विविधताओं के साथ जानना, विश्व सभ्यता में भारत के योगदान को जानना, विज्ञान, व्यापार, चिकित्सा इत्यादि के क्षेत्रों में भारत के ज्ञान और कौशल से परिचित होना, इस देश का नागरिक होने में आत्म गौरव और आत्म सम्मान का अनुभव करना तथा एक ऐसे सुखी समाज के लिए प्रयत्न करना जो अपनी जड़ों से जुड़ा हो और विकास के लिए प्रतिबद्ध हो।

भाषा को किसी सम्प्रदाय या धर्म से जोड़ने की प्रवृत्ति देश के लिए आत्मघाती है और दुर्भाग्य से कुछ महानुभाव ऐसी ही कुचेष्टा कर रहे हैं। संस्कृत के संबंध में भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी टिप्पणी की है और उसकी महत्ता को माना है तथा यह निर्देश भी दिया है कि इसकी पढ़ाई के लिए प्रावधान होने चाहिए। देश की उन महान विभूतियों ने भी संस्कृत का हमारे राष्ट्रीय समाज हमारी परम्पराओं और पीढ़ियों से अटूट सम्बन्ध याद दिलाया है, जिन्हें समग्र राष्ट्र अपनी हर तरह की प्रतिबद्धताओं से ऊपर उठ कर सम्मान देता है और अपना आभार प्रकट करता है। क्या पं. नेहरु या महात्मा गांधी राष्ट्र के हितैषी नहीं थे? एन.सी.ई.आर.टी. ने जो कुछ कहा है वह त्रिभाषा सूत्र के अन्तर्गत ही कहा है। वास्तव में कई राज्यों ने संस्कृत को अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाने का प्रावधान कर रखा है। संस्कृत के सर्वविदित महत्व को ध्यान में रखते हुए ही एन.सी.ई.आर.टी. ने अपनी संस्तुतियां दी हैं।

एन.सी.ई.आर.टी. एक व्यावसायिक प्रतिष्ठान भी है जिसका निर्माण राष्ट्र ने किया है। यह राष्ट्र की एक धरोहर है और इसके अपने विशद उत्तरदायित्व हैं।

इसमें कार्य करने वाले अपने कार्यों के लिए देश में ही नहीं विदेशों में भी जाने जाते हैं। ऐसे संस्थानों के कार्य की बिना जाने समझे केवल कुछ लोगों के द्वारा कही-सुनी बातों के आधार पर आलोचना करना न केवल त्रुटिपूर्ण है बल्कि राष्ट्र के हित में भी नहीं है। प्रजातंत्र में सरकारें बदलती रहती हैं किन्तु संस्थाएं अपना कार्य अपनी पूर्ण क्षमताओं के साथ करती रहें ऐसी परिस्थितियां बनाने में सभी को सहयोग करना चाहिए। □□

28

'सेक्यूलरिज्म' के ध्वज-वाहक

चार दशक पहले एन.सी.ई.आर.टी. की स्थापना एक राष्ट्रीय संस्थान के रूप में की गई। स्कूल शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में इस संस्था को कार्य करने का उत्तरदायित्व दिया गया और अपेक्षा की गई कि यह संस्थान शिक्षा को हर प्रकार से उपयोगी और सार्थक बनाएगी तथा उसकी गुणवत्ता के विकास में योगदान देगी। एन.सी.ई.आर.टी. ने ऐसे ही प्रयास अपने कार्यों के द्वारा किए। कई कमियां भी रह गईं। कुछ दिनों से एक कमी की ओर ध्यान बार-बार जा रहा है। एन.सी.ई.आर.टी. संभवतः पढ़ने की आदत का विकास आवश्यक सीमा तक नहीं कर पाई है। यदि वह इस कार्य में सफल रही होती तो आज स्कूल शिक्षा के पाठ्यक्रम की रूपरेखा के संदर्भ में जो आलोचनाएं हो रही हैं और जो विवाद खड़े करने के प्रयास चल रहे हैं, उनका स्वरूप दूसरा होता। तब शायद उसके प्रयासों में वस्तुपरकता और गुणवत्ता भी होती। एन.सी.ई.आर.टी. ने स्कूल शिक्षा के नए पाठ्यक्रम की रूपरेखा राष्ट्र के सामने रखी है। जो आमतौर पर इस नई पाठ्यचर्या के बहुमुखी लक्ष्यों व प्रयोजन को ध्यान से पढ़ता है, उसकी प्रशंसा करता है। कुछ लोग जो पूर्वाग्रह के कारण पहले से ही अपनी आलोचना तैयार किए बैठे हैं, यदि वे भी उसे ठीक से पढ़ लेते तो उन्हें उन आशंकाओं और भय से दोहरा नहीं होना पड़ता जिससे वे इस समय आक्रान्त हैं। अच्छे और सामाजिक उत्थान के लिए किए जा रहे उद्देश्य को लांछित करना न तो समाज के और न ही राष्ट्र के हित में होगा।

स्कूल शिक्षा का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व ऐसे नागरिक पैदा करना है जो जीवन के सभी पक्षों को समझ सकें। जो समझने की क्षमता को लगातार विकसित कर सकें और समाज में सृजनात्मक रूप से अपना सहयोग और योगदान कर सकें। स्कूल शिक्षा के पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों में क्या सम्मिलित हो और उसमें परिवर्तन कब और किस प्रकार होने चाहिए इस पर अधिकांश शिक्षाविद् अपनी-अलग राय रख सकते हैं किन्तु एक बिन्दु पर सभी सहमत हैं कि पाठ्यक्रम और विषय-वस्तु को सदा एक-सा नहीं रखा जा सकता। इसमें परिवर्तन होने ही चाहिए। सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिवर्तन हर तरफ हो रहे हैं और उनके प्रभाव

से कुछ भी अछूता नहीं रहा है। पिछले दशक में सूचना तकनीक के क्षेत्र में अप्रत्याशित परिवर्तनों ने हर प्रकार के अन्य परिवर्तनों पर प्रभाव डाला है। इन परिवर्तनों को स्कूल शिक्षा को भी आत्मसात् करना होता है और यह एक निर्विवाद तथ्य है और राष्ट्रीय शिक्षा नीति भी स्पष्ट रूप से कहती है कि प्रत्येक पांच वर्ष के बाद शिक्षा नीति के विभिन्न आयामों के क्रियान्वयन का पुनर्निरीक्षण होना चाहिए। एन.सी.ई.आर.टी. ने 1988 में अपने पाठ्यक्रम की पुनर्रचना की थी और उसी दौरान अपनी पाठ्यपुस्तकें भी बनाई थीं। 1995-96 से एन.सी.ई.आर.टी. पर पूरा दबाव था कि पुस्तकें समय से बिछड़ गई हैं। यह प्रक्रिया उसी समय प्रारंभ की गई। मार्च 1997 और मार्च 1998 में पाठ्यक्रम परिवर्तन के लिए एन.सी.ई.आर.टी. ने परिवर्तन स्वीकार किए और धनराशि की व्यवस्था भी की। कुछ अज्ञात कारणों से यह कार्य तब आगे नहीं बढ़ सका। किन्तु 1999 में इसे पुनः प्रारंभ किया गया और नवम्बर 2000 में पूरा कर लिया गया।

तब से लगभग 12 राज्यों में राज्य स्तरीय संगोष्ठियां आयोजित की जा चुकी हैं जहां इसके कार्यान्वयन पर विस्तृत रूप में विचार हुआ है। इन गोष्ठियों में अधिकांश शिक्षाविदों और शिक्षकों ने नए पाठ्यक्रम की सराहना की और कहा है कि इसके क्रियान्वयन से हमारी शिक्षा समस्याओं का समाधान देश की अपेक्षाओं के अनुरूप होगा। इन आयोजनों में उन सभी नए बिंदुओं पर भी चर्चा हुई जो इस पाठ्यक्रम की रूपरेखा में उभरकर आए थे और जिन्हें क्रियान्वयन के स्तर पर समझना तो आवश्यक था ही साथ ही शिक्षण की प्रक्रिया में शामिल करना भी अपेक्षित था। एन.सी.ई.आर.टी. की साधन शक्ति यह भी है कि वह देश के प्रकाण्ड विद्वानों व शिक्षाविदों से लेकर प्राथमिक शालाओं के अध्यापकों तक से लगातार संपर्क में रहती है। यहां प्रतिदिन 5 से 7 कार्यशालाएं, बैठकें या सेमिनार होते रहते हैं जहां विशेषज्ञों से लेकर प्राथमिक शाला के अध्यापक तक भाग लेते हैं। ऐसे ही आयोजन इसके क्षेत्रीय शिक्षा संस्थानों में भी लगातार चलते रहते हैं। यह संपर्क और विचारों के आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया एन.सी.ई.आर.टी. की समझ को बढ़ाती है और उसे अपने उत्तरदायित्व को व्यावहारिक स्वरूप देने में सहायक रहती है। अभिव्यक्ति अथवा वाद-विवाद के उक्त आयोजनों के अन्तर्गत ऐसी कोई बात अभी तक उभरकर नहीं आई है जिसके कारण इस दस्तावेज के किसी भी भाग को अस्वीकार करने के लिए आवाज उठी हो।

हां, यह सच है कि कुछ तथाकथित मूर्धन्य विद्वानों ने इस प्रकार की एक प्रेस विज्ञप्ति जारी की है जिसमें उनकी चिंता केवल इतिहास, मूल्य शिक्षा, धर्म के बारे में जानकारी और गणित तक ही सीमित है। उन्होंने कठिन परिश्रम करके उस चर्चा को राजनैतिक स्वरूप देने का बीड़ा उठाया है। अपने इस प्रयास से ही ऐसे विद्वानों की यह प्रतिभा भी देश के सामने उजागर हुई है कि पाठ्यक्रम का अध्ययन

किए बिना ही वे उस की आलोचना करने की क्षमता रखते हैं। इन आलोचनाओं से ही कुछ ऐसे ही हीरे-मोती निकलकर आए हैं जिसे शिक्षा जगत के लोग कई वर्षों तक याद रखेंगे जैसे एन.सी.ई.आर.टी. ने आज तक कोई पुस्तक नहीं बदली है परन्तु आलोचना हो रही है कि एन.सी.ई.आर.टी. ने पुस्तकों के साथ क्या कुछ कर डाला है। एन.सी.ई.आर.टी. की नई पुस्तकें लिखे जाने की तैयारी चल रही है लेकिन इन पुस्तकों को तृतीय श्रेणी की पुस्तकें बताने की क्षमता कुछ ही विद्वानों में हो सकती है या फिर उन्होंने ज्योतिष के आधार पर ही सम्भव है पता लगा लिया हो। यही नहीं, उन्होंने यह भी पता लगा लिया है कि इतिहास में क्या लिखा जाएगा और क्या नहीं लिखा जाएगा। क्या हटा दिया जाएगा और क्या बढ़ा दिया जाएगा।

सामाजिक विज्ञान एक जटिल विषय है। विद्यार्थियों के अनुसार यह जटिल ही नहीं अत्यन्त कठिन विषय भी है। लेकिन इसकी पाठ्यपुस्तक कितनी कठिन और जटिल क्यों न हो, उनको समझने वाले इस देश में हैं और यह केवल तीन या चार लोगों तक ही सीमित नहीं है। दुर्भाग्य यह है कि कुछ गिने-चुने लोग यह मानते हैं कि आइन्स्टीन के सिद्धांत के प्रारंभिक वर्षों की तरह समाज विज्ञान को केवल वही समझते हैं और बाकी को इसे समझने, इसके बारे में सोचने और इस पर पुस्तकें लिखने का कोई सलीका या अधिकार ही नहीं है। ऐसे लोग चाहते हैं कि जो पुस्तक 30-35 वर्ष पहले लिखी गई थीं वही चलती रहें ताकि एकमात्र वही लोग इस विषय से जुड़े रहें। निश्चित है कि राष्ट्र इसे स्वीकार नहीं करेगा। शिक्षक और शिक्षाविद् जो व्यावसायिक जानकारियों और तथ्यों के बोझ से पीड़ित बच्चों की मनःस्थिति को समझते हैं, परिवर्तन के लिए उत्सुक हैं और उसे आवश्यक भी मानते हैं।

इस देश में ऐसे लोग भी हुए हैं, जिन्होंने पृथ्वी में 'कैप्सूल' गाड़ने की प्रथा को जन्म दिया ताकि भविष्य के इतिहास में भी उनकी चर्चा बनी रह सके। ऐसे ही लोगों ने एक नया 'कैप्सूल' ढूंढ़ा है – वैदिक कैप्सूल। एन.सी.ई.आर.टी. को ऐसा कोई कैप्सूल अभी तक नहीं मिला है और न ही इसे ढूंढ़ने का कोई प्रयास हो रहा है। वेद जैसे शब्दों से एन.सी.ई.आर.टी. को चिढ़ नहीं है। वेद महान् ग्रंथ हैं और जो लोग इनका आदर करते हैं, इनमें ज्ञान ढूंढ़ते हैं, वे भी इस देश के नागरिक हैं और एन.सी.ई.आर.टी. उनका भी उसी प्रकार सम्मान करती है जैसे बाकी सब का। नई पाठ्यचर्या में गणित शिक्षा पर रूपरेखा का तीन पृष्ठों में वर्णन है जिसमें आज के समय में गणित का क्या स्वरूप होना चाहिए, इसे व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। यह सब उन विशेषज्ञों, अध्यापकों, शिक्षाविदों से, जो इस विषय के जानकार हैं और गणित में आदर्श दखल रखते हैं, मिलकर लिखा गया है। उन तीनों पृष्ठों में केवल एक खास वाक्य है : विद्यार्थियों को अपनी कंप्यूटरी क्षमता बढ़ाने के लिए वैदिक मैथमैटिक्स का उपयोग करने को प्रोत्साहित किया जाए। इस

एक वाक्य से आहत हो कर इन मूर्धन्य वैज्ञानिकों ने घोषणा कर दी है कि गणित को पढ़ाने का 'तालिबानीकरण' हो रहा है। पाठ्यक्रम में बच्चों को पढ़ाने के लिए जो रूपरेखा निर्धारित की गई है, जो कुछ उससे सीखा जा सकता है उसको अधिक बढ़ाना और उन्हें प्रोत्साहित करना इन्हें राष्ट्रहित में नहीं लग रहा है, है न अचरज की बात!

धर्म निरपेक्षता, सेक्यूलरिज्म का सही अनुवाद नहीं है। अधिकृत अनुवाद है पंथ निरपेक्षता। इस सत्य को बार-बार पीछे धकेलने का प्रयास किया जाता रहा है। एन.सी.ई.आर.टी. निश्चित रूप से चाहती है कि भारत का हर बच्चा भारत के सभी लोगों के धर्मों के बारे में मूलभूत जानकारी रखे और उसी के आधार पर सभी धर्मों के प्रति आदर का भाव उसके मन में पैदा हो। इस प्रकार की संस्तुति पहली बार नहीं की गई है और इस वास्तविकता को आलोचक भी जानते हैं। सारा विश्व इस समय सामाजिक, आध्यात्मिक और मानव मूल्यों की बात कर रहा है। यदि कुछ लोग धर्म निरपेक्षता, मानव मूल्य, परम्परा इत्यादि शब्दों से भयभीत हैं और उन्हें अपने व्यक्तिगत लाभ व सुविधा के अनुसार अर्थ देना चाहते हैं तो निश्चित है कि ऐसा वर्ग स्वयं ही एक दिन विस्मृति का आवरण ओढ़ लेगा और इसका शिक्षा व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। असत्य की पूंछ पकड़कर गुहार लगाने से सत्य का प्रवाह नहीं रुकता है।

ऐसे लोगों की राय का भी सम्मान होना चाहिए जो योग और आध्यात्म को अप्रासंगिक मानते हैं। ऐसे ही लोग इतिहास की पुस्तकों में केवल एक विचारधारा और अपने 'हिडन-एजेंडा' के प्रति आस्थावान हैं। इस इतिहास की कुछ बानगी प्रस्तुत है

"परंतु आरंभ के अधिकतर तीर्थंकर अर्थात् पंद्रहवे तीर्थंकर तक, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में उत्पन्न बताए गए हैं, इसलिए उनकी ऐतिहासिकता नितांत संदिग्ध है....स्पष्ट है कि इन तीर्थंकरों की, जो अधिकतर मध्य गंगा के मैदान में उत्पन्न हुए और जिन्होंने बिहार में निर्वाण प्राप्त किया, मिथक-कथा जैन संप्रदाय की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए गढ़ ली गई है।" (प्राचीन भारत, कक्षा 11, 2000, रामशरण शर्मा, पृष्ठ 101)

"यथार्थ में जैन धर्म की स्थापना उनके आध्यात्मिक शिष्य वर्धमान महावीर ने की।" (वही)

"12 वर्षों तक वे जहां-तहां भटकते रहे। वे एक गांव में एक दिन से अधिक और एक शहर में पांच दिन से अधिक न टिकते थे। कहा जाता है कि अपनी बारह साल की लम्बी यात्रा के दौरान उन्होंने एक बार भी अपने वस्त्र नहीं बदले।" (वही)

"परंतु 1675 ई. में गुरु तेग बहादुर और उसके पांच अनुयायियों को गिरफ्तार

करके मौत के घाट उतार दिया गया। इसके कारण स्पष्ट नहीं हैं। कुछ फारसी विवरणों के अनुसार गुरु ने हफीज़ आदम नामक एक पठान से मिलकर पंजाब में अशांति पैदा कर दी थी।" (मध्यकालीन भारत, कक्षा 11, 2001, सतीश चन्द्र पृष्ठ 328)

"सिख परंपराओं के अनुसार, इसका कारण गुरु के ही परिवार के कुछ लोगों की साजिश थी। ये लोग उसे गुरुपद का हकदार नहीं मानते थे। कुछ और लोग भी उनके साथ हो गए थे।" (वही)

"इसके बाद गुरु गोबिंद सिंह एक निवृत्त जीवन व्यतीत करने के लिए तलवंडी चले गए जहां किसी ने उनकी शांति भंग नहीं की।"

यह बात संदिग्ध है कि गुरु के दो बेटों के साथ वह नृशंस व्यवहार वज़ीर खां ने औरंगजेब के कहने पर किया। मालूम होता है, औरंगज़ेब गुरु का विनाश नहीं चाहता था और उसने लाहौर के सूबेदार को उसे 'समझा-बुझाकर रास्ते पर लाने' के लिए पत्र लिखा था।" (वही)

"यद्यपि गुरु गोबिंद सिंह मुगल शक्ति का दीर्घकाल तक सामना नहीं कर सका और वह एक पृथक सिख राज्य स्थापित करने में सफल नहीं हुआ, तथापि उसने एक परंपरा कायम कर दी थी और वह हथियार भी गढ़ दिया था जिसके जोर पर भविष्य में स्वतंत्र सिख राज्य का सपना साकार किया जाने वाला था। उससे यह भी स्पष्ट हो गया कि किस प्रकार कोई समतावादी धार्मिक आंदोलन, कुछ खास परिस्थितियों में, एक राजनीतिक और सैनिक आंदोलन का रूप ग्रहण कर सकता था और सूक्ष्म रीति से क्षेत्रीय स्वतंत्रता के मार्ग पर कदम बढ़ा सकता था।" (वही)

"उसी दौरान दिल्ली, आगरा और मथुरा के आसपास के क्षेत्र में जाटों की एक नई शक्ति का भी उदय हुआ। उन्होंने भरतपुर में अपना राज्य कायम किया और वहां से वे आसपास के इलाकों में लूट-पाट मचाते रहे। उन्होंने दिल्ली दरबार में चल रहे षड्यंत्रों में भी भाग लिया।" (आधुनिक भारत, कक्षा 8, मार्च 2000, अर्जुन देव एवं इंदिरा अर्जुन देव, पृष्ठ 20)

एन.सी.ई.आर.टी. एक राष्ट्रीय संस्था है और जन साधारण को उस तक अपने विचार पहुंचाने का यथा अधिकार है। क्या वह सब पढ़ाना हितकर व आवश्यक है जो विभिन्न धर्मों के लोगों में शिक्षा के प्रति अविश्वास और परस्पर वैमनस्य पैदा करे? क्या यह आवश्यक है कि गुरु तेग बहादुर, भगवान महावीर और जाट समुदाय के प्रति बच्चों के मन में अनादर पैदा किया जाए और क्या तभी इतिहास सही इतिहास कहलाएगा? एन.सी.ई.आर.टी. इस संबंध में केवल कुछ गिने-चुने इतिहासकारों के बताए रास्ते पर लगातार चलती रहे ऐसा अब संभव नहीं है। देश में इतिहास समझने वाले, जानने वाले अनेक विद्वान हैं। एन.सी.ई.आर.टी. उनसे संपर्क में है। पूर्वाग्रह प्रेरित और विशेष वैचारिक विचारधारा को पोषित करने वाले

इतिहासकारों का मत ही एकमात्र मत नहीं होगा। यह कई बार कहा गया है कि एन.सी.ई.आर.टी. पंथ निरपेक्षता को और संवैधानिक मूल्यों को दृढ़ता से आगे बढ़ाएगी। वह उन बच्चों की ओर ध्यान देगी जो आज भी स्कूल शिक्षा के बाहर हैं या जिन्हें स्कूल छोड़ना पड़ा है। वह अल्पसंख्यकों, आदिवासियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों की सुविधा के लिए जो भी विशिष्ट योजनाएं हैं उनमें कर्मठता से योगदान करती रहेगी। भारत की बहु-आयामी संस्कृति और इसकी विशिष्टताएं व विविधताएं देश की धरोहर हैं, इन्हीं से देश की एकता सुदृढ़ होगी और सामाजिक समरसता बढ़ेगी। संवैधानिक निर्देशों के अंतर्गत और शिक्षा नीतियों की परिधि में रहते हुए शैक्षणिक प्रयासों को सुदृढ़ करने में यह संस्था अपना योगदान दे रही है और बिना विचलित हुए आगे भी देती रहेगी। जब एन.सी.ई.आर.टी. की पुस्तकें राष्ट्र के सामने आएंगी तो निश्चित रूप से उनका विवेचन होगा और ऐसी कोई भी पुस्तक जो ऊपर लिखी अपेक्षाओं ओर संदर्भों से बाहर होंगी, राष्ट्र के द्वारा स्वीकार नहीं की जाएंगी। क्या ही अच्छा हो कि जाने-माने आलोचक विद्वान थोड़ा धैर्य रखें और पुस्तकों के आगमन की प्रतीक्षा करें। वे देश की प्रतिभावानता को स्वीकार करें, दूसरों की क्षमताओं में विश्वास रखें और पुस्तकें आने पर फिर एक बार अपनी मुहिम जारी करें। □□

29

मानवीय मूल्यों का विरोध क्यों?

लोकतंत्र राजनीतिक दलों को अवसर प्रदान करता है कि वे सत्ता प्राप्ति के लिए प्रयास करें और यदि भाग्य अनुकूल हो तो सत्ता का लाभ उठाएं। इस प्रणाली के अंतर्गत कुछ दशकों तक सत्ता में रह कर इस प्रणाली के कृपापात्र इस भ्रम में जीना शुरू कर देते हैं कि शक्ति के केन्द्र वे ही हैं और देश व इसकी संस्थाओं का संचालन उनका नैसर्गिक अधिकार है तथा उनकी बपौती है। इसमें चंद स्वघोषित बुद्धिजीवी भी शामिल हैं जो किसी तरह अपने राजनीतिक आकाओं के प्रश्रय की बदौलत शक्ति और अधिकार के लाभकारी पद हथिया लेते हैं। लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में सत्ता में बने रहने के लिए क्रमवार होने वाले चुनावों में जनादेश प्राप्त करना आवश्यक होता है। राजनीतिज्ञ तो प्रत्येक जनादेश के अनुसार परिवर्तित स्थिति में ढल जाता है किंतु उनके ये पिछलग्गू हमेशा अपनी पूर्व स्थिति पर बने रहने के लिए उधेड़-बुन करते रहते हैं। जब परिवर्तन घटित हो चुका होता है तब ऐसे लोगों के सामने इस तरह की चिल्लपों मचाने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं बचा होता कि राष्ट्र के ऊपर खतरा मंडरा रहा है क्योंकि वे अब सत्ता से बाहर हैं और देश को नहीं चला रहे हैं। वे सभी ओर खतरे का लाल चिन्ह देखते व दिखाते रहते हैं। जो खतरे के लाल चिन्ह के परे कुछ देखना ही नहीं चाहते हैं ऐसे लोग अपने आपको मंदबुद्धि वालों के वर्ग से अलग भला कैसे कर सकते हैं?

व्यावसायिकता तथा व्यावसायिक संस्थानों की भूमिका की सराहना करने के लिए एक न्यूनतम स्तर की बुद्धि, विवेक और तार्किकता की दरकार होती है। मानवता के प्रति सर्वोत्तम निवेश उन संस्थानों द्वारा किया गया है जिनका ज्ञान के प्रसार, कौशल तथा क्षमता देने के क्षेत्र के निर्माण में निर्विवाद योगदान का कीर्तिमान रहा है। विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में एन.सी.ई.आर.टी. राष्ट्र की एक ऐसी गौरवपूर्ण निधि है जिसका संवर्धन गत 40 वर्षों के अन्तर्गत शिक्षक समुदाय द्वारा प्रेम, लगन, समर्पण और प्रतिबद्धतापूर्वक किया गया है। इसकी अपनी अत्यंत उच्च कोटि की प्रतिष्ठा है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि ऐसे लोग भी विद्यमान हैं, जो अपनी विचारधारा के अनुसार एन.सी.ई.आर.टी. पर अपना प्रभुत्व सदा सर्वदा जारी रखना चाहते हैं।

उनके लिए मूल्य, धर्म, संस्कृति, विरासत जैसे शब्दों का उच्चारण मात्र भय पैदा करने तथा उथल-पुथल लाने के लिए पर्याप्त रहता है। ऐसी शिक्षा की आवश्यकता पर बल देने के प्रयास जो भावी नागरिकों को ऐसे राष्ट्रबद्ध समाज के लिए तैयार करें, जो यह जानें कि इस देश में विद्यमान विविधता, अनेकता और बहुलता को स्वीकारते हुए सम्मान के साथ हिल-मिल कर वे कैसे रह सकते हैं, उनके लिए खतरे के संकेत बन जाते हैं। यह उनकी कल्पना से परे है कि ये ही वे विशिष्टताएं हैं जो राष्ट्र की एकता को आधार प्रदान करती हैं। कुछ लोगों के शब्दकोश में धर्म का अर्थ वह परंपरा है जो संस्कृत धर्मग्रंथों में वर्णित है। वे लोग पढ़ने, सोचने और बहस के लिए तैयार नहीं हैं।

एन.सी.ई.आर.टी. जैसी संस्थाएं शैक्षिक परिवर्तन को व्यावसायिक दृष्टि से देखने के लिए आदेशबद्ध हैं। इस संस्थान का लक्ष्य है वह आखिरी बालक जिसके अभिभावक और परिवार प्रकृति और समाज द्वारा प्रदत्त न्यूनतम लाभों से भी वंचित हैं। ऐसा बालक जो अभी भी और कभी भी विद्यालय से बाहर हो सकता है, या फिर एक ऐसा बालक अथवा बालिका जिसने पढ़ाई छोड़ दी हो या जो भूखे पेट स्कूल आता हो। ऐसे बालक के लिए 'विचारधारा' का क्या महत्त्व है? अच्छा होगा कि माननीय आलोचक अपना कुछ समय और ऊर्जा उन चिंताओं पर लगाएं जिनका यह बालक अकेली जान सामना कर रहा है और एन.सी.ई.आर.टी. ने ऐसे बच्चे की समस्या का जो समाधान करने का प्रयास किया है उस पर गौर करें। यदि उनमें से कोई भी एक व्यापक 'विकल्प' प्रदान नहीं करता है तो एन.सी.ई.आर.टी. ऐसे प्रबुद्ध दृष्टिकोण को सुनना चाहेगी जो उसके बोध को व्यावसायिक दृष्टि से उन्नत कर सके तथा उसे कार्यान्वियन योग्य प्राथमिकताओं का स्वरूप प्रदान कर सके।

'भारत के सभी धर्मों का आधारभूत दर्शन सभी बच्चों को जानना चाहिए', इस बात के उल्लेख भर से कुछ विचारकों के मस्तिष्कों में आशंकाओं का विस्फोट होने लगता है। उनकी यह स्थिति देखकर आघात लगता है। यदि बच्चों को भारत के लोगों के सभी धर्मों के आधारभूत दर्शन के बारे में और अधिक बता दिया जाए तो यह भारतीय एकता के ताने-बाने को भला कैसे छिन्न-भिन्न कर देगा? वे कहते हैं बच्चों को इससे इतनी क्षति पहुंचेगी जिसका सुधार नहीं किया जा सकेगा। वे इतना नहीं समझ सकते कि सभी धर्मों के आधारभूत दर्शन के ज्ञान से व्यक्ति विशेष में दूसरे धर्मों के प्रति अपेक्षित आदर की भावना का प्रादुर्भाव होगा। यह भावना भारत में जितनी जल्दी प्राप्त की जा सके उतना अच्छा होगा। प्रो. डी.एस. कोठारी अक्सर कहते थे कि दुनिया ने इतनी हिंसा, विखंडकारी प्रवृत्तियां, घृणा, लालच और अविश्वास पहले कभी नहीं देखा जितना आज। क्या हम व्यक्ति को न सिर्फ ऐसी दुनिया में रहने के लिए तैयार कर रहे हैं वरन् उसे यह आत्मविश्वास भी दे

रहे हैं कि वह इस दुनिया का ऐसा रूपांतरण कर सके जिसमें एक संबद्ध एवं कटिबद्ध समाज हो और सभी सम्प्रदाय सौहार्द्रपूर्वक एक साथ घुलमिल कर रह सकें। इस दुनिया को बेहतर नागरिकों की आवश्यकता है और शिक्षा इसमें अपार तथा महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

भारतीय राज्य धर्म निरपेक्ष है परन्तु भारतीय समाज धार्मिक है। इसके धर्मों के बिना भारत के बारे में कोई सोच भी नहीं सकता। कोई भी धर्म दूसरे लोगों के प्रति घृणा, हिंसा, अविश्वास या उनको क्षति पहुंचाने की बात नहीं करता। सभी धर्मों के आधारभूत दर्शनों के ज्ञान के बिना दूसरे धर्मों के अनुयायियों के रीति-रिवाजों, परंपराओं एवं व्यवहार के प्रति आदर भाव का विकास न तो अभी तक हो पाया है और न ही प्राप्त किया जा सकता है। तथाकथित बुद्धिजीवियों द्वारा अब भी सम्प्रदायों के आचार-व्यवहार, रीति-रिवाजों एवं आस्थाओं का उपहास करना इस बात का स्पष्ट संकेत है कि वे एक प्रगतिशील सोच को साकार करने में अपना योगदान नहीं देंगे।

मंत्रों एवं यज्ञों का अपना अलग महत्व है तथा एक अज्ञानी को उनकी निंदा करने का कोई अधिकार नहीं है। ब्रिटेन जैसे देश में विकासशील नया बहुधर्मी समाज यह आदेश देता है कि उनके बच्चे दूसरे धर्मों के बारे में जानें। जिन्हें शंका है उन्हें चाहिए कि पाठ्यचर्या का अध्ययन करें और धर्म के बारे में शिक्षा एवं धार्मिक शिक्षा के बीच के भेद के अर्थ को समझें। प्रो. डी.एस. कोठारी की अध्यक्षता वाले शिक्षा आयोग (1964-66) की रिपोर्ट में इस अंतर को विस्तारपूर्वक गंभीरता से बताया गया है। आयोग ने धार्मिक शिक्षा की सिफारिश नहीं की जैसा कि संवैधानिक आदेश है, परन्तु धर्मों के बारे में शिक्षा के लिए जोरदार वकालत की।

श्री एस.बी. चव्हाण की अध्यक्षता में 1999 के प्रारंभ में बनी एक समिति ने संसद में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की तथा धर्मों एवं मूल्यों के बारे में शिक्षा के लिए निम्नलिखित शब्दों में दलील दी

"मानव मूल्यों को विद्यार्थियों के मन में बैठाने के लिए विद्यालयी स्तर पर सीधे प्राथमिक स्तर से सोच समझकर, योजनाबद्ध एवं सतत् प्रयासों को करना बहुत अनिवार्य है। घर के सुरक्षित वातावरण में मां की दुलार भरी देख-रेख में छोटे बच्चों में मूल्यों की शुरुआत करना सर्वोत्तम है। हालांकि आजकल बच्चों को चार वर्ष की अल्प आयु में ही विद्यालयों में पंजीकृत कराया जाता है। मन पर छाप छोड़ने वाले इस स्तर पर ही छोटे बच्चों के मन में अभिभावकों, बड़ों एवं शिक्षकों के प्रति आदर भाव, सच्चाई, समय की पाबंदी, स्वच्छता एवं सौजन्यता जैसे मूल्यों को बड़ी आसानी से रोका जा सकता है। उन्हें लैंगिक समानता के बारे में भी संवेदनशील बनाया जा सकता है।

एक दूसरा पक्ष जिस पर विचार किया जाना अत्यावश्यक है, धर्म है। यह एक अवधारणा है जिसके बारे में काफी गलतफहमी है और जिसका काफी दुरुपयोग हुआ है। विद्यार्थियों को सभी धर्मों की मूलभूत बातों, उनमें निहित मूल्यों तथा सभी धर्म-दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन से परिचित कराने की प्रक्रिया विद्यालयों में माध्यमिक स्तर से शुरू कर विश्वविद्यालयी स्तर तक जारी रहना चाहिए। विद्यार्थियों को इस मूलभूत संकल्पना के बारे में जागरूक बनाना होगा कि प्रत्येक धर्म की मूलभूत संकल्पनाएं एक समान ही हैं, केवल व्यवहार में अंतर है। यदि कुछ बातों में मतभेद हों तो भी लोगों को सह-अस्तित्व एवं दूसरे धर्मों के प्रति घृणा भाव छोड़ना सीखना होगा।''

श्री एस.बी. चव्हाण, पूर्व केंद्रीय शिक्षा मंत्री तथा देश के वरिष्ठतम नेताओं में रहे हैं। अपने कार्यकाल के दौरान वे एन.सी.ई.आर.टी. के अध्यक्ष भी रहे। एन.सी.ई.आर.टी. की वर्तमान पाठ्यचर्या में जो भी कहा जा रहा है वह निश्चित रूप से चव्हाण समिति की सिफारिशों से बाहर नहीं है। ऐसे तथ्यों को अपनी सुविधा के अनुसार अनदेखा कर दिया गया है ताकि इस शैक्षिक प्रयास को राजनैतिक रंग दिया जा सके। यह दुनिया जो एक तरफ नाटकीय रूप से उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमंडलीकरण के आयामों तक आ पहुंची है तथा दूसरी ओर सूचना टैकनोलॉजी के प्रत्यक्ष प्रभाव से नाटकीय रूप से बदल रही है इसके लिए ऐसे शैक्षिक प्रयासों की बहुत अधिक आवश्यकता है जो नई पाठ्यचर्या में लक्ष्य के रूप में निर्धारित हैं। □□

30

आलोचना की पराकाष्ठा

साहित्य के क्षेत्र में आलोचकों का अपना महत्व तथा उत्तरदायित्व होता है। कई बार उनका एजेन्डा और कार्य-संपादन केवल अन्य के काम की आलोचना के रूप में ही सामने आता है। इसके लिए ही उन्हें सम्मान, ख्याति और प्रशंसा की लगातार अपेक्षा रहती है। जो कवि या लेखक स्वयं सृजनात्मक योगदान करते हैं, वे भी आलोचकों की 'कृपा' से जाने या अनजाने में ऐसे तत्वों से जुड़ जाते हैं। कुछ 'बन' जाते हैं कुछ नहीं। आज संचार माध्यम हर क्षेत्र में आलोचनाओं को प्राथमिकता देते हैं और संभवतः इसी कारण नए क्षेत्रों में भी आलोचक बनकर उभरने और कुछ बड़ा करने की प्रवृत्ति कई लोगों में लगातार बढ़ती दिखाई दे रही है। पिछले कुछ महीनों में बड़े जोर-शोर से शिक्षा के क्षेत्र में भी पुराने और नए आलोचक अपने राजनीतिक आकाओं के इशारे पर या अपने वर्चस्व की रक्षा हेतु परिवर्तन के विरुद्ध आलोचना में जुटे हुए हैं। कुछ शिक्षाविद् और सेवानिवृत्त नौकरशाह अपनी पुरानी पद-प्रतिष्ठा के आधार पर इस क्षेत्र में कूद पड़े हैं। एन.सी.ई.आर.टी. ने उन्हें अपनी स्कूल शिक्षा के नए पाठ्यक्रम की रूपरेक्षा के द्वारा यह अवसर प्रदान किया है। कुछ योगदान विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने भी किया है। इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों ने परिचर्चाएं आयोजित कीं। इनमें से एक ने दोनों हाथों में चार-चार अंगूठियां पहनकर ज्योतिर्विज्ञान की आलोचना की और इस संबंध के पक्ष में चर्चा करने वालों को दकियानूसी और पोंगापंथी घोषित किया। लोग उन्हें सुन कम रहे थे, उनकी अंगूठियों के रंगों की ओर अधिक ध्यान दे रहे थे। संभवतः यदि वे उनकी अंगूठियों में जड़ित रत्नों के प्रभाव पर चर्चा करते तो सुनने वाले भी संभवतः अधिक रुचि लेते।

शिक्षा में और विशेषकर स्कूल शिक्षा में विशेषज्ञता की कोई कमी नहीं है। इस देश में शिक्षा संबंधी अनेक निर्णय नौकरशाहों के निजी मन्तव्यों के आधार पर ही लिए जाते रहे हैं। फाइलों पर वर्षों तक लगातार अपनी टिप्पणी लिखने वाले नौकरशाहों के अंदर शिक्षाविद् कहलाने की इच्छा पनपना कोई नई बात नहीं है। इनके द्वारा पुस्तकों का लिखा जाना और उस आधार पर सेवानिवृत्ति के बाद बड़ी-बड़ी

परियोजनाएं तथा स्वयं सेवी संस्थाएं बनाकर चलाए जाने के अनेकों उदाहरण इस देश में विद्यमान हैं। उनकी मूलभूत आकांक्षा शैक्षिक इतिहास में स्थान बचाने की होती है और उसके लिए ये लगातार प्रयत्न करते रहते हैं। हर आलोचना के बाद पिछले कई महीनों से एन.सी.ई.आर.टी. के पाठ्यक्रम की रूपरेखा को मैंने अनेकों बार पढ़ा है और हर बार मुझे लगा है कि कई आलोचक केवल पूर्वाग्रहों और विचारधाराओं से बंधे होने के कारण इसे समग्र रूप से पढ़ने का प्रयास भी नहीं कर रहे हैं। उनके तर्क एक से हैं और उनका विश्लेषण करने पर उनके द्वारा व्यक्त की गई चिंता के कारण भी स्पष्ट हो जाते हैं। उन्हें अपनी विशेषज्ञता पर इतना अहंकार है कि वे अध्यापकों, शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों, शैक्षिक संस्थाओं से जुड़े लोगों और विषय-विशेषज्ञों के द्वारा मिलकर निर्धारित किए गए विचारों को उसी तरह बिना तर्कसंगत कारण या मिसाल दिए ही नकार देते हैं जैसा कि वे अपने सेवाकाल में अपनी टिप्पणियों द्वारा फाइलों पर करते होंगे और उनके पद के कारण कोई यह पूछने का साहस तब नहीं कर सकता था कि इसे अस्वीकृत करने के कारण क्या हैं? नौकरशाही में यह भी आवश्यक नहीं है कि निर्णय लेने के पहले जो कुछ लिखा हो उसे सचमुच ध्यान से पढ़ा ही जाए। ऐसा ही कुछ पुराने सहयोगियों और अब सेवानिवृत्त परन्तु स्वयं-सेवा में कार्यशील लोगों की आलोचना से और मानव संसाधन विकास मंत्रालय में पांच वर्ष बिताने के अपने अनुभव के आधार पर मुझे स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है।

कुछ दिन पहले एक जाने-माने शैक्षिक आलोचक महानुभाव ने, जो शिक्षा क्षेत्र में अनेकानेक समितियों के सदस्य होने के नाते जाने जाते हैं, अपने एक लेख में अत्यंत व्यंग्यात्मक शैली में संसद में भगवाकरण पर हुई बहस का संदर्भ दिया। संसद में 14 घंटे चली इस चर्चा को सुनने का मुझे भी अवसर मिला। एक जाने-माने सांसद ने पाठ्यचर्या की रूपरेखा के प्राक्कथन से दो वाक्य अंग्रेजी में पढ़े जिसका हिंदी अनुवाद इस प्रकार है– "इसलिए इस दस्तावेज में पाठ्यचर्या के स्वदेशीपन की अनुशंसा की गई है। इसी कारण यहां ऐसी शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया गया है जिसकी जड़ें भारतीय यथार्थ और भारत की सामाजिक संस्कृति में निहित हों"। सांसद महोदय ने 'और भारत की सामासिक संस्कृति' को पढ़ा ही नहीं, इस प्रकार अंग्रेजी में and its composite culture जो दूसरे वाक्य का स्पष्ट अंश है उद्धृत करते समय छोड़ दिया गया। क्या आलोचक इससे अनभिज्ञ हैं या ऐसा करने को सही मानते हैं? एन.सी.ई.आर.टी. इस पर क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करे? इसकी आलोचना करने वे लोग भी आगे नहीं आए जिन्होंने इस बहस में रुचि ली और पूरी बहस को पढ़ कर उद्धरण भी दिए। प्रश्न यह है कि जो सही नहीं है वह तथ्य को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने पर स्वीकार्य कैसे हो जाएगा? ऐसा ही उदाहरण एक जाने-माने नौकरशाह की आलोचना में मुखरित हुआ है। वास्तव

में सेक्यूलरिज्म एक ऐसा शस्त्र है जिससे किसी को भी धराशायी करने का प्रयास कुछ लोग पिछले पांच दशकों से लगातार करते आ रहे हैं। दुर्भाग्य यह है कि ऐसे लोग यह भूल गए हैं कि उनके इन प्रयासों से उन का ही आधार क्षीण हुआ है और जिनकी वे आलोचना कर रहे हैं उन का पक्ष सुदृढ़ हुआ है। वे आलोचना करने में इतने तन्मय हो जाते हैं कि किसी भी प्रकार से, या यों कहें कि साम, दाम, दण्ड और भेद का आधार लेते हुए, उसे सशक्त बनाने का प्रयास करते हैं, परन्तु इसमें वे स्वयं अत्यंत निर्बल हो जाते हैं। कहा गया है कि पाठ्यक्रम की रूपरेखा ने धर्म के बारे में जानकारी को सभी विषयों और सभी क्रियाकलापों में शामिल करने की बात कही है। आगे कहा गया है कि धर्म निरपेक्षता (सेक्यूलरिज्म) को एन.सी.ई.आर.टी. ने पंथ निरपेक्षता (धर्मों के आधार पर भेद-भाव न करना) से बदल दिया है और यह संविधान के विरुद्ध है तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 की अवहेलना है। एन.सी.ई.आर.टी. ने पंथ निरपेक्षता शब्द का प्रयोग किया है और शिक्षा के क्षेत्र में कई दशकों तक कार्य करने वाले और अपने को शिक्षाविद कहने वाले व्यक्तियों से यह आलोचना अपने आप में निराशा तथा दुख का विषय है। भारतीय संविधान के हिंदी संस्करण में धर्म निरपेक्ष शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, पंथ निरपेक्ष का हुआ है और इसी आधार पर एन.सी.ई.आर.टी. ने इसका प्रयोग किया है। जो लोग वर्षों से इस स्थिति में रहे कि राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा सम्बन्धित निर्णय ले सकते थे और जो गर्व के साथ यह कहते हैं कि वे 1986 और 1992 की शिक्षा नीति से जुड़े रहे, उनसे यह प्रश्न पूछा जाना चाहिए कि यदि स्कूलों में हिंदू देवी-देवताओं के ही जन्म दिन मनाए जाते रहे और उन्हीं से संबंधित प्रार्थनाएं होती रहीं तो उसका उत्तरदायित्व उनके ऊपर क्यों नहीं आना चाहिए? आज जब एन.सी.ई.आर.टी. यह कहती है कि सभी धर्मों को समानता के आधार पर देखा जाए और स्कूलों में ऐसे आयोजन हों जहां समानता और बराबरी लगातार दिखाई दे, कोई भी समारोह भेदभाव पूर्ण प्रतीत न हो, तब उन्हें एकाएक यह चिंता हो गई है कि इसका गलत प्रभाव पड़ेगा। एक तरफ यह कहते हैं कि आज तक जो हो रहा था वो गलत था और दूसरी तरफ यह भी कि हम कोई सुधार ही नहीं होने देना चाहते?

संस्कृत के संबंध में दस्तावेज में कहीं नहीं कहा गया है कि उसको आवश्यक विषय के रूप में पढ़ाया जाएगा। अनेक राज्यों में संस्कृत मातृभाषा के साथ पढ़ाई जा रही है और माध्यमिक स्तर पर ऐच्छिक विषय के रूप में भी उपलब्ध है। देश के सर्वोच्च न्यायालय ने 1994 में अपने एक निर्णय में स्पष्ट कहा है कि संस्कृत का स्थान सबसे अलग है और संस्कृत को महत्ता देना सेक्यूलरिज्म का विरोध नहीं होगा। इस संबंध में जिन्होंने पंडित नेहरु के कथन को न भी पढ़ा हो उन्हें कम

से कम सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय से तो परिचित होना ही चाहिए था।

कुछ लोगों को इसकी भी चिंता है कि पाठ्यक्रम निर्धारण में सही ढंग से राष्ट्रीय स्तर पर सहमति नहीं ली गई और केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (सीएबीई) के सामने दस्तावेज को नहीं रखा गया है। यहां पर एक उदाहरण संभवतः कुछ लोगों की याददाश्त ताजा कर सकता है। 1986 की शिक्षा नीति के बाद जब सरकार बदली तो अगली सरकार ने जाने-माने शिक्षाविद् श्री राममूर्ति की अध्यक्षता में एक समिति गठित की। इस समिति का प्रतिवेदन अपने आप में एक बहुत ही सम्माननीय दस्तावेज है जिसमें शिक्षा को भारत की जड़ों से जोड़ने के लिए, समाज को शिक्षा व्यवस्था से जोड़ने के लिए, हाथ से कार्य करने के लिए और शिक्षा के विकेन्द्रीकरण तथा लोगों की भागीदारी से संबंधित अनेक संस्तुतियां की गई थीं। इन संस्तुतियों का शिक्षा जगत में जोरों से स्वागत हुआ और इस प्रतिवेदन ने एक नई आशा का संचार किया। जब तक उसके क्रियान्वयन के संबंध में तैयारी हुई, सरकार फिर बदल गई और नौकरशाहों के सामने यह स्थिति आई कि 1986 की शिक्षा नीति के दिन लौट आए थे। अब उनके समक्ष समस्या थी कि राममूर्ति समिति के प्रतिवेदन को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाए। वह नौकरशाही ही क्या जो हर ऐसी स्थिति में अपना बचाव न करे। तुरंत ही एक और समिति जनार्दन रेड्डी समिति का गठन कर दिया गया। मैं स्वयं भी उस समय मंत्रालय में था और मुझे अच्छी तरह याद है कि कुछ अलिखित निर्देश उस समय स्पष्ट थे। नई समिति का कार्य यह सिद्ध करना था कि राममूर्ति समिति के प्रतिवेदन में जो भी कहा गया है वह तो 1986 की शिक्षा नीति में पहले से ही मौजूद है। कई बैठकें हुईं, चर्चा, परिचर्चा, संवाद हुए, प्रतिवेदन बना और कोई भी उसे देखकर स्पष्ट रूप से मानेगा कि कुल मिलाकर वही कहा गया है कि कुछ नया करने की आवश्यकता नहीं है, सब कुछ 1986 में पहले ही दिया जा चुका है। इसी को ही स्वरूप देने के लिए 1992 की शिक्षा नीति का प्रारूप तैयार किया गया।

आज हजारों शिक्षाविदों, शिक्षकों-प्रशिक्षकों, विश्वविद्यालयों, वैज्ञानिकों, लेखकों से चर्चा करने के बाद जो पाठ्यक्रम की रूपरेखा तैयार हुई है उसको केवल एक तकनीकी आधार पर अस्वीकृत करना कितना जायज है, इसका उत्तर देश के लोगों के पास है। उन्हें यह समझ है कि यदि केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड इतना ही महत्वपूर्ण था तो 1994 से 1998 तक यह आलोचक कहां थे और उन्होंने उसके पुनर्गठन या उसकी बैठकों की मांग क्यों नहीं की। कारण स्पष्ट है, उस समय निर्णय लेने के अधिकार इनके पास थे या संस्थान और संस्थाएं इनकी इच्छानुसार चलती थीं। तब सीएबीई की क्या आवश्यकता थी? ये भूल गए कि समय सदा एक सा नहीं रहता और परिवर्तन अवश्यंभावी है। इन आलोचनाओं में तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने

का प्रयास स्पष्ट दिखाई देता है और साथ ही ऐसे लोगों की हताशा और निराशा भी लगातार दिखाई दे रही है। जो भी आयोजन पिछले कुछ महीनों में बड़े जोर-शोर से किए गए और जिनमें पाठ्यक्रम की रूपरेखा को अस्वीकृत करने के प्रस्ताव पास किए गए थे उनमें भागीदार बने कई लोग अब इस सारे खेल को समझ चुके हैं। आज देश में यह आवाज अनेकानेक क्षेत्रों से आ रही है कि देश 'भगवाकरण' अब उस अर्थ में नहीं समझता है जिसमें ये लोग चाहेंगे कि सारा देश समझे। आज आवाजें उठी हैं 'ज्योतिर्विज्ञान' जीवन का तथ्य है और उसे वैज्ञानिक ढंग से समझने की सोच तथा अध्ययन करने का कोई भी प्रस्ताव तर्कसंगत है और कुछ लोगों के कहने भर से यह दकियानूसी नहीं हो जाता। स्कूलों में गणित के पाठ्यक्रम में यह लिखना कि विद्यार्थियों को गणनाओं में वैदिक गणित का प्रयोग करने की प्रेरणा दी जाए 'तालिबानीकरण' कर सकता है ऐसा न तो तथ्यपरक है, न वैज्ञानिक और न ही यह विचार देशहित में है। □□

31

कैसे-कैसे प्रगतिशील

प्रगतिशील अपने आप में एक सशक्त शब्द है। लोगों ने इसे अपनी व्यक्तिगत पहचान बना लिया है। आज तक मैं ऐसे किसी व्यक्ति से नहीं मिला हूं जो अपने को प्रगतिशील न मानता और समझता हो। कुछ लोगों ने बाकायदा संस्थाएं बनाकर या समूह गठित कर अपने को प्रगतिशील घोषित कर दिया है। वे बार-बार इस प्रकार की घोषणा करते रहते हैं कि जो उनकी विचारधारा से सहमत नहीं हैं या उनके अनुसार उन्हीं के नेतृत्व में चलने को तैयार नहीं हैं वे प्रगतिशील नहीं हैं, और चूंकि वह प्रगतिशील नहीं हैं अतः वे निश्चित ही पुरातनपंथी, दकियानूसी तथा पिछड़े हैं। वे समय के साथ बदले नहीं हैं। अतः निश्चित रूप से वे जो भी कर रहे हैं देश और समाज के हित में नहीं है। देश की, देशवासियों की तथा भविष्य की चिन्ता करने का हक और अधिकार केवल उन्हीं को है जो चिन्हित प्रगतिशील हैं, बुद्धिजीवी हैं या वैसा कहलाना अपना मूलभूत अधिकार मानते हैं। वे दूसरों को जो चाहें वह नाम दे सकते हैं। विरोध उन्हें करना ही है। प्रगतिशील होने का प्रमाण पत्र यही है। किस प्रयास का विरोध करना है, क्यों करना है, उससे क्या निकलेगा यह महत्वपूर्ण नहीं है। असहमत होकर ही समाचार-पत्रों में जगह मिलती है सहमति में खबर नहीं बनती। वह प्रगतिशील ही क्या जो सदा खबरों में बने रहने का प्रयत्न न करे। इसके लिए विरोध तथा आलोचना को पूर्वाग्रहों तथा तथाकथित आशंकाओं और कल्पनाओं के आधार पर खड़ा करना किसी प्रगतिशील के लिए कठिन नहीं होता है।

इस प्रकार की विचारधारा के पोषकों ने अनेक वर्षों तक देश में प्रगतिशीलों के गुट बनाकर संस्थाओं पर एकाधिकार जमाया और अपनी मनमानी की। उन्होंने बाकी सभी को 'अस्पृश्य' बना दिया। यह एक प्रकार के नए सम्प्रदायवाद तथा 'नव साम्प्रदायिकता' की शुरुआत थी। इन्होंने साम्प्रदायिकता को नई परिभाषा दी। इस वर्ग ने शब्दों को लगातार मनमाने अर्थ दिए और हर प्रकार से प्रयत्न किया जो अर्थ उनके अपने वर्ग-हित में हो, उसे ही बाकी लोग भी मानें। ये भूल गए

कि स्वतंत्र देश में शिक्षा का प्रचार और प्रसार हो रहा है। इस में देर भले ही लगे सफलता को कोई रोक नहीं सकता। लेनिन ने कहा था कि ज्ञान की किरणों से मेरे देशवासियों को वंचित रखा गया है। ज्ञान की वह किरणें बाद में लेनिन की विचारधाराओं के लिए भी घातक बनीं। आज 65% से अधिक साक्षरता वाले इस देश के लोगों ने प्रगतिशीलों के खेल समझने प्रारम्भ कर दिए हैं। लोग अपनी धारणाएं स्पष्ट रूप से व्यक्त करने लगे हैं। कुछ गिने-चुने लोगों का एकाधिकार अनेक संस्थाओं, कार्य क्षेत्रों और अधिकारों में समाप्त हो रहा है। 100 करोड़ से अधिक जनसंख्या वाले इस देश में समानता के अवसरों की बात करने वाले, कमजोर तबकों के लिए केवल आलेख और पुस्तकें लिखकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने वाले लोगों से छिपे नहीं रह सकते। इस परिवर्तन के प्रभाव की आंच से व्यथित कुछ लोग विभिन्न प्रकार के आरोप लगाकर और आधारहीन आलोचनाएं कर परिवर्तन की इस प्रक्रिया को विराम देना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं कि परिवर्तन स्वयं ही एक शक्तिशाली धाराप्रवाह है। कोई भी अवरोध इस को रोक नहीं सकता। यह विरोध चाहे दिशा पंथियों का हो, या विभिन्न रंगधर्मियों का हो, इस परिवर्तन का सरोकार तो सब रंगों और रश्मियों को मिलकर बने श्वेत धवल प्रकाश पुंज के स्वरूप में मानव मात्र का विकास ही हो सकता है। कुछ गिने-चुने लोग 'साम्प्रदायिकता बढ़ने वाली है' नामक आशंका से त्रस्त तथा भयभीत हैं। उनसे यह पूछना चाहिए कि पिछले 5 दशकों में उन्होंने साम्प्रदायिकता को समाप्त करने के लिए कितनी प्रतिबद्धता से प्रयास किए थे और यदि किए थे तो साम्प्रदायिकता आज तक समाप्त क्यों नहीं हुई, लोग उनके साथ क्यों नहीं आए। आज साम्प्रदायिकता के जिस आशंकित स्वरूप का सहारा ये लेना चाहते हैं उसके पनपने के लिए उत्तरदायी कौन हैं? उन्होंने ऐसे प्रयत्न क्यों नहीं किए कि धार्मिक सद्भाव पनपे, लोग एक दूसरे की मान्यताओं, परम्पराओं के साथ-साथ धार्मिक तथा सांस्कृतिक समानताओं को समझते, उनका आदर करते और जो कुछ है एक सा नहीं है उनके प्रति सम्मान प्रकट करते? इसका उत्तर कम से कम चिन्हित प्रगतिशीलों के पास तो नहीं है क्योंकि उनके चिन्तन का आधार सदा ही स्वार्थ की नींव पर टिका रहता है। अपने को विशिष्ट सिद्ध करने के लिए अन्य को हीन दृष्टि से देखना उनके लिए आवश्यक है। दूसरा रास्ता उन्हें पता ही नहीं है। उन्हें यह पता ही नहीं चल पाया कि जनमानस में उनके इस प्रकार के व्यवहार को क्यों अस्वीकृत कर दिया जाता है। यह डरे हुए लोग अपने अस्तित्व को बचाने की लड़ाई लड़ रहे हैं। यहां पर भी ये भूल कर रहे हैं कि परिवर्तन की प्रक्रिया में स्पष्ट है कि समाज में किसी भी व्यक्ति या समूह का एकाधिकार लगातार नहीं रह सकता। अतः विचारवान व्यक्ति सही समय पर मंच

से हटने के लिए भी अपने को तैयार करता रहता है। ऐसा न करने पर उसे आन्तरिक कष्ट की प्रक्रिया से गुजरकर हटना पड़ता है जो निश्चित ही पीड़ादायक होता है। आज प्रगतिशील वर्ग अपनी पीड़ा और निराशा को साम्प्रदायिकता के विरुद्ध तथाकथित अभियान के नाम पर सारे देश के सामने रखने का प्रयास कर रहा है। पिछले 6 महीनों में इस विरोध का स्वरूप भी लोगों ने पहचान लिया है और उस में छिपे उनके निहित स्वार्थों को देख भी लिया है।

स्कूली शिक्षा में इतिहास की नई पुस्तकें लिखने का निर्णय लिया गया है। 1986 और 92 की शिक्षा नीति में कक्षा 9 और 10 तक सामाजिक विज्ञान पढ़ाने का प्रावधान है, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, नागरिकशास्त्र को अलग-अलग विषय के रूप में पढ़ाने का नहीं। पिछले 15 वर्षों में इस दिशा में कोई प्रयत्न किए गए हैं। शिक्षा नीति में सुझाए गए इस परिवर्तन को लोगों ने नज़रअंदाज कर दिया। जो पुस्तकें चल रहीं थीं उन्हीं में छोटा-मोटा परिवर्तन कर नीति-निर्देशों की अनदेखी करते हुए उन्हें जारी रखा गया। आज जब शिक्षा नीति के अनुसार पुस्तकों में बदलाव लाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं तो प्रगतिशीलों को यह सब कुछ शिक्षा नीति के विरुद्ध दिखाई दे रहा है। उनकी आलोचना की बानगी देखिए : 'इतिहास को विषय के रूप में समाप्त किया जा रहा है और जो पुस्तकें बनी हैं वे द्रविड़ों तथा मुस्लिम धर्म अनुयायियों के विरुद्ध हैं' कितने स्वप्नदर्शी विद्वान हैं यह लोग जो पाठ्यक्रमों का पूरा स्वरूप बनने के पहले और पुस्तकें लिखी जाने के पूर्व ही उन्हें पढ़ लेते हैं और उनकी आलोचना कर लेते हैं। सम्भवतः ये वास्तविक भविष्य वक्ता हैं जो 'ज्योतिषशास्त्र' में अपने विश्वास के आधार पर ऐसा कर रहे हैं। अन्यथा आज तक इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जब किसी पुस्तक की आलोचना उसके निर्माण के पहले ही कर ली गई हो। जब 1986 की शिक्षा नीति बनी थी जब सब कुछ प्रगतिशीलों के हाथ में था। आज किसी भी मंच पर से प्रगतिशील लोग इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते कि 1986 की शिक्षा नीति में सामाजिक विज्ञान पढ़ाने की जो सिफारिश की गई थी वह आज एकाएक उन्हें अमान्य क्यों हो गई।

इस प्रकार की आलोचना किस प्रकार देशहित में है यह समझना साधारण मानव बुद्धि से परे है। संस्थाओं और राजनीतिक दलों में अन्तर न करने की परम्परा प्रारम्भ कर संस्थाओं के साथ घोर अन्याय किया जा रहा है। संस्थाओं के अपने उत्तरदायित्व हैं और उनका निर्वाह करने के लिए उन्हें अधिकार भी दिए गए हैं। इसे स्वीकार करने की क्षमता हर प्रबुद्ध व्यक्ति में विकसित होनी चाहिए। धर्मों के आधार पर संस्थाओं पर आरोप लगाना और यह कहना कि वे धर्म विशेष के साथ हैं या एक दूसरे के विरोध में हैं स्तरीय आलोचना के भाग नहीं कहे जा सकते हैं। पंथनिरपेक्षता, भारतीय संविधान का एक मूल आधार है। संविधान में प्रयुक्त शब्द पंथनिरपेक्ष ही

है, धर्मनिरपेक्ष नहीं। संविधान के पहले भी इस देश में हमारे देश के चिंतकों, विचारकों और नेताओं ने इसकी सम्पुष्टि की और धार्मिक सद्भाव बढ़ाने के लिए लगातार अथक प्रयास किए। आज धर्म का नाम लेने वालों को साम्प्रदायिक घोषित करने की मनोवृत्ति विषमता का जहर फैलाने का प्रयास ही मानी जाएगी। ऐसे प्रयत्न कुछ लोग कर रहे हैं। साम्प्रदायिक और विघटनकारी तत्व हर देश में किसी न किसी स्वरूप में उपस्थित होते हैं। कुछ नकाब ओढ़ लेते हैं, कुछ नहीं ओढ़ते। सम्भवतः जो नकाब ओढ़ते हैं वे देश का और लोगों का अधिक अहित करते हैं, बनिस्बत दूसरों के। इन परिस्थितियों में स्वार्थवश चिन्हित प्रगतिशील किसी को साम्प्रदायिक कहें तो उसका कोई महत्व नहीं रहता। ऐसे में सही दिशा-निर्देश करने का उत्तरदायित्व राष्ट्रीय संस्थाओं, शिक्षण संस्थाओं और शिक्षा व्यवस्थाओं का होता है। देश में सक्षम संस्थाएं हैं और वे अपना कार्य कर रही हैं। देश को उन पर विश्वास है। कुछ लोगों को कुण्ठाओं और पूर्वाग्रहों के कारण शंकाएं हैं। समय सिद्ध करेगा कि यह निर्मूल है।

इस समय चिन्हित प्रगतिशील वर्ग और कुछ इतिहासकार अवसाद-ग्रस्त और चिन्तित हैं। कारण इतिहास की नई पुस्तकें जो लिखी जा रही हैं। उन्होंने घोषणा कर दी है कि ये पुस्तकें साम्प्रदायिक होंगी, केवल हिन्दुओं के हित को ध्यान में रखेंगी और देश को विघटित कर देंगी! अपने पक्ष में उनका कहना है कि मूल्यों की शिक्षा की बात कही गई है और सबसे खतरनाक बात यह कही गई है कि भारत के बच्चों को सभी धर्मों के बारे में परिचयात्मक जानकारी दी जानी चाहिए। उन्हें लगता है कि इन दो मुख्य बिन्दुओं के आधार पर जो कुछ भी किया जा रहा है वह साम्प्रदायिकता बढ़ाने के लिए ही किया जा रहा है। प्राचीन भारत के चिन्तन, योगदान की चर्चा करना उन्हें राष्ट्र हित में नहीं लगता है कि हिन्दू शब्द ही साम्प्रदायिकता का पर्याय है। वेद या वैदिक ज्ञान शब्दों का उच्चारण करने वालों को प्रगतिशील विद्वान पाषाण युग का समझते हैं। राष्ट्रभक्ति उनके लिए रूढ़िवादिता है तथा राष्ट्रीय महापुरुषों के लिए सम्मान उन्हीं के लिए सुरक्षित होना चाहिए जिन्हें ये महान कहें। आज प्रगतिशील का अर्थ है कि सत्य, अहिंसा, शक्ति, सही आचरण तथा प्रेम के मूल्यों को शिक्षा से निकाल दिया जाए क्योंकि यह साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देंगे और देश विघटित हो जाएगा। गांधीजी ने 9 सितम्बर, 1928 को नवजीवन (गुजराती) में लिखा था — 'हर वर्ग में एक समय ऐसा रखा जाए जब सभी सम्प्रदायों का उदार और निष्पक्ष साधारण ज्ञान आदर के साथ दिया जाए। ...जो दुनिया के माने हुए धर्मों के लिए आदर पैदा करना चाहते हों उन्हें इसकी साधारण जानकारी प्राप्त कर लेना जरूरी है।' आज गांधीजी के इन वाक्यों को कहने वाले प्रगतिशीलों

की निगाहों में दकियानूसी हो गए हैं। ये हैं हमारे अपने प्रगतिशील। उन्हें भगवान महावीर, गुरु तेगबहादुर, जाट सम्प्रदाय का अनादर करने में कभी कोई हिचक नहीं होती। वह लगातार घोषित करते हैं कि राम और कृष्ण के अस्तित्व का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यदि यही इतिहास है कि राष्ट्र की परम्पराओं तथा अस्मिता को ध्वस्त करना है तो निश्चित है कि लोग विचार-विमर्श तो करेंगे ही और परिवर्तन तो होगा ही। देश के विभिन्न वर्गों और सम्प्रदायों के पूज्य महापुरुषों के प्रति असम्मान का भाव पैदा करना इतिहास का कार्य नहीं हो सकता। ऐसा इतिहासकार ही कहते हैं। इस देश में केवल 4 या 5 इतिहासकार हों, ऐसा मानना अब सम्भव नहीं है। प्रगतिशीलों को भी अब प्रगति से दूर नहीं रखा जा सकता है। उन्हें भी साथ लाना है। □□

32

अध्यापकों में गुरु परिचय

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के 'म्योर सेन्ट्रल कॉलेज' की एक गैलरी में मैं अत्यन्त सहमा सा खड़ा था। मेरे सामने एक बड़ी समस्या थी। विश्वविद्यालय में आए हुए मुझे केवल चार दिन हुए थे। मेरा किसी से कोई परिचय नहीं था। एक अत्यन्त भव्य व्यक्तित्व वाले सज्जन तेजी से चलते हुए उधर से निकले। उनकी निगाह मुझ पर पड़ी और कुछ आगे जाकर वह रुक गए। लौटकर मेरे पास आए और मेरे कंधे पर हाथ रखकर बोले 'क्या बात है, इतने निराश क्यों लग रहे हो? ऐसी कोई समस्या नहीं है जिसका कोई समाधान न निकाला जा सके। मुझे बताओ! उनके वाक्यों को सुनकर मैं कुछ आश्चर्यचकित और कुछ हद तक हतप्रभ होकर तुरन्त कोई उत्तर न दे सका। उन्होंने अपनी बात फिर दोहराई। मैंने साहस कर उन्हें अपनी समस्या बताई।

उस समय विश्वविद्यालय में प्रवेश कक्षा 12 की बोर्ड परीक्षा में प्राप्त अंकों के आधार पर होता था। मेरे अंक बहुत अच्छे थे और रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र तथा गणित के वर्ग में मुझे प्रवेश मिला था। स्कूल की कक्षाओं में रसायन शास्त्र की प्रयोगशाला में कार्य करना मुझे रुचिकर नहीं लगता था। विश्वविद्यालय में प्रवेश के उपरान्त जब मुझे यह पता लगा कि रसायन शास्त्र के स्थान पर सैन्य विज्ञान विषय लिया जा सकता है तो मैंने अपना विषय परिवर्तन करा लिया। इसमें कोई कठिनाई नहीं हुई क्योंकि सैन्य विज्ञान में केवल वही छात्र प्रवेश लेते थे जिन्हें रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र तथा गणित वर्ग में प्रवेश नहीं मिलता था। विषय परिवर्तन करने के बाद मैंने सैन्य विज्ञान विषय की कक्षा में पहली बार बैठकर अध्यापक महोदय के वक्तव्य को सुना। कक्षा समाप्ति के उपरान्त उन्होंने मुझे कहा कि मेरे कक्ष में आओ। मैं गया। उन्होंने मेरी अंकसूची फिर से देखी और देखकर कहा कि तुमने बहुत बड़ी गलती की है। तुम्हें इस विषय में नहीं आना चाहिए था। अपना फिर से विषय परिवर्तन कराओ और विज्ञान व रसायन शास्त्र का अध्ययन कर अच्छा वैज्ञानिक बनने की चेष्टा करो। उनकी बात और उनके तर्क मुझे सही लगे और यह आभास हुआ कि विषय परिवर्तन कर मैंने बहुत बड़ी गलती की है।

उनके कक्ष से बाहर आकर, मैं अब आगे क्या करूं इस चिन्ता से ग्रस्त खड़ा हुआ था कि तभी मुझसे यह प्रश्न पूछा गया कि मेरी निराशा का कारण क्या है?

मैंने सारी बात बताई। तब तक मुझे लग गया था कि यह सज्जन अवश्य विश्वविद्यालय में प्राध्यापक होंगे, पूछने की मेरी हिम्मत नहीं हुई। मैंने उन्हें पहले कभी देखा नहीं था। मेरी समस्या सुनकर वह मुझे अपने साथ संकायाध्यक्ष के कमरे में ले गए और उन्हें सारी बात बताई। संकायाध्यक्ष ने मेरी ओर देखा और कहा कि 'बार-बार विषय परिवर्तन की अनुमति नहीं दी जा सकती, इससे प्रशासनिक कठिनाई होती है। तुम सैन्य विज्ञान ही पढ़ते रहो। यहीं पर मुझे पता लगा कि जो सज्जन मुझे वहां ले गए थे उनका नाम प्रोफेसर राजेन्द्र सिंह था। संकायाध्यक्ष ने उन्हें इसी नाम से संबोधित किया था। प्रोफेसर राजेन्द्र सिंह जी ने मेरा पक्ष फिर से संकायाध्यक्ष के समक्ष रखा और लगभग चालीस मिनट के बाद मुझे विषय परिवर्तन की अनुमति मिल गई। प्रोफेसर राजेन्द्र सिंह जी ने मुझसे कहा कि 'चिन्ता की कोई बात नहीं है। आगे से कोई आवश्यकता पड़े तो मेरे पास आ जाना, मैं भौतिक शास्त्र विषय में अध्यापन करता हूं।'

एक अपरिचित विद्यार्थी के लिए इतनी आत्मीयता और स्नेह का मिलना किस कदर सुखद हो सकता है इसका अनुभव मैंने बाद के वर्षों में किया है। आज चालीस वर्ष के बाद भी मुझे उस घटना, स्थान और वार्तालाप का एक-एक शब्द याद है। सैकड़ों बार मैंने इसे अपने मन में दोहराया है और अपने हजारों विद्यार्थियों के समक्ष इस घटना को सुनाकर अध्यापक और विद्यार्थी के शाश्वत आदर और स्नेह के सम्बन्ध की धारणा को सुदृढ़ करने का प्रयास किया है। 1950 और 1960 के दशकों में विश्वविद्यालयों में बड़ी संख्या में वे विद्यार्थी आते थे जिनके परिवारों में शिक्षा की पहली या दूसरी पीढ़ी ही होती थी। इन विद्यार्थियों को, विशेष रूप से उनको जो छोटे कस्बों या शहरों से आते थे, विश्वविद्यालय का वातावरण अत्यन्त अपरिचित लगता था। उन्हें हर पग पर उत्साहवर्धन और मार्गदर्शन की आवश्यकता होती थी। अध्यापकों की वह पीढ़ी अपने उत्तरदायित्व को समझती थी और उसका अनुपालन भी करती थी। उसमें कुछ ऐसे थे जिन्होंने अपने जीवन में अपनी प्रतिबद्धता विद्यार्थियों को, विशेष रूप से उनको जो छोटे कस्बों या शहरों से आते थे, विश्वविद्यालय का वातावरण अत्यन्त अपरिचित लगता था। इन्हें हर पग पर उत्साहवर्धन और मार्गदर्शन की आवश्यकता होती थी। उसमें कुछ ऐसे थे जिन्होंने अपने जीवन में अपनी प्रतिबद्धता विद्यार्थियों के प्रति पूर्णरूपेण बना रखी थी। मुझे भी प्रारम्भ में ऐसे ही एक प्राध्यापक से मिलने का यह अवसर मिला। यह भी महत्वपूर्ण है कि इन दशकों में जो विद्यार्थी विश्वविद्यालय आते थे वे अध्यापकों के प्रति आदर, सम्मान की भावना से ओत-प्रोत होते थे। मेरे मन में यह धारणा घर कर गई थी कि विश्वविद्यालय के प्राध्यापक विद्वता, शोध और ज्ञान में अत्यन्त श्रेष्ठ होते हैं और कुलपति इन श्रेष्ठों में अतिश्रेष्ठ।

मेरी बड़ी इच्छा थी कि मैं कुलपति के दर्शन करूं। जब मैंने इस संबंध में जानकारी ली तो मुझे कहा गया कि कुलपति महोदय का कार्यालय यहां से दो किलोमीटर दूर है। वह शाम को 6.30 बजे अपने कार्यालय से निकलकर घर जाते हैं। उस समय उन्हें देखा जा सकता है। मैं वहां दो किलोमीटर पैदल चल कर गया। नियत स्थान से एक आदरपूर्ण दूरी पर खड़ा रहा। कुलपति महोदय अपने कार्यालय से नियत समय पर निकले और गाड़ी में बैठक चले गए। मुझे लगा मैंने एक बड़ी उपलब्धि प्राप्त की है। मैंने एक ऐसे व्यक्ति के दर्शन किए हैं जो इस विश्वविद्यालय में ज्ञानवान् तथा विद्वान् व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ है। कुलपतियों के प्रति यह भावना आगे आने वाले वर्षों में लगातार कुछ वर्षों तक बनी रही। आज यह मेरा दुर्भाग्य है कि मेरा चिन्तन बदल गया है।

विश्वविद्यालय में आने के पहले मुझे मेरे कई अध्यापकों ने प्रभावित किया। कक्षा 10 की वार्षिक परीक्षा से पहले तैयारी अनुमापन हेतु एक परीक्षा हुई। गणित विषय में मेरे 85% अंक आए, मैं प्रसन्न था। अधिकांश परीक्षाओं में मुझे अच्छे अंक मिलते थे और स्कूल में मुझे अच्छा विद्यार्थी माना जाता था। मेरे गणित के अध्यापक इससे सन्तुष्ट नहीं होते थे। इस बार परीक्षा में केवल 85% अंक देखकर उन्होंने मेरी उत्तर पुस्तिका में लिखा 'होपलेस'। जब उत्तर पुस्तिका मुझे दे रहे थे तो उनके चेहरे पर निराशा और दुःख के भाव थे। मैंने बचे हुए समय में और अधिक परिश्रम किया तथा वार्षिक परीक्षाफल से मेरे यह अध्यापक श्री मुहम्मद अयूब खान अत्यन्त प्रसन्न हुए।

सन् 1962 में मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग में स्नातकोत्तर कक्षा का विद्यार्थी था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय देश के शीर्षस्थ विश्वविद्यालयों में माना जाता था। वहां पर प्रवेश पाना अपने आप में हर विद्यार्थी के मन में विशिष्ट होने का भाव पैदा करता था। इस विश्वविद्यालय का भौतिकी विभाग अपने प्रसिद्ध वैज्ञानिकों, जिनमें डा. मेघनाद साहा, प्रोफेसर आर.एस. कृष्णन, प्रोफेसर राजाराम भार्गव शामिल रहे थे, के योगदान के लिए विश्व भर में जाना जाता था। उनके वहां न होते हुए भी सभी विद्यार्थियों को लगता था कि वे उन्हीं के मार्गदर्शन में, उन्हीं के आर्शीवाद से अपनी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। सभी अध्यापक विभाग की इस विशेष स्थिति को ध्यान में रखते थे तथा अपने आचरण, व्यवहार तथा कर्मठता में सदा ही उनके नाम को और अधिक उज्जवल बनाने का प्रयत्न करते रहते थे।

उस समय भारत में टेरिलीन के कपड़े मिलने लगे थे और सभी नई पीढ़ी के लोग उसे पसन्द करते थे। अपने 4-5 साथियों में सफेद रंग की टेरिलीन की कमीज़ पहने मैं खड़ा था। सामने से हमें प्रोफेसर राजेन्द्र सिंह आते हुए दिखे। वह तब विभागाध्यक्ष थे। हमने उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा, 'कमीज़ बहुत अच्छी है, घर में सभी के लिए बनी होगी।' वाक्य पूरा होते-होते वे

आगे बढ़ गए। मैं और मेरे साथी चुपचाप खड़े रहे। कुछ मिनट तक हममें से कोई कुछ भी नहीं बोला। मैं इसका अर्थ समझ गया था। यह बात जीवनपर्यन्त मुझे याद रही। मुझे आज भी अच्छी तरह याद है कि हम कहां पर खड़े थे, बाकी लोगों ने कैसे कपड़े पहने थे, कौन किस दशा में खड़ा था और प्रत्येक के चेहरे पर क्या भाव थे।

मैंने यह घटना अपने विद्यार्थियों को कई बार सुनाई। मैं नहीं जानता, उन्होंने इसके गूढ़ अर्थ को कितना समझा परन्तु मैं यह जानता हूं कि मूल्यों की शिक्षा देने के लिए अलग से पाठ्यक्रम बनाने की आवश्यकता उतनी नहीं है जितनी कि अध्यापक के आचरण, सरलता तथा सहृदयता से परिचय कर प्रत्येक विद्यार्थी स्वयं अपने आचरण में शामिल कर लेता है।

मैंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में ही भौतिकी में डाक्टर की उपाधि के लिए शोध कार्य प्रारम्भ किया। मेरे निर्देशक कुछ कारणों से डेढ़ साल बाद अस्वस्थ हो गए और मेरे कार्य पर उसका प्रभाव पड़ा। मैंने एक अन्य विषय में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया और बिना किसी अध्यापक को बताए दो शोध पत्र विदेश में छपने के लिए भेज दिए। मुझे आशा नहीं थी कि ये छपेंगे, अतः उन्हें घर के पते से भेजा था ताकि शोध पत्रिकाएं जब उन्हें वापस करें तो वे चुपचाप मुझे मेरे घर पर ही मिल जाएं। मैं और मेरे एक साथी, जिन्होंने इस कार्य में हिस्सा लिया था, आश्चर्यचकित रह गए जब ये दोनों पत्र छपने के लिए स्वीकृत हो गए। मेरी विषय में रुचि बढ़ी और यह इच्छा हुई कि मैं अपना शोध पत्र 'डॉक्टरेट की थीसिस' इसी विषय में प्रस्तुत करूं। विश्वविद्यालयों के माहौल में विभाग के एक प्राध्यापक के निर्देशन में कार्य करने वाला शोध छात्र दूसरे के निर्देशन में चला जाए ऐसा असंभव लगता था। निर्णय विभागाध्यक्ष प्रोफेसर राजेन्द्र सिंह जी को ही लेना था। उनका लगातार स्नेह मुझे मिल रहा था परन्तु इतना साहस मैं नहीं जुटा सका कि उनके सामने मैं अपनी समस्या रखूं। कई दिनों के विचार-विमर्श के बाद मैं डा. मुरली मनोहर जोशी के घर पर गया। उन्होंने कहा, 'हम सब तुम्हारे बारे में चिन्तित हैं। तुम्हारा काम ठीक से नहीं चल पा रहा होगा। मैं जानना चाहूंगा कि आगे के लिए क्या सोचा है।' मैंने उन्हें सारी स्थिति बताई और यह भी कहा कि दो शोध पत्र स्वीकृत हो चुके हैं और यह बिना किसी को बताए भेजे गए थे। मुझे लग रहा था कि इसको वह भी स्वीकार नहीं करेंगे कि शोध छात्र बिना अपने निर्देशक को बताए कोई पेपर छपवाए। उन्होंने इसके लिए मेरी प्रताड़ना की और दो-तीन दिन बाद मिलने के लिए कहा। मेरे लिए स्थिति अत्यन्त गम्भीर थी। प्रोफेसर जोशी ने भी, जो स्वयं भी राजेन्द्र सिंह जी के विद्यार्थी रहे थे, विभागाध्यक्ष से सीधे बात करना उचित नहीं समझा। वह सारी समस्या लेकर विश्वविद्यालय के लिए अत्यन्त वरिष्ठ सेवानिवृत प्रोफेसर के. मजूमदार के घर पर गए। प्रोफेसर मजूमदार ने भी

मेरे कार्य के सम्बन्ध में चिन्ता व्यक्त की। इसके बाद जोशी जी ने उन्हें सारी घटना बताई और सम्भवतः यह भी कहा कि जिस विषय में मैंने दो शोध पत्र लिखे हैं और जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की शोध पत्रिकाओं में छप रहे हैं, उसी में मुझे शोध करने का अवसर दिया जाना चाहिए। प्रोफेसर मजूमदार ने विभागाध्यक्ष से बात करने की स्वीकृति दी। मुझे विषय परिवर्तन की अनुमति मिल गई। इस सारी घटना में जहां मुझे कार्य का अवसर प्रदान किया वहीं जो कुछ गलत था वह भी मुझे स्पष्ट कर दिया गया। संवेदनशील अध्यापकों के निर्णय सदा विद्यार्थी तथा संस्था दोनों के हित में होने चाहिए और इस प्रकरण में भी ऐसा ही किया गया।

डा. मुरली मनोहर जोशी स्नातकोत्तर कक्षाओं में 'आप्टिक्स' तथा 'स्पेक्ट्रास्कोपी' पढ़ाते थे। उनका कार्यक्षेत्र उस समय भी बहुत फैला हुआ था। अपनी मोटरसाइकिल पर वह नियत समय कक्षा के सामने आकर रुकते थे तथा सीधे अन्दर आकर पढ़ाने लगते थे। ए-4 आकार के कागजों पर अत्यन्त साफ लिखाई में उनके विस्तृत नोट्स होते थे जिनका वह कभी-कभी उपयोग करते थे। हर पृष्ठ अलग रखा जाता था ताकि जब अगले वर्षों में परिवर्तन किया जाए तो उसे सही स्थान पर आसानी से जोड़ा जा सके। लगता था बड़ी मेहनत से बनाए गए हैं। मैंने जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भौतिक शास्त्र के प्रवक्ता के पद पर नियुक्त होकर पढ़ाना प्रारम्भ किया तो मैंने डा. जोशी का अनुसरण करते हुए नोट्स बनाए। उनसे मुझे अध्यापन में अपने आत्मविश्वास को बढ़ाने में बहुत सहायता मिली।

कार्यक्षेत्र के साथ-साथ डा. जोशी का अध्यापन-क्षेत्र भी बहुत विस्तृत था। उनके निवास पर 1960-61 में मैंने उनकी व्यक्तिगत लाइब्रेरी देखी थी। वहां पर संस्कृति, इतिहास, भाषा, अर्थशास्त्र, प्रशासन, प्रबन्ध सभी विषयों पर पुस्तकें काफी संख्या में थीं। हमें तब आश्चर्य होता था कि वह इतना केसे कर लेते हैं। उनकी ये क्षमताएं लगातार बढ़ती ही गईं, आज सारा देश इसे जानता है। अगस्त 1974 में एन.सी.ई.आर.टी. में मेरा चयन प्रोफेसर के पद पर हो गया। मेरे लिए यह सुखद आश्चर्य था। अधिकांश लोगों के लिए यह अप्रत्याशित आश्चर्य की घटना थी। मैं प्रसन्न था तथा इलाहाबाद जाकर अपने अध्यापकों का आशीर्वाद प्राप्त करना चाहता था। विश्वविद्यालय ने मुझे परीक्षा लेने आमन्त्रित किया। मैंने स्वीकार कर लिया। परीक्षा आठ बजे प्रारम्भ होती थी। मैंने सोचा था कि दस बजे के आसपास सभी से मिलूंगा। साढ़े आठ बजे डा. जोशी बी. एससी. की उस प्रयोगशाला में आए जिसमें मैं परीक्षा ले रहा था। उन्होंने मुझे गले लगाया और आशीर्वाद दिया। जो प्रसन्नता मैंने उनके चेहरे पर तब देखी थी, वह भुलाई नहीं जा सकती।

अपना शोध कार्य पूरा कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवक्ता के पद पर मेरी नियुक्ति हुई और मैं इलाहाबाद छोड़कर बनारस जा रहा था। मैं अपने सभी अध्यापकों से मिलने गया, उनमें से प्रोफेसर सुशील कुमार कार ने मुझे अपने पास

बैठाया और कहा कि अगले तीन-चार वर्ष अधिक से अधिक शोध कार्य करने का प्रयत्न करना। यह अच्छा समय है तुम्हें डाक्टर की उपाधि मिल गई है, तुम्हारी नियुक्ति हो गई है, घर परिवार की जिम्मेदारियां अधिक नहीं हैं और इतना समय आगे कभी नहीं मिलेगा।' घटना 1968 की है। 1968 से 1976 तक मैंने लगातार इस सलाह को याद करते हुए कार्य किया। मुझे इसका प्रतिफल अत्यन्त सुखद रूप में मिला। मैं सन् 1971 में रीडर के पद पर तथा सन् 1975 में 31 वर्ष की आयु में प्रोफेसर के पद पर राष्ट्रीय स्तर की चयन समिति द्वारा चयनित किया गया। वे कुछ मिनट जो मैंने प्रो. सुशील कुमार कार के साथ बिताए थे, मेरे जीवन के प्रवाह को गति देने में सफल हुए।

एन.सी.ई.आर.टी. के निदेशक पद पर मेरी नियुक्ति के कुछ दिन बाद प्रोफेसर सुशील कुमार कार मेरे कार्यालय में आए। वह मेरे व्यक्तिगत सचिव के कक्ष में गए और कहा कि मुझसे मिलने आए हैं। उन्हें बताया गया कि मैं एक बैठक में व्यस्त हूं। वे बोले, 'मुझे कोई जल्दी नहीं, मैं इन्तजार करूंगा।' सहज भाव से मेरे सहायकों से चर्चा करने लगे। इससे जब मेरे निजी सचिव को अन्दाजा लगा कि वह मेरे अध्यापक रहे हैं तो उन्होंने अन्दर आकर मुझे बताया। मैं उठकर उनके पास गया। वहां लगभग आठ-दस और भी व्यक्ति थे जो मेरे आने पर शिष्टाचारवश खड़े हो गए। मैंने डा. कार के चरण स्पर्श किया। देखने वालों को आश्चर्य हुआ। मुझे उनसे मिलकर आन्तरिक प्रसन्नता हुई। डा. कार ने मेरे कक्ष में आकर कहा लगता है आज मैं ही इस संस्था का निदेशक बन गया हूं। अपनत्व के ऐसे उदाहरण विरले से ही मिलते हैं।

स्नातकोत्तर कक्षा के अन्तिम वर्ष इलेक्ट्रोनिक्स के विशेष वर्ग में हम 15 विद्यार्थी थे। प्रोफेसर कृष्णा जी वरिष्ठ प्राध्यापक थे जो हमें यह विषय पढ़ाते थे । इसका कुछ अंश एक अन्य प्राध्यापक, जो दो वर्ष पहले ही नियुक्त हुए थे, पढ़ाते थे। परीक्षा के कुछ दिन पहले प्रोफेसर कृष्णा जी ने हम सबसे पूछा कि पाठ्यक्रम में क्या कुछ पूरा कर लिया गया है। और क्या बचा हुआ है? हमने उन्हें बताया कि 'डिटेक्टर्स' का अध्याय नहीं हुआ है, संभवतः अब हो भी नहीं पाएगा। परीक्षा पूर्व की छुट्टियां शुरू होने वाली थीं। प्रो. कृष्णा जी ने हमें अगले दिन नौ बजे आने को कहा। उन्होंने तीन घंटे हमें 'डिटेक्टर्स' पढ़ाया। अगले दिन लगभग चार घंटे उन्होंने इसी विषय पर अध्यापन किया और वह अध्याय पूरा कर दिया। जो कार्य-विभाजन हुआ था उसमें उन्हें यह नहीं पढ़ाना था, परन्तु अपने कनिष्ठ सहयोगी से बिना कुछ कहे उन्होंने स्वयं ही इस उत्तरदायित्व को अपने ऊपर ले लिया। विद्यार्थियों को यह आभास हुआ कि इस अध्याय पर प्रश्न अवश्य ही परीक्षा में सम्मिलित होगा, इसीलिए विशेष रूप से इसका अध्यापन किया। हमने यथानुसार तैयारी की और हमें पूरी आशा थी कि परीक्षा के पांच प्रश्नों में से एक प्रश्न तो हमें ज्ञात

हो ही चुका है परन्तु वार्षिक परीक्षा में इस विषय पर कोई प्रश्न नहीं पूछा गया। सभी हतप्रभ थे।

कुछ वर्ष बाद हममें से तीन-चार शोध छात्र, जो इसी वर्ष के थे, प्रोफेसर कृष्णा जी के साथ सायंकालीन चाय पर बैठे हुए थे। उनकी उपस्थिति में चर्चा सदा शोध या भौतिक शास्त्रों के अन्य विषयों पर ही होती थी। थोड़ा-सा अवसर मिलने पर हममें से एक ने डिटेक्टर्स पढ़ाने वाली घटना याद दिलाई और कहा कि किस प्रकार हम सबने मान लिया था कि इस विषस पर परीक्षा में प्रश्न अवश्य पूछा जाएगा। हमें उत्तर मिला, 'प्रश्न-पत्र तो मैंने ही बनाया था, मुझे यह भी ज्ञात था कि इस पर कोई प्रश्न नहीं पूछा जा रहा है, परन्तु इलाहाबाद विश्वविद्यालय से इलेक्ट्रोनिक्स में विशेष अध्ययन कर स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण कर कोई छात्र बाहर निकले और उसने डिटेक्टर्स न पढ़ा हो यह कैसे हो सकता है। विभाग की प्रतिष्ठा, गरिमा तथा अध्यापन की परिपूर्णता को बनाए रखना अध्यापक का उत्तरदायित्व है।' हम सबने एक दिन एक बहुत बड़ा पाठ पढ़ा। उसी समय आगे चर्चा करते हुए प्रोफेसर कृष्णा जी ने कहा कि 'कक्षा में अध्यापन हेतु बिना तैयारी के कभी नहीं जाना चाहिए। मैं स्नातक पूर्व कक्षा में भी जब भी जाता हूं तो अपने पाठ की रूपरेखा कागज पर अवश्य लिखता हूं। अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी यदि समय नहीं मिलता तो कक्षा में प्रवेश के पहले खड़े होकर अत्यन्त संक्षेप में मैं धैर्यपूर्वक पाठ की रूपरेखा अवश्य लिखता हूं।' उन्होंने अपनी जेब से एक कागज निकालकर हमें दिखाया और कहा कि आज जब वह बी.एससी कक्षा के प्रथम वर्ष में पढ़ाने के लिए गये थे तो उन्होंने यह तैयारी की थी। हममें से बहुत इस सीख को सदा मानने का प्रयत्न करते रहे।

कुछ वर्ष भौतिकी में शोध तथा अध्यापन करने के बाद में प्रशिक्षण तथा शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने लगा। वहां अध्यापन किया, तो शोध किया और कराया। मैंने यहां आकर लेखन-प्लान या पाठ-योजना क्या होती है यह जाना। खुद लिखना सीखा, विद्यार्थियों को सिखाया तथा कक्षा में पढ़ाते समय वे जिस प्रकार उसका उपयोग करते हैं इसका मूल्यांकन भी किया। यहीं पर मैंने यह जाना तथा देखा कि जिस प्रकार की पाठ योजना बनाना हम विद्यार्थियों को सिखाते हैं वह कभी भी स्कूलों में पढ़ाते समय अध्यापक न तो बनाते हैं और शायद बनाना चाहें भी तो नहीं बना सकते हैं। शिक्षाविदों ने इसमें परिवर्तन करने का कोई सुझाव स्वीकार नहीं किया है। जैसी 40 वर्ष पहले पाठ-योजना बनती थी, आज भी बन रही है। प्रोफेसर कृष्णा जी ने पाठ-योजना बनाने का कोई प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया था। उन्होंने स्वयं यह नवाचार अपनाया तथा जीवनपर्यन्त उसका उपयोग किया।

सेवा निवृत्ति के बाद प्रोफेसर कृष्णा जी स्कूल के क्षेत्र में गहरी रुचि लेते रहे। वह सदा अपने शोध छात्रों की हर प्रकार की सहायता करने के लिए प्रयत्नशील

रहते थे। किसी भी विद्यार्थी को जो भी सहायता आवश्यक हो, देने के लिए उनके पास सदा समय होता था और उस सम्बन्ध में जो भी प्रयत्न करने होते थे वह करते रहते थे। राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् के अध्यक्ष पद पर जब मेरी नियुक्ति हुई तो वह अत्यन्त प्रसन्न थे। स्थापना के दो वर्ष के अन्दर राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् ने बी.एड. के पत्राचार पाठ्यक्रमों पर रोक लगा दी। ये पाठ्यक्रम विश्वविद्यालय द्वारा पैसा इकट्ठा करने के स्रोत बन गए थे। कुछ विश्वविद्यालय तो बी.एड. की उपाधि सरलतापूर्वक देने के लिए देश भर में लोकप्रिय हो रहे थे और प्रतिवर्ष बीस-बाईस करोड़ की शुद्ध बचत भी कर रहे थे। राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् का अध्यक्ष रह चुकने के नाते मैं ही जानता हूं कि इन पाठ्यक्रमों पर रोक लगाने के लिए मैंने तथा मेरे साथियों ने कितना श्रम किया तथा कितने दबाव सहे। हम दृढ़ निश्चय के साथ अपने प्रयत्न करते रहे। प्रोफेसर कृष्णा जी ने लगातार मेरा उत्साह बढ़ाया। गरीब विद्यार्थियों से पाठ्यक्रम के नाम पर पैसे उगाह कर उससे भवन बनाना, कारें, एअरकंडीशनर खरीदना और वह भी विश्वविद्यालयों द्वारा, उन्हें कभी स्वीकार नहीं था। अच्छे अध्यापक देश के लिए कितने आवश्यक हैं, इस पर उनके विचार अत्यन्त विश्लेषणात्मक तथा सुदृढ़ आधार पर बने हुए थे। बहुत से विद्यार्थी जो दिल्ली की संस्थाओं में विभिन्न पाठ्यक्रमों में पढ़ते थे, उनके पास मदद के लिए जाते थे। एक बार इसी तरह के किसी कार्य के लिए वे मुझे फोन पर कुछ जानकारी दे रहे थे । मैं जल्दी में था, मैंने बीच में ही कहा कि मैं समझ गया हूं और इस कार्य को पूरा कर लूंगा। उधर से उन्होंने कहा, 'पहले पूरी बात सुन लो, एक-एक तथ्य जान लो, फिर कार्य करना।' ऐसे शब्द किसी ने मुझे बहुत वर्षों बाद कहे थे परन्तु उनमें जो निहित भाव था वह मैंने अपने चिन्तन में अंगीकार कर लिया है।

1980 में मैं क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, भोपाल में प्राचार्य के पद पर कार्य कर रहा था। इस संस्थान में लगभग 300 अध्यापक और कर्मचारी तथा 600 विद्यार्थी पढ़ते थे। इसका कार्य-क्षेत्र पश्चिमी भारत के चार राज्यों में फैला हुआ था। अध्ययन, अध्यापन के अतिरिक्त संस्थान की जिम्मेदारियों में शोध प्रशिक्षण, नवाचार, व्यावसायिक तथा अन्य कई प्रकार के उत्तरदायित्व भी थे। संस्था का अध्यक्ष होने के नाते कई बार ट्रेड यूनियनों के द्वारा मेरे निर्णयों का विरोध भी होता था और स्थानीय अखबारों में इस सम्बन्ध में समाचार भी छपते थे। प्रोफेसर राजेन्द्र सिंह किसी कार्यक्रम से भोपाल आए हुए थे। मुझे सूचना मिली और मैं उनसे मिलने गया। जब मैं पहुंचा तब वह उज्जैन वाली ट्रेन में शयनयान में लेटे हुए थे। उनके साथ उनके एक वरिष्ठ सहयोगी थे जिनसे उन्होंने मेरा परिचय कराया। मेरे सम्बन्ध में उन्होंने प्रशंसात्मक ढंग से कई वाक्य कहे। मैंने बीच में बोलते हुए कहा कि ऐसा नहीं है। मेरे सारे कार्य लोगों को स्वीकार नहीं होते हैं, अक्सर उनका विरोध

भी होता है। इस पर प्रोफेसर राजेन्द्र सिंह जी ने जो कहा वह आगे की लिए दिशा-निर्देश बन गया "साधारण परिस्थितियों में सभी कार्य कर लेते हैं, महत्वपूर्ण तो तब है जब सही कार्य विरोध होते हुए भी दृढ़तापूर्वक और एकनिष्ठा से किया जाए।" मैने इसे भी लगातार अपनी कार्यप्रणाली में सही स्थान पर रखा है।

प्रोफेसर राजेन्द्र सिंह से पढ़ने का जिसे भी अवसर मिला उसने हमेशा यही कहा कि उनसे अच्छा अध्यापक और कोई नहीं मिला। ऊष्मा और ऊष्मा की गति का विषय वह स्नातकोत्तर कक्षाओं में पढ़ाते थे। दो-दो घंटे लगातार वह पढ़ाते थे। उन्हें किसी पुस्तक या नोट्स की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। तब पढ़ाने वालों के वीडियो कार्यक्रम नहीं बनते थे। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना कोई नहीं रह सकता था। उनकी कक्षा में हर विद्यार्थी उपस्थित रहता था तथा एकाग्रता से सुनता तथा लिखता था। अपवाद स्वरूप एक दिन दो विद्यार्थी आपस में धीरे से कुछ बात कर रहे थे। रेफ्रीजरेशन की प्रक्रिया पर अध्यापन हो रहा था। 'सीविंग' (छानना) शब्द प्रोफेसर राजेन्द्र सिंह ने प्रयोग किया था– उन्होंने बात करने वालों से पूछा क्यों 'सीव' जानते हो क्या होती है? वे दोनों कुछ नहीं बोल पाए। प्रोफेसर साहब ने कहा इसीलिए मैं कहता हूं कि हमें सारी पढ़ाई मातृभाषा में ही करनी चाहिए।

यहां पर लिखी गई सारी घटनाएं मेरे लिए व्यक्तिगत हैं। किसी और को उनमें क्योंकर रुचि हो सकती है यह प्रश्न मेरे स्वयं के मन में बार-बार आ रहा है। इनमें से कई संस्मरण मैंने अपने विद्यार्थियों के समक्ष रखे हैं। उनके चेहरों पर मुझे रुचि के भाव ही मिले इसी से इन्हें लिखने का साहस मैंने किया है। मेरे अपने लिए यह सबसे बड़ी धरोहर रहे हैं। मैंने अपने अध्यापकों से सीखा कि परिश्रम करने से जो सुख मिलता है वह अपने में अद्वितीय है। आयु, अनुभव तथा ज्ञान के प्रति आदर और श्रद्धा के भाव व्यक्ति को अपनी समझ बढ़ाने तथा परिपक्वता की ओर अग्रसर होने में पथ-प्रदर्शक की भूमिका निभाते हैं।

1994 में राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् के अध्यक्ष पद पर नियुक्ति होने के पश्चात्, मैं प्रोफेसर राजेन्द्र सिंह के पास गया। उन्होंने कहा, बहुत बड़ी जिम्मेदारी है तुम्हारे ऊपर। यदि अध्यापक-शिक्षा में थोड़ा भी सुधार हो सका तो उसका प्रभाव भावी समाज तथा देश पर पड़ेगा। अथक परिश्रम करो। परिषद् ने जो पाठ्यक्रम बनाया उसे तीन भागों में बांटा – क्षमताएं, प्रतिबद्धता तथा कार्यनिष्पादन। प्रतिबद्धता के अर्न्तगत विद्यार्थी, समाज, व्यवसाय, गुणवत्ता तथा मूल्य – ये पांच क्षेत्र अंकित किए गए। यह प्रतिबद्धता मैंने अपने कई अध्यापकों में व्यावहारिक रूप में देखी। जैसे-जैसे जीवन में मेरे अनुभव बढ़े, इन अध्यापकों के प्रति मेरा आदर तथा सम्मान लगातार बढ़ता रहा। □□

33

स्कूली शिक्षा के बदलते पाठ्यक्रम सरोकार

संदर्भ

शिक्षा को राष्ट्र और समाज की सुखद भविष्य की कल्पनाओं को साकार रूप देने का सर्वाधिक सशक्त साधन माना जाता है। पिछले पांच-छः दशकों में विकासशील देशों में शिक्षा के प्रचार और प्रसार के सारे प्रयत्न इसी आधार पर किए गए हैं कि मानव जीवन की गुणवत्ता बढ़ाने में शिक्षा का योगदान सबसे महत्वपूर्ण होगा। प्रत्येक व्यक्ति को समानता का अवसर और मानवोचित सम्मान दिलाने के लिए शिक्षा का प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचना आवश्यक है। स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं ने भी शिक्षा के महत्व को बहुत पहले से उसकी संपूर्णता में समझा था, उसका विश्लेषण किया था और एक ऐसी बुनियादी शैक्षिक व्यवस्था की कल्पना की थी जिसकी जड़ें भारत की ज़मीन में होंगी और जो प्रत्येक व्यक्ति को विकास के अवसर देने के लिए प्रकाश पुंज बनेगी। इसकी परिणति संविधान के अनुच्छेद 45 में हुई जिसमें 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को अनिवार्य रूप से शिक्षा देने के लक्ष्य को संविधान लागू होने के 10 वर्षों के अंदर प्राप्त करने का प्रावधान किया गया था। बहुत कुछ उपलब्धियां पिछले पांच दशकों में हुईं, अभी भी बहुत कुछ करने को बाकी बचा हुआ है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रथम महत्वपूर्ण शिक्षा नीति 1968 में बनी। यह शिक्षा नीति अपनी दूरगामी दृष्टि के लिए शिक्षाविदों और लोगों का सम्मान सदा प्राप्त करेगी। इसमें सभी के लिए 10 वर्ष तक की सामान्य शिक्षा की व्यवस्था का प्रावधान था। इसी में लड़के और लड़कियों के भेद को समाप्त करने की बात व्यावहारिक रूप में कही गई और दोनों के लिए गणित तथा विज्ञान का 10 वर्ष तक अध्ययन आवश्यक बनाया गया। उस समय यह अपने आप में एक क्रान्तिकारी कदम था। आज हमें लगता है यह कितना आवश्यक था। 1986 में एक बार फिर राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा और विश्लेषण के पश्चात् नई शिक्षा नीति का निर्माण हुआ जिसका पुनरीक्षण 1992 में किया गया। 1986 की शिक्षा नीति में कहा गया था कि विभिन्न आयामों के क्रियान्वयन का पुनरावलोकन प्रत्येक पांच वर्ष बाद होना चाहिए। इसी

के आधार पर 1992 के 'प्रोग्राम ऑफ एक्शन' में स्कूल पाठ्यक्रम के आधुनिकीकरण पर ज़ोर दिया गया और कहा गया कि कुछ मुद्दों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक हो गया है। भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए तथा ज्ञान में लगातार हो रही वृद्धि तथा अध्ययन-अध्यापन के आयामों में हो रहे प्रयत्नों को देखते हुए एन.सी.ई.आर.टी. से अपेक्षा की गई है कि वह आठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान स्कूल पाठ्यक्रम में आवश्यक परिवर्तन पूरे करे। नौवीं पंचवर्षीय योजना के लिए बनाए प्रारूप में भी स्पष्ट रूप से कहा गया कि एन.सी.ई.आर.टी. को स्कूल शिक्षा के पाठ्यक्रम को दोहराने और नवीनीकरण करने का कार्य सौंपा गया है। इसमें यह भी कहा गया कि सतत् परिवर्तन के जो आयाम आगे के लिए आवश्यक प्रतीत होने लगे हैं उन्हें नये पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए तथा इन सबके आधार पर पुस्तकों का उन्मुखीकरण किया जाए ताकि वे अंतर्राष्ट्रीय स्तर प्राप्त कर सकें। स्पष्ट है कि एन.सी.ई.आर.टी. को पाठ्यक्रम के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ करने के लिए दिशा-निर्देश विभिन्न दिशाओं से आ रहे थे। इस संस्था को देश के अनेक अध्यापकों, शिक्षाविदों, विद्यार्थियों और पालकों से भी लगातार ऐसे सुझाव मिल रहे थे कि एन.सी.ई.आर.टी. की पुस्तकें समय के अनुकल नहीं रही हैं। नई जानकारियों की उनमें कमी है और इनका नवनिर्माण आवश्यक है। एन.सी.ई.आर.टी. की कार्यक्रम सलाहकार समिति ने मार्च, 1997 में 11 लाख रुपए की एक परियोजना भाषा तथा सामाजिक विज्ञान के क्षेत्रों में पाठ्यक्रम के नवर्निर्माण के लिए स्वीकृत की और एक ऐसी ही परियोजना गणित और विज्ञान के लिए मार्च, 1998 में स्वीकृत की गई। इन परियोजनाओं पर वास्तविक रूप से कार्य प्रारंभ नहीं हुआ जिसके कारण अभी भी अस्पष्ट हैं।

सितम्बर, 1999 में एन.सी.ई.आर.टी. के सारे कार्यक्रमों के आंतरिक विवेचन क्षेत्र के कई कार्यक्रम जो विभिन्न कारणों से शिथिल पड़ गए थे, उन्हें पुनर्जीवित करने की आवश्यकता अनुभव की गई। इसमें सामुदायिक गायन कार्यक्रम, शिक्षा के विश्व कोश के निर्माण का कार्यक्रम तथा पाठ्यक्रम के नवनिर्माण सबसे प्रमुख पाए गए। इन पर और कई अन्य कार्यक्रमों पर तेजी के साथ कार्य प्रारंभ किया गया। इसके पश्चात् एन.सी.ई.आर.टी. ने पाठ्यक्रम के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ करने के लिए पहल की। एक पाठ्यक्रम समूह का गठन किया गया और देश के 10 जाने माने शिक्षाविदों को बुलाकर उनके विचार भविष्य में स्कूल शिक्षा की रूपरेखा पर लिए गए। इन चर्चाओं में पाठ्यक्रम समूह के अतिरिक्त अन्य संबद्ध प्राध्यापकों ने भी पाठ्यक्रम समूह के साथ भाग लिया। पाठ्यक्रम समूह के संकाय चार क्षेत्रीय शिक्षा संस्थानों में गए जहां उन्होंने सैकड़ों अध्यापकों और विद्यार्थियों के साथ चर्चा की। इसके अतिरिक्त एन.सी.ई.आर.टी. ने पुस्तकों का विश्लेषण क्षेत्रीय शिक्षा संस्थानों, केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के अध्यापकों तथा केन्द्रीय विद्यालय संगठन के

अध्यापकों द्वारा कराया। इन सबके आधार पर एक परिचर्चा परिपत्र जनवरी, 2000 में प्रकाशित किया गया और सारे देश में इसे वितरित किया गया। आगे की प्रक्रिया में देश के सभी राज्यों के शिक्षा मंत्रियों, शिक्षा सचिवों, राज्य स्तरीय शिक्षा संस्थाओं के शिक्षा से जुड़े सदस्यों को इसकी प्रतियां भेजी गईं। अनेकानेक राज्य स्तरीय और राष्ट्रीय बैठकें आयोजित की गईं जिसमें अनेक स्थानों पर शिक्षा मंत्रियों ने तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारियों ने हिस्सा लिया। इसके अतिरिक्त देश के जाने माने शिक्षाविदों को, अध्यापकों को, अध्यापकों के संघों को, शिक्षक-प्रशिक्षकों को और जिसने भी शिक्षा में रुचि ली उन्हें यह परिचर्चा परिपत्र उपलब्ध कराया गया। बहुत बड़ी संख्या में परिवर्तन तथा सुझाव एन.सी.ई.आर.टी. में प्राप्त हुए और उनके आधार पर नए पाठ्यक्रम की रूपरेखा 14 नवंबर, 2000 को देश के सामने रखी गई।

पिछले लगभग एक वर्ष के समय में इस पर 12 राज्यों में राज्य स्तरीय चर्चाएं एन.सी.ई.आर.टी. ने आयोजित की हैं जिसमें वरिष्ठ अधिकारियों ने हिस्सा लिया। कई जगह मंत्रीगण भी शामिल हुए। इन परिचर्चाओं में प्रारंभ में जो आशंकाएं उठीं उनका उत्तर एन.सी.ई.आर.टी. के प्रतिनिधियों ने दिया और यह पाया कि मतभेद के कोई महत्वपूर्ण बिंदु हैं ही नहीं। फिर भी यह काफी कुछ आश्चर्य की स्थिति है कि पिछले एक वर्ष में यह पाठ्यक्रम के कुछ चुने हुए बिंदुओं को सारे देश में चर्चा का विषय बनाने का संगठित प्रयास हुआ है। एन.सी.ई.आर.टी. स्वयं चाहती है कि इस पर चर्चा हो परंतु कुछ 'तत्वों' और वर्गों ने इस चर्चा को केवल 4-5 बिंदुओं तक सीमित करने के प्रायोजित प्रयास लगातार किए हैं। समाचार-पत्रों और इलेक्ट्रोनिक प्रचार माध्यमों से ऐसा लगता है कि एन.सी.ई.आर.टी. केवल इतिहास की पुस्तकों में परिवर्तन कर रही है और मूल्य शिक्षा को धर्म से जोड़ रही है। पाठ्यक्रम की रूपरेखा के अंतर्गत जो कुछ कहा गया है उसमें एक वाक्य भी ऐसा उद्धृत नहीं किया गया है जो राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के अंतर्गत समाहित न होता हो या जो संविधान की किसी भी अवधारणा के विरुद्ध हो या पंथनिरपेक्षता के आधार को कमज़ोर करने वाला हो। आलोचकों ने जो कुछ पाठ्यक्रम की रूपरेखा में लिखा गया है उसे पढ़ना आवश्यक नहीं समझा, जो नहीं लिखा है उसे पढ़कर आलोचना के बिंदु निकालने का प्रयास किया है। एन.सी.ई.आर.टी. एक राष्ट्रीय संस्था है यह अपने आलोचकों का सम्मान करती है, उन्हें मित्र मानती है। संस्था के राष्ट्रीय उत्तरदायित्व हैं अतः यह उन्हीं सुझावों और आलोचनाओं को स्वीकार कर सकती है जो राष्ट्रहित में हों तथा किसी एक वर्ग विशेष या विचारधारा से प्रभावित न होकर पूर्ण रूप से शैक्षिक तथा अकादमिक आधार पर सुदृढ़ पाए गए हों। यदि परिचर्चा प्रपत्र तथा पाठ्यक्रम की रूपरेखा का अलग-अलग पूर्वाग्रह-रहित अवलोकन सावधानी से किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि बीच की चर्चा कितनी गहन थी, कितने महत्वपूर्ण सुझाव आए और किस प्रकार उनका सम्मानजनक रूप से समन्वय

किया गया। यह वही कर सकते हैं जो दिशा-पंथी न हों, रंगधर्मी न हों और पूर्वाग्रह-जनित आशंकाओं से ऊपर उठने की क्षमता रखते हों। जो ऐसा नहीं कर पा रहे हैं वे पाठ्यक्रम परिवर्तन की प्रक्रिया से कष्ट में हैं। इस कष्ट का निवारण करना भी एन.सी.ई.आर.टी. का उत्तरदायित्व है।

पुनर्कथन

भारत की संस्कृति विविधता में एकता के रूप में जानी जाती है। हमारी विभिन्न विविधताएं हमारी राष्ट्रीय धरोहरें हैं। यह एकता के सुदृढ़ आधार के रूप में पनपी हैं। 'किसी भी देश की शिक्षा-प्रणाली की रचना उसके अपने ही दार्शनिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परंपराओं के सुदृढ़ धरातल पर होनी चाहिए। उसमें देश की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की झलक भी मिलनी चाहिए। इसलिए पाठ्यक्रम की रूपरेखा में उसके स्वदेशीमूलक होने की अनुशंसा की गई है और ऐसी शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया गया है जिसकी जड़ें भारतीय यथार्थ और भारत की सामासिक संस्कृति में निहित हों। भारत की समृद्ध बौद्धिक और सांस्कृतिक विरासत और विश्व सभ्यता के लिए भारतीय सभ्यता के योगदान के प्रति चेतना का भी दृढ़तापूर्वक उल्लेख किया गया है। वसुधैव कुटुंबकम् की भावना से युक्त गहरी राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति की अनुभूति भी शिक्षार्थियों को कराई जानी आवश्यक है। इससे हमारे युवा छात्र-छात्राओं में 'भारतीय' होने पर गर्व की भावना भी पुष्ट होगी और उसका औचित्य भी प्रकट होगा। इसी के साथ इस दस्तावेज में सभी संस्कृतियों को ग्रहण करने और अन्य सबके प्रति सहिष्णुता और सम्मान प्रकट करने के मूल्यों पर जोर दिया गया है। यह एक छोटा-सा किन्तु संकल्पवान कदम है जिससे शांति और परस्पर समझ की संस्कृति को प्रोत्साहन मिलेगा और यह राष्ट्र को प्रगति एवं समृद्धि की नई ऊंचाईयों की ओर ले जाने में मदद करेगा। भूमंडलीकरण के जटिल और चुनौतीपूर्ण आगमन का मुकाबला करने के लिए आवश्यक तैयारी को भी इस दस्तावेज में यथोचित स्थान दिया गया है। (पाठ्यक्रम की रूपरेखा, प्रस्तावना पृष्ठ V-VI)

सामान्यतः यह माना जाता है कि राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने, सामाजिक समरसता को स्थापित करने तथा जीवन के अनेक आयामों में गुणवत्ता लाने के लिए और उन्हें लगातार सुदृढ़ करने के लिए अच्छी व्यावहारिक और व्यापक शिक्षा व्यवस्था ही सार्थक और शक्तिशाली साधन हो सकती है। हमारे महत्वपूर्ण राष्ट्रीय लक्ष्य है : पंथनिरपेक्षता, लोकतंत्र, समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व, न्याय, राष्ट्रीय एकता और देश भक्ति। इसके साथ ही शिक्षा का दायित्व है कि वह बच्चों में मानव अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति सम्मान की भावना विकसित करे। किन्हीं कारणों से जो समुदाय पीछे रह गए हैं और जिनके संबंध में संविधान ने विशेष व्यवस्था का प्रावधान किया है उनके लिए ऐसे अवसर निर्मित किए जाएं जिससे वे बाकी के समकक्ष आ सकें

तथा मानवोचित सम्मान के साथ बराबरी का जीवन जी सकें। अतएव शिक्षा व्यवस्था को अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, महिलाएं, विकलांग बच्चों और अल्पसंख्यकों के समुदाय की ओर विशेष ध्यान देना होगा। पाठ्यक्रम निर्माण के समय इस पक्ष को विशेष रूप से शामिल करना होगा। यह एक बड़ी जिम्मेदारी है तथा इन वर्गों के उत्थान और अभ्युदय के सफलीकरण के लिए यह आवश्यक है।

विद्यालयी शिक्षा का वर्तमान परिदृश्य इस सबके लिए पूरी तरह तैयार और उत्साहजनक हो ऐसा नहीं है। इसकी कमियों से सभी भली-भांति परिचित हैं। इसको ध्यान में रखते हुए शिक्षा को अपने सरोकार और उनके लिए क्रियान्वयन की रणनीति बनानी होगी। समरसता परक समाज के लिए शिक्षा का तात्पर्य अवसरों की समानता के साथ-साथ सफलता की समानता के अवसर के साथ ही पूरा हो सकता है। पाठ्यक्रम में समानता को अंतर्निहित करना होगा। बालिकाओं की शिक्षा पर शिक्षा नीति में लगातार जोर दिया गया है। इसके व्यावहारिक पक्षों को सुधारने के लिए अभी भी बहुत कुछ करना है। विशेष आवश्यकता वाले विद्यार्थियों की ओर समान रूप से ध्यान देना होगा। राष्ट्रीय अस्मिता का सुदृढ़ीकरण करने, सांस्कृतिक विरासत को जोड़ने का और संरक्षण करने तथा उसको प्रयोग में लाने का भाव पैदा करना शिक्षा के मूलभूत उद्देश्यों में प्रत्यक्ष रूप से शामिल करना होगा। भूमण्डलीकरण को समझने और विश्लेषित करने की क्षमता विकसित करनी होगी। सूचना और प्रौद्योगिकी को समझना होगा, उसकी उपयोगिता को यथानुसार व्यावहारिक रूप में लाने के प्रयास करने होंगे। इस सब के लिए प्रत्येक विद्यार्थी को जीवन-कौशलों से समृद्ध करना आवश्यक होगा। अपने जीवन उद्देश्यों को प्राप्त करने में किसी भी व्यक्ति को सफलता तभी मिलेगी जब वह मानव मूल्यों को अपने अंतःकरण में निहित कर सके। इस समय मूल्यों और गुणों के निरंतर होते ह्रास पर ध्यान देने की आवश्यकता हर तरफ अनुभव की जा रही है। मूल्य आधारित शिक्षा ही इस देश को सभी प्रकार की दुर्भावनाओं, हिंसा, बेईमानी, भ्रष्टाचार, शोषण और मादक पदार्थों की लत जैसी जघन्य बुराइयों से लड़ने में सहायता दे सकेगी। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 शिक्षा में समानता और सामाजिक न्याय, देश की अद्वितीय सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान, राष्ट्रीय समरसता में योगदान, सहिष्णुता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और संविधान में निहित सरोकारों के प्रोत्साहन पर जोर देती है। जस्टिस जे.एस. वर्मा समिति द्वारा नागरिकों के मौलिक कर्त्तव्यों के संबंध में की गई सिफारिशें मूलभूत मानवीय मूल्यों और सामाजिक न्याय के लिए संकल्प का मार्ग प्रशस्त करती हैं। पाठ्यक्रम की रूपरेखा में पांच सार्वभौमिक मूल्य मानव व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों को विकसित करने के लिए दोहराए गए हैं। ये हैं – सत्य, सदाचरण, शान्ति, अहिंसा और प्रेम। ये मूलभूत और सार्वभौम मूल्य हैं और शिक्षा के पांच आयामों का प्रतिनिधित्व करते हैं बौद्धिक, भौतिक, भावात्मक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक तथा ये शिक्षा के पांच प्रमुख उद्देश्यों –

ज्ञान, कौशल, संतुलन, दृष्टि और अस्मिता से जुड़े हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण गुणों के विकास करने की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया है। जैसे "नियमितता, निष्ठा और समय की पाबंदी, स्वच्छता, आत्मनियंत्रण, परिश्रमशीलता, कर्त्तव्यबोध, सेवाभावना, उत्तरदायित्व की भावना, उद्यमशीलता, सृजनात्मकता, बड़े पैमाने पर समानता के प्रति संवेदनशीलता, भाईचारे की भावना, लोकतांत्रिक दृष्टिकोण और पर्यावरण संरक्षण के प्रति निष्ठा भाव।" (पाठ्यक्रम की रूपरेखा, पृष्ठ 19)

मूल्यों की शिक्षा के साथ पंथनिरपेक्षता को सुदृढ़ करने के लिए, सामाजिक समरसता बढ़ाने के लिए और साथ मिलकर जीवन जीने के लिए धर्म प्रधान इस देश में यह आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक सभी धर्मों के मूलभूत सिद्धांतों और उनमें अंतर्निहित मूल्यों से परिचित हो। इस प्रकार की परिचयात्मक जानकारी हर बच्चे को स्कूल में दी जानी चाहिए और इसे किसी भी प्रकार से पंथनिरपेक्षता की अवहेलना नहीं माना जाना चाहिए। किसी कर्मकाण्ड की शिक्षा की बात नहीं की जा रही है, न धार्मिक शिक्षा की बात की जा रही है। केवल धर्मों के बारे में प्रारंभिक जानकारी की सिफारिश की गई है। विश्व के उन अनेक देशों में जहां विभिन्न संस्कृतियों और धर्मों के लोग एक साथ रहते हैं, ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं कि इस प्रकार की शिक्षा ने सार्थक सहयोग, भाईचारे और समझ को बढ़ाने में योगदान दिया है।

प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण की ओर भी पाठ्यक्रम निर्माताओं को ध्यान देना होगा और ऐसे तथ्य और रणनीति विकसित करनी होगी जो प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण की प्रक्रिया में यथोचित योगदान कर सके। वैकल्पिक और मुक्त शिक्षा को सुदृढ़ करने का समय भी आ गया है। मुक्त विद्यालयों की व्यवस्था परिपक्व बनाकर, हजारों विद्यार्थियों को अवसर देने की आवश्यकता है जो परंपरागत विद्यार्थियों में इसके पहले संभव नहीं थे। ये व्यवस्था जितनी अधिक उपलब्ध तथा सुदृढ़ होगी उतना ही यह सामाजिक बदलाव की दिशा में योगदान करेगी। उसके बाद "आज जबकि साक्षरता, पर्यावरण शिक्षा, परिवार-प्रणाली, पड़ोस-शिक्षा, उपभोक्ता शिक्षा, पर्यटन शिक्षा, एड्स, मानव अधिकार शिक्षा, विधि-साक्षरता, शांति शिक्षा, जनसंख्या शिक्षा और आव्रजन शिक्षा, भूमंडलीय शिक्षा जैसे विषय पाठ्यक्रम में पृथक स्थान की मांग करने लगे हैं तो सर्वश्रेष्ठ तरीका तो यही होगा कि इन समस्त विचारों और अवधारणाओं का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करने के बाद उन्हें प्रचलित शिक्षण-योजना में ही समाहित कर लिया जाए। विस्तृत पाठ्यचर्याओं में इस प्रकार के समेकन के लिए उपयुक्त युक्तियां तैयार करनी होंगी।" (पाठ्यक्रम की रूपरेखा, पृष्ठ 23)

विद्यार्थियों के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण होगा कि पाठ्यक्रम के भार को घटाया जाए। जो कुछ नया और आवश्यक है उसको उचित अंश में पाठ्यक्रम में शामिल

किया जाए, जो अब आवश्यक नहीं रहा है उसको निरस्त किया जाए। शिक्षा को कार्य जगत से जोड़ने की प्रक्रिया प्रारंभ से ही शुरू की जाए, सीखने और सिखाने की प्रक्रिया में बच्चे और अध्यापक सहभागी होकर कार्य करें। शिक्षा शरीर, मस्तिष्क और आत्मा के बीच के संबंध के आधार पर संज्ञान, संवेग और क्रिया के रूप में स्थापित कर सारी प्रक्रिया को पूर्णतः प्रदान करनी होगी। भारत एक सामासिक संस्कृति वाला, बहु-भाषी और बहु-धार्मिक राष्ट्र है। प्रत्येक राष्ट्र और राज्य की अपनी विशेष पहचान है। यह विभिन्न संदर्भों में अपनाई जाने वाली शिक्षा शास्त्रीय प्रविधियों में भी अंतर्निहित है। यह आवश्यक है कि छात्रों के विशिष्ट सांस्कृतिक संदर्भों में झांका जाए और सारी प्रक्रिया को उससे जोड़ा जाए। मूल्यों के साथ-साथ सौंदर्यबोध का विकास भी आवश्यक है। शिक्षा में सौंदर्यबोधात्मक प्रणाली अनुभव, कल्पना, सृजनात्मकता और अंतरबोध को समान स्तर प्रदान करके सीखने की प्रक्रिया में सही संतुलन बनाने का प्रयास करती है। सौंदर्यबोध शिक्षा छात्र की योग्यता के विकास के संदर्भ में होती है और यह शिक्षा पाठ्यक्रम का एक मुख्य सरोकार होनी चाहिए।

उपर्युक्त परिदृश्य को ध्यान में रखते हुए शिक्षा में विशेष रूप से उभरने वाले कई नए सरोकार रेखांकित किए गए

- ❑ भाईचारा, उत्कृष्टता, उपयोगिता और सहयोग के आधार पर भावी समाज का निर्माण करना।
- ❑ भारत की अपनी जड़ों से उपजे ज्ञान को जानना और विश्व सभ्यता में भारतीय सभ्यता के योगदान से परिचित होना।
- ❑ विश्व बंधुत्व की भावना का विकास करना, देशभक्ति, राष्ट्रीयता और भातीयता को सही ढंग से समेकित करना।
- ❑ प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण को पूर्णता प्रदान करना और विद्यार्थियों को जीवन कौशलों से परिचित कराना।
- ❑ स्कूल शिक्षा में प्रत्येक स्तर पर मूल्य शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देना।
- ❑ सूचना प्रौद्यौगिकी में हो रहे परिवर्तन से वैश्वीकरण के संदर्भ में परिचित होना तथा इसकी शिक्षा में और जीवन में उपयोगिता को पहचानना और उसका अध्ययन और अध्यापन में उपयोग निर्धारित करना।
- ❑ बस्ते और पाठ्यक्रम के बोझ को कम करना।
- ❑ शिक्षा प्रविधिका को सांस्कृतिक संदर्भ से जोड़ना।
- ❑ सीखने वाले की ज्ञान निर्माता के रूप में पहचान कराना।
- ❑ संज्ञान, संवेग और क्रिया के अंतरसंबंधों की पहचान कराना।
- ❑ अध्यापकों पर पाठ्यचर्या निर्माण के लिए विश्वास करना और उन्हें आवश्यक प्रशिक्षण तथा सामग्री उपलब्ध कराना।

- स्कूल शिक्षा में समन्वित परन्तु विकेन्द्रित पाठ्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया को साकार रूप देना।

इन सरोकारों को विभिन्न स्वरूपों में शिक्षा में सामने रखा जाता है लेकिन जो कुछ अनुभव और अध्ययन आधारित चिंतन विकसित हुआ है। उसी के आधार पर उन्हें सही स्वरूप तथा अपेक्षित परिणाम में रखने का प्रयास पाठ्यचर्या की रूपरेखा में किया गया है। ये ऐसे सरोकार हैं जिस पर किसी भी प्रकार के मतभेद की कोई संभावना ही नहीं है।

यहां पर यह कहना भी आवश्यक है कि बहुत से ऐसे सरोकार जो 1988 के पाठ्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया में उभरकर आए थे उन्हें भी वर्तमान पाठ्यक्रम में अपेक्षित प्रमुखता से दर्शाया गया है। इसमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में चिन्हित 10 केन्द्रिक घटकों को पुनः प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता भी शामिल है। ये घटक इस प्रकार हैं : भारत के स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, संवैधानिक दायित्व, राष्ट्रीय पहचान के पोषण के लिए आवश्यक विषय-वस्तु, भारत की सामान्य सांस्कृतिक विरासत, समतावाद, लोकतंत्र और पंथनिरपेक्षता, स्त्री-पुरुष समानता, पर्यावरण का संरक्षण, प्रगति में बाधक सामाजिक व्यवधान को समाप्त करना, छोटे परिवार का मानक अपनाना और वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करना।

इसके अतिरिक्त पिछड़े और सुविधाविहीन वर्गों के लिए, पर्यावरण के लिए मातृभाषा शिक्षा के लिए, कार्य अनुभव और व्यावसायिक शिक्षा के लिए, बच्चों के ऊपर बढ़ रहे तनावों को कम करने के लिए तथा परीक्षा पद्धति में सुधार लाने के लिए किए जा रहे प्रयत्नों को और तेजी से आगे बढ़ाने की आवश्यकता पर भविष्य के पाठ्यक्रम में भी ध्यान देना होगा। इसी प्रक्रिया में शैक्षिक प्रौद्योगिकी के अधिक प्रयोग, अंकों के स्थान पर ग्रेड व्यवस्था, उच्च माध्यमिक स्तर पर सेमेस्टर प्रणाली को लाना तथा सतत् और समेकित मूल्यांकन को भी सही ढंग से लागू करना शामिल होगा। त्रिभाषा सूत्र का सही क्रियान्वयन और मातृभाषा को प्रारंभिक शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए गम्भीर प्रयत्न प्रारंभ करने होंगे।

नव कथन

शिक्षा के जो नए सरोकार विशेष रूप से उभरे हैं उनमें सबसे पहले बालकों की स्थिति और मनःस्थिति से संबंधित तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है। बच्चों पर बस्ते का बोझ लगातार बढ़ रहा है। माता-पिता का दबाव ही कई प्रकार से उनके जीवन से समरसता को छीन लेता है। ट्यूशन, आगे आने वाली प्रतिस्पर्द्धा परीक्षा की तैयारी और साथ ही साथ कक्षा 10 और 12 की बोर्ड की परीक्षा की तैयारी बच्चे के जीवन को दूभर बना रही है। कुछ विषयों में पुस्तकें उनके लिए अत्यंत जटिल और बोझिल होती जा रही हैं। विद्यार्थियों के परीक्षा परिणामों में समरूपता

दृष्टिगोचर नहीं होती। कक्षा 10 और 12 की परीक्षाओं में ग्रामीण तथा जनजातीय क्षेत्रों में 10 प्रतिशत से 12 प्रतिशत परीक्षा परिणाम देने वाले स्कूलों की संख्या कम नहीं है। सारे देश में बोर्ड परीक्षा का परिणाम औसतन 50 प्रतिशत रहता है। क्या 10 प्रतिशत के आसपास सफलता देने वाले स्कूलों में सुधार की आवश्यकता नहीं है और यदि है तो क्या पाठ्यक्रम निर्माण में इस पर विचार और चिंतन नहीं होना चाहिए? इसी संदर्भ में पिछले दशक में प्रत्येक स्तर पर बस्ते का बोझ कम करने की बात कही गई। इसके लिए आवश्यक रणनीति तैयार करना विशेषज्ञों का कार्य है। एन.सी.ई.आर.टी. ने इस संबंध में अपनी चिंता विशेषज्ञों के सामने रखी। यह उस वातावरण के निर्माण के लिए भी आवश्यक है जो बच्चों को स्कूल से जोड़ सके जहां उन्हें आनन्द प्राप्त हो सके, उनके तनाव कम हो सकें और उन्हें लगे कि सीखने की प्रक्रिया में अध्यापक उनके साथ लगातार भाग लेते हैं।

पिछले 50 वर्षों में विश्व स्तर पर मानव अधिकारों पर चर्चा हो रही है। यह बहुत महत्वपूर्ण चर्चा रही है और मानव सभ्यता के विकास में इसने नई दिशा दी है। इस पर हम लगातार जोर देते रहते हैं ताकि सामाजिक बराबरी और सभी वर्गों को आत्मसम्मान का जीवन जीने का अवसर मिल सके। इसके साथ ही पिछले कुछ वर्षों में मूलभूत कर्त्तव्यों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता अनुभव की गई है। इसे अब पीछे नहीं छोड़ा जा सकता विशेषकर आज जो परिस्थिति इस समय देश के सामने है। प्रगति के रास्ते पर कंधे से कंधा मिलाकर चलने के लिए हर भावी नागरिक को अपने अधिकारों के साथ अपने कर्त्तव्यों को जानना होगा और उन्हें व्यावहारिक रूप देना होगा। इसी को थोड़ा आगे बढ़ाते हुए पाठ्यक्रम की रूपरेखा में मूल्य शिक्षा, आध्यात्म और नैतिक शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। इसे शिक्षा व्यवस्था का आवश्यक अंग माना गया है और कहा गया है कि प्रत्येक अध्यापक, भले ही वह कोई भी विषय क्यों न पढ़ा रहा हो, अपने में मूल्य शिक्षक होता है। विद्यार्थी उसका हर प्रकार से अनुसरण करते हैं और उसके आचार-विचार और व्यवहार का प्रभाव उन पर सतत् पड़ता है। पाठ्यक्रम निष्पादन के समय ऐसे अवसर लगातार उपलब्ध होते हैं जब विद्यार्थियों को मूल्यों से परिचित कराया जा सकता है और उन्हें अंतर्निहित करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। यह शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर संभव है। यहां पर संसद की एक समिति जिसके अध्यक्ष श्री शंकरराव चव्हाण हैं, के उस प्रतिवेदन का संदर्भ देना उचित होगा जो फरवरी 1999 में देश की संसद में मूल्यों की शिक्षा के लिए प्रस्तुत किया गया और जिसमें 5 मूल्यों सत्य, अहिंसा, सदाचार, शान्ति और प्रेम को शिक्षा में हर स्तर पर सम्मिलित करने की बात कही गई। इसी समिति ने पंथनिरपेक्षता को ध्यान में रखते हुए यह अनुशंसा की है कि विद्यार्थियों को भारत के सभी धर्मों के संबंध में प्रारंभिक जानकारी स्कूल शिक्षा से प्रारंभ कर विश्वविद्यालय स्तर तक देनी चाहिए। उन्हें सब धर्मों में जो

कुछ समानताएं हैं उनसे परिचित कराना चाहिए। आगे के स्तरों पर, यदि कोई मतभेद हैं तो उन्हें भी इस आशय से प्रस्तुत किया जाना चाहिए कि विविधताओं के प्रति सम्मान का भाव प्रत्येक विद्यार्थी में पैदा हो। सामाजिक समरसता के लिए इसे आवश्यक माना गया है। पाठ्यक्रम की रूपरेखा जो देश के सामने नवम्बर 2000 में रखी गई इन दोनों अनुशंसाओं को पूर्ण रूप से स्वीकार करती है और उन्हें किसी भी प्रकार पंथनिरपेक्षता के विरुद्ध नहीं मानती।

हमारी शिक्षा व्यवस्था विदेशी व्यवस्था का रोपा गया प्रतिरूप है। पिछले पांच दशकों में इसमें अनेक परिवर्तन करने के प्रयत्न किए गए हैं परंतु अभी भी इसे देशज जड़ों से जोड़ने के सघन प्रयत्न किये जाने हैं। इन प्रयत्नों की ओर पाठ्यक्रम की नई रूपरेखा में विशेष ध्यान दिया गया है। भारत की सामाजिक संस्कृति और विभिन्न वर्गों के योगदान को उचित स्थान अध्ययन और अध्यापन की प्रक्रिया में मिलना चाहिए। इसके लिए अध्यापकों का सम्मान करना होगा, उनके शिक्षण और प्रशिक्षण की सुदृढ़ व्यवस्था करनी होगी। उन्हें अपने कार्य को सुचारू रूप से करने के लिए सभी आवश्यक सामग्री, साधन और अवसर प्रदान करने होंगे। भारतीय चिंतकों, दार्शनिकों और विचारकों ने सदियों से जो खोजें कीं, जो चिंतन किया और जो साहित्य वाङ्मय निर्माण किया उससे परिचय प्राप्त करना इसलिए आवश्यक होगा कि विद्यार्थी अपने को भारतीय कहते हुए सम्मान का अनुभव करे तथा उसके अंदर यह आत्मविश्वास जागे कि वह विश्व में किसी भी अन्य व्यक्ति के समान और समकक्ष कार्य कर सकता है और उच्चतम स्तर की उपलब्धि भी पा सकता है।

विज्ञान तकनीकी और संचार तकनीकी के विकास और उपलब्धि ने इस देश में ऐसे अवसर उपस्थित किए हैं जो हमारी असमानताओं को और अधिक उजागर करते हैं। देश में ऐसे स्कूल हैं जो सर्वसाधन सम्पन्न हैं और विश्व के किसी भी देश के स्कूल से उनकी तुलना की जा सकती है। दूसरी तरफ वे स्कूल हैं जहां जो मूलभूत साधन और स्रोत होने चाहिए वह भी उपलब्ध नहीं हैं। ऐसे में कंप्यूटर शिक्षा, संचार तकनीकी के संबंध में पाठ्यक्रम निर्माण के समय विशेष सावधानी बरतनी होगी। जहां पर नई संचार तकनीकी से जनित संसाधन उपलब्ध नहीं हैं वहां के विद्यार्थियों में कोई आत्म ग्लानि का भाव पैदा नहीं होना चाहिए। सारी शिक्षा व्यवस्था को इस तथ्य पर विशेष ध्यान देना होगा।

यह समय ज्ञान-समाज का है। माना जाता है कि सत्ता और श्रेष्ठता आगे उन्हीं के हाथों में होगी जो ज्ञानवान हैं और जो समाज इस तथ्य को स्वीकार करेंगे वही विश्व में अग्रणी राष्ट्रों के रूप में उभरेंगे। हर सीखने वाले समाज, लर्निंग सोसाइटी को ज्ञानवान समाज बनना, नॉलेज सोसाइटी का सोपान चढ़ाना होगा। निश्चित है कि इसमें शिक्षा को उसके पाठ्यक्रम और शिक्षा व्यवस्था को सर्वाधिक योगदान देना होगा। ज्ञान युक्त समाज वही बनेगा जहां सभी अधिक और आगे सीखने के

लिए तैयार हों, संचार तकनीकी का सही उपयोग संभव हो और कंप्यूटर शिक्षा और मल्टीमीडिया के उपयोग पर सही तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया जाए। सारी शैक्षिक व्यवस्था का उपयोग उन कौशलों को विकसित करने में होना चाहिए जो लोगों को अपनी समस्त भिन्नताओं और विविधताओं को संजोते हुए साथ-साथ मिलकर जीवन निर्वाह के लिए प्रेरित करे और उस स्तर की समझ प्रदान कर सके। 1986 की शिक्षा नीति में यह अनुशंसा की गई थी कि कक्षा 9 या 10 में सामाजिक विज्ञान विषय पढ़ाया जाए। उसको साकार रूप देने के लिए नए पाठ्यक्रम की रूपरेखा में तदनुसार अनुशंसा की गई इसी के साथ-साथ कला शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा, शारीरिक शिक्षा और कार्य अनुभव इत्यादि को प्रारम्भिक वर्षों से स्वस्थ और उत्पादक कला के रूप में प्रस्तावित किया गया है। आशा की जाती है कि यह अपने आप में बच्चों और स्कूलों के बीच में आत्मीय संबंध बनाने में सक्षम होगी।

- ❑ संस्कृत की शिक्षा के संबंध में पहले की गई अनुशंसाओं पर और अधिक बल दिया गया है क्योंकि संस्कृत का राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था में विशेष स्थान है।
- ❑ संस्कृत भारतीय लोक समुदाय से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है और जीवन में लोगों के कर्मकांड, पर्व, त्यौहार इसी भाषा के माध्यम से संपन्न होते हैं।
- ❑ इसमें ज्ञान और विवेक का अगाध भण्डार है। उसे आधुनिक ज्ञान क्षेत्र में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ रचनाओं के द्वारा पुनर्जीवित, पुनर्निमित और समृद्ध करना होगा।
- ❑ इसमें अखिल भारतीय रूप से पूरे देश के लिए एक सार्वभौम या लोकव्यापी अपील है।
- ❑ हिंदी और अधिकांश अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के साथ इसका संरचनात्मक, शाब्दिक और अर्थ संबंधी गहरा संबंध है जिससे इन भाषाओं को बेहतर ढंग से सीखना आसान हो जाता है।
- ❑ अंतर्राष्ट्रीय रूप में कंप्यूटर में उपयोग के लिए संस्कृत सर्वाधिक वैज्ञानिक संरचना वाली भाषा के रूप में मान ली गई है।

संस्कृत के संबंध में यह लगभग निर्विवाद है कि वह भारत की सर्वोत्तम निधि, धरोहर और विरासत है। उसका सारा साहित्य और उससे संबंधित वाङ्मय एक विश्व धरोहर है और भारत से अधिक विदेशों में इस धरोहर को जानने और समझने के प्रयत्न लगातार हो रहे हैं। विज्ञान और तकनीकी के संबंधों को विद्यार्थियों के समक्ष रखना होगा। गणित को जीवनोपयोगी बनाने की रणनीति से उन्हें परिचित कराना होगा। जहां-जहां ऐच्छिक विषय लेने का प्रावधान होता है वहां अब विद्यार्थियों की रुचि की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। उन्हें पहले से निर्धारित विषयों के

समूहों का अध्ययन करने के लिए ही बाध्य नहीं किया जाना चाहिए।

विवाद

पाठ्यक्रम की रूपरेखा जब देश के सामने रखी गई तो इसका शिक्षकों, अध्यापकों और पालकों ने स्वागत किया। प्रचार माध्यमों ने इसमें रुचि ली और इसकी मुख्य अनुशंसाओं को लोगों तक पहुंचाने में सहायता की। इसी के साथ-साथ इसके विरोध के स्वर भी उभरे जिन्होंने पूर्णरूपेण राजनैतिक विरोध का रूप ले लिया। पिछले कई महीनों की चर्चाओं और परिचर्चाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि इस विरोध के कारण अकादमिक या व्यावसायिक नहीं हैं। ऐसा एक वाक्य भी सारे पाठ्यक्रम की रूपरेखा में कहीं नहीं है जो 1986 और 1992 की शिक्षा नीति से अलग हो या भारत के संविधान के प्रतिकूल हो। विरोध के बिंदु मुख्य रूप से मूल्यों की शिक्षा, धर्मों की जानकारी, संस्कृत शिक्षा और इतिहास की पुस्तकों को लेकर हुए। मूल्य शिक्षा और सब धर्मों की मूल जानकारी के संबंध में अनुशंसाएं पूर्णरूपेण वही हैं जो भारत की संसद के माननीय सदस्यों की समिति ने प्रस्तावित की थीं। संस्कृत के संबंध में पहले ही कहा जा चुका है कि उसका अपना विशिष्ट स्थान है और इसी संबंध में उच्चतम न्यायालय ने अपने 4 नवंबर, 1994 के निर्णय में स्पष्ट रूप से कहा है – "इसलिए हमारा निर्णय है कि हमारी संस्कृति के पोषण में संस्कृत के महत्व को दृष्टि में रखते हुए जिस आधार पर हमारी राजकीय शिक्षा नीति ने भी संस्कृत को ऐच्छिक विषय बनाना और अरबी और फारसी के लिए यह स्थान स्वीकार न करना किसी भी प्रकार धर्मनिरपेक्षता के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। अतः बोर्ड द्वारा प्रस्तुत प्रथम आपत्ति में कोई तथ्य नहीं है।"

सबसे अधिक विष-वमन इतिहास की पुस्तकों को लेकर हुआ है। एन.सी.ई.आर.टी. की पुस्तकों को देश में सम्मान मिला है और जिन्होंने इसमें योगदान किया है उनको इसका श्रेय ज़ाना चाहिए। इतिहास की पुस्तकों पर एन.सी.ई.आर.टी. की लगातार आलोचना हुई और यह कहा गया है कि इसमें कुछ धर्मों और वर्गों के बारे में जो दृष्टिकोण बनाया गया है वह राष्ट्र के हित में नहीं है और संभवतः तथ्यों पर आधारित भी नहीं है। इसमें कई स्थानों पर जहां मतभेद है, लेखकों ने विभिन्नताओं को नजरअंदाज कर दिया है।

आलोचना के स्तर का अनुमान एक उदाहरण के द्वारा लगाया जा सकता है। एन.सी.ई.आर.टी. ने पाठ्यक्रम की रूपरेखा में गणित के संबंध में जो परिवर्तन और संकल्पनाएं की हैं उन्हें तीन पृष्ठों में लिखा गया है। यह गणित के अनेकानेक विद्वानों से राय लेकर उन्हीं के द्वारा आधारित सुझावों पर है जो विश्वस्तर पर स्कूलों में दी जाने वाली गणित शिक्षा से परिचित हैं और उसकी आवश्यकताओं को जानते हैं। इस सारे लेखन में एक वाक्य है : "यथाप्रसंग वैदिक गणित के इतिहास के

उपयोग के द्वारा भी छात्रों के संगणकीय कौशलों में वृद्धि करनी होगी।" इस एक वाक्य को कुछ आलोचकों और वैज्ञानिकों ने यह कह कर उभारा है कि यह शिक्षा का 'तालिबानीकरण' होगा और गणित शिक्षा पाषाण युग में चली जाएगी। आलोचनाएं किसी भी प्रक्रिया को सुदृढ़ करती हैं और कार्य निष्पादन करने वालों को उचित मार्गदर्शन भी प्रदान करती हैं परंतु निश्चित ही इस प्रकार की आलोचनाएं आलोचकों का सम्मान नहीं बढ़ातीं। पाठ्यक्रम की रूपरेखा की अधिकांश आलोचनाएं दिशा-धर्मियों या रंग धर्मियों द्वारा की गई हैं जो प्रगतिशील होने के नामपट्ट अपने माथे पर लगाए हुए हैं और जिनके अनुसार जो भी उनके पीछे चलने को तैयार नहीं है वह दकियानूसी है और पाषाण युग की ओर ले जाने वाला हो जाता है।

इसका एक अन्य पक्ष भी है। अनेक लोग जिन्हें सही तथ्य ज्ञात नहीं थे या जिन्हें केवल कुछ प्रायोजित संदर्भों से ही जानकारी मिली थी उन्होंने भी आलोचना में भाग लिया। जब सही तथ्य उनके सामने आए तो उनका विश्लेषण कर उन्होंने अपने विचार बदले। एक महत्वपूर्ण संदर्भ का उल्लेख करना उचित होगा। प्रसिद्ध न्यायविद् न्यायमूर्ति बी. आर. कृष्णा अय्यर ने प्रधानमंत्री जी को पत्र लिखकर एन.सी.ई.आर.टी. की कुछ आलोचनाएं नए पाठ्यक्रम के संबंध में कीं। यह पत्र एक पत्रिका में प्रकाशित हुआ और एन.सी.ई.आर.टी. ने अपना पक्ष न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर के समक्ष रखा। उन्होंने उसे पढ़कर अपनी आलोचना वापस ले ली और एन.सी.ई.आर.टी. से अपेक्षा की कि वह नए पाठयक्रम को 'ह्युमेनिज्म' और 'सेक्युलरिज्म' के मूल्यों के अंतर्गत ही क्रियान्वित करेगी। एन.सी.ई.आर.टी. इसके लिए वचनवद्ध है और इनके विपरीत किसी प्रकार का परिवर्तन या प्रयास करने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

संवाद

एन.सी.ई.आर.टी. की साधारण सभा की बैठक दिसम्बर 2000 में हुई जिसमें सभी राज्यों के शिक्षा मंत्री सदस्य हैं और इनमें से अनेक इसमें उपस्थित भी थे। यहां पर यह निर्देश दिया गया कि प्रत्येक राज्य में पाठ्यक्रम की नई रूपरेखा को लेकर उत्तरदायी अधिकारियों, अध्यापकों, पुस्तक लेखकों इत्यादि के साथ चर्चाएं आयोजित की जाएं। हर स्थान पर यही प्रश्न उभरकर आया है कि शैक्षिक दृष्टि से पाठ्यक्रम की नई रूपरेखा में ऐसा कुछ नहीं है जिसे अस्वीकार किया जा सके। राजनैतिक स्तर पर अस्वीकृत करने के लिए संभवतः किसी चिंतन या कारक इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती होगी। इस संवाद को लगातार जारी रखा जाएगा और एन.सी.ई.आर.टी. भरसक प्रयास करेगी कि जो परिवर्तन शिक्षा व्यवस्था में होने चाहिए वे सही रूप में हों तथा उसका लाभ हर प्रांत में हो और हर बच्चे तक पहुंच सके।

यहां पर यह कहना भी आवश्यक है कि एन.सी.ई.आर.टी. उन पुस्तकों के

प्रकाशकों की श्रेणी में नहीं आती है जिनका उद्देश्य अपनी अधिक से अधिक पुस्तकों को बेचना होता है। इस संस्थान की पुस्तकें देश के लगभग तीन प्रतिशत स्कूलों में ही उपयोग में आती हैं। राज्य सरकारों का अधिकार है कि अपने पाठ्यक्रम का निर्माण अपने संस्थानों और विशेषज्ञों के द्वारा करें अपनी पुस्तकों का निर्माण भी वैसे ही करें। इस सारी प्रक्रिया में संस्थान को सदा आमंत्रित किया जाता रहा है। हमारी पुस्तकें और हमारा पाठ्यक्रम विचार के लिए उपयोग में लाया जाता रहा है और अधिकांशतः उसी के आधार पर राज्यों की पुस्तकें वहां की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाई जाती हैं। यही प्रक्रिया आगे भी चलेगी। संस्थान इसमें पूर्ण सहयोग करता रहेगा। इस प्रसंग में किसी को भी चिंतित या आशंकित होने की आवश्यकता नहीं है। संस्थान की नई पुस्तकें जो 2002-03 के पहले कुछ कक्षाओं के लिए उपलब्ध होंगी। वह पूर्ण रूप से राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अंतर्गत और भावी समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाई जाएंगी। संभवतः उस समय सारी आशंकाएं, पूर्वाग्रह और भय निर्मूल साबित होंगे।

पाठ्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया एक सतत् प्रक्रिया है। इसमें कभी पूर्ण विराम नहीं लगता। संस्थान इस तथ्य को जानता है, स्वीकार करता है और अपने राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को समझता है। परिवर्तन अत्यंत तेजी से हो रहे हैं और पांच वर्ष से अधिक समय पाठ्यचर्या के पुनर्निर्माण में कभी नहीं लगाया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम बनने के तुरंत बाद भावी पाठ्यक्रम बनाने की दिशा में आवश्यक अध्ययन व सर्वेक्षण प्रारंभ कर दिए जाने चाहिए। इन पांच वर्षों के अंदर भी यदि कोई बड़ा परिवर्तन होता है तो उसे अग्रणी पाठ्यचर्या के रूप में अध्यापकों और बच्चों तक पहुंचाने का कार्य होना चाहिए। एन.सी.ई.आर.टी. ने यही प्रयत्न किए हैं और निष्ठापूर्वक आगे भी करती रहेगी। □□

34

ग्रेडिंग का मूल्यांकन

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के कालखंड का शैक्षिक कार्य पद्धतियों, कार्यक्रमों तथा लागू करने की रणनीति आधारित अत्यन्त विलक्षण दस्तावेज सन् 1964-1966 के 'एजुकेशन कमीशन' ने तैयार किया था। कमीशन ने शिक्षा की एक ऐसी राष्ट्रीय प्रणाली ईजाद की जाने हेतु एक शैक्षिक आन्दोलन का अभिस्तावन किया जो वर्तमान में उपलब्ध उस प्रणाली के ही तुल्य था। जिसे "एक सामंती प्राधिकरण की आवश्यकताओं को साझी और परम्परागत समाज की सीमाओं के भीतर न रखा जा सके"। कमीशन के बहुत से अभिस्तावन निःसन्देह क्रान्तिकारी थे, जैसे सामान्य शिक्षा-प्रणाली, सैकेण्डरी अवस्थान तक स्कूली शिक्षा में विज्ञान और गणित को अनिवार्य अवयवांश बनाना और क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना। कमीशन की सन् 1968 के प्रतिवेदन पर भारत सरकार के द्वारा प्रसारित संकल्प में मूल्यांकन तथा परीक्षण को उन्नत स्थान मिला है। "परीक्षाओं में सुधार लाए जाने का एक बड़ा लक्ष्य परीक्षाओं की विश्वसनीयता तथा कानूनी मान्यता हासिल करना और मूल्यांकन को एक ऐसी निरंतर प्रावधान विधि अथवा क्रिया बनाए रखना होगा जिसका लक्ष्य निर्धारित क्षणों में प्रस्तुत किए गए निष्पादन की गुणवत्ता को 'प्रमाणित करने' के बजाय विद्यार्थी को अपनी उपलब्धियों के स्तर को और अधिक उन्नत बनाने की दिशा में सहायता देना होगा।

नीति के सन्दर्भ में सन् 1986 और 1992 की राष्ट्रीय नीति मुख्य सीमाचिन्ह रहे, जिनके अनुसार 'परीक्षाओं को शिक्षा में गुणकारी परिवर्तन लाने हेतु प्रयुक्त करना होगा।' सन् 1992 की नीति ने 'एक ऐसी प्राकलन विधि को सुनिश्चित बनाने का प्रस्ताव किया जो विद्यार्थी के विकास तथा शिक्षा प्रदान करने व शिक्षा प्राप्त करने में परिमाणिक सुधार लाने में एक शक्तिशाली औजार सिद्ध हो', ऐसी मान्य व विश्वसनीय परीक्षा विधि को पुनः सांचे में डाले जाने की प्रस्तावना थी। यह नीति आगे चलकर यह सुझाव भी देती है कि अवसर और अधिष्ठान के मध्य बहुत अधिक बढ़ गए तत्व को मिटाया जाए। यह कंठस्थ करने पर जोर न डालने तथा शिक्षा के विद्वता और गैर-विद्वता, दोनों पक्षों को संस्थापित करने तथा अबाध और सम्पूर्ण

मूल्यांकन प्रणाली का सुझाव भी देती है। यह शिक्षकों, विद्यार्थियों और माता-पिता द्वारा मूल्यांकन प्रणाली का प्रभावी उपयोग लिए जाने की सिफारिश भी करती है। अंत में, मूल्यांकन प्रणाली तथा परीक्षा सुधारों के अन्तर्गत यह नीति अंकों के स्थान पर ग्रेडिंग का उपयोग करने की सिफारिश करती है।

इस सिफारिश को कार्यान्वित करने की संभाव्यता का वर्तमान में परिनिरीक्षण चल रहा है। उचित तत्परता पूर्वक राष्ट्रव्यापी वाद-विवाद आरम्भ हो चुका है। इसे अर्थपूर्ण एवं व्यावसायिक रूप से निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए दृढ़ता दिया जाना अपेक्षित है। चिरकाल से चले आ रहे वर्षांत की परीक्षाओं पर विचार करने की दिशा में कोठारी कमीशन सहित अनेकों समितियों तथा कमीशनों द्वारा मनन किया गया है। शिक्षा प्रणाली के भीतर परिवर्तन के विरोध ने सफलतापूर्वक वार्षिक परीक्षाओं की विधि को व्यावसायिक विचारों तथा अनुशंसाओं के विपरीत जारी रखना सुनिश्चित कर लिया है। परीक्षा पद्धतियां शिक्षार्थियों का क्यों कर मूल्यांकन करती हैं? वर्तमान ढांचे में इन पद्धतियों का एकमात्र उद्देश्य है कमजोरियों तथा शिक्षार्थियों की असफलताओं की खोज करना। इस प्रक्रिया की कोई आगामी उपयोगिता नहीं है, सिवाय इसके कि अधिकांश शिक्षार्थियों के मनोजीवन पर गहराई पूर्वक 'अनुत्तीर्णता' बनी रहे। यह निर्णायकता व्यक्ति के हृदय पटल पर जीवनपर्यंत अंकित रहती है। शिक्षा प्रणाली ने हतोत्साहन तथा निमित्त हीनता के उस आघात की कभी भी सुधि नहीं ली जो देश के युवा लोगों को प्रतिवर्ष तथा अनेक दशकों से झेलनी पड़ रही है। जब कभी स्कूली शिक्षा के बोर्ड द्वारा परीक्षा-परिणाम घोषित किए जाते हैं 'चालीस प्रतिशत ने इस वर्ष सैकेण्डरी परीक्षाओं को सफलतापूर्वक पूरा किया है', सफलता के प्रतिशत पर यह भी अधिकतर जोड़ दिया जाता है कि इस में विगत वर्ष की तुलना में दो प्रतिशत का सुधार आया है'। हर कोई खुश है! साठ प्रतिशत 'अनुत्तीर्ण' विसरा दिए जाते हैं। तथ्य से परे, कम से कम संख्या में ही पूरक परीक्षाओं में बच्चे उत्तीर्ण हो पाते हैं। वे भी केवल सौभाग्यशालियों में से ही!

यद्यपि अनुत्तीर्ण अभ्यर्थियों के भाग्य की मात्रा को प्रकट कर पाना कठिन है, यह एक आम जानकारी है कि अधिकांश असफलताएं अंग्रेजी और गणित विषयों को लेकर होती हैं। खास तौर पर यह बात ग्रामीण, आदिवासी, मलिन क्षेत्रों तथा प्रथम पीढ़ी के विद्यार्थी एवं जो आर्थिक रूप से कमजोर समाजों से हैं और जो इतने भाग्यशाली नहीं हैं कि व्यक्तिगत शिक्षण या इसी प्रकार के अन्य साधनों द्वारा शिक्षण ले सकने के लिए पर्याप्त रूप में सक्षम हों उन पर लागू होती है। बच्चा हिन्दी और इतिहास में प्रमुखता पा सकता है किन्तु अंग्रेजी में कमजोर पड़ जाता है। शुद्ध परिणाम है — सदा सर्वदा के लिए असफल।

आइए, इस प्रश्न को पुनः दुहराएं — मूल्य निर्धारण क्यों? इससे शैक्षिक प्राप्तियों के परिणाम का अनुमान लगाने में सहायता मिलती है और यह उन्हें 'सुधारने में

सहायक होता है। मूल्यांकन शिक्षार्थी के आगामी विकास और परिवर्धन के बारे में साक्ष्य एकत्र करने के अवसर देता है। जाहिर है कि जो साधन चुने जाएंगे उन्हें व्यावसायिक तथा विद्या विशिष्टता की दृष्टि से खोट रहित होना होगा ताकि प्रामाणिकता, विश्वसनीयता, लक्ष्यपरता और निश्चय ही परिपालन सुनिश्चित कर सकें। इस प्रकार का सर्वांगीण कार्य क्या लिखित परीक्षाएं 'अकेले' निष्पादित कर सकती हैं? क्या यह कह देना सम्भव और तर्कसंगत है कि वर्षांत में होने वाली परीक्षा में 91 तथा 92 प्रतिशत अंक जुटाने वाले शिक्षार्थियों में से 92 प्रतिशत अंकों वाला निश्चित ही दूसरे की तुलना में श्रेष्ठ है? मानवीय वस्तुपरकता की भी सीमाएं होती हैं!

परीक्षाओं में सुधार जैसे पाठ्यक्रम के नवीकरण के अभ्यास, अधिकांश देशों के द्वारा किए जा रहे हैं। जहां मौलिक रूपान्तरण ऐच्छिक है वहां विचार और तर्क सें आधारभूत तथा प्रयोगात्मक ढंग से विद्यालयी शिक्षा में रीतियों-प्रक्रियाओं को विकसित करने की दिशा में आगे बढ़ने में कोई हानि नहीं है चूंकि बहुत सी उज्ज्वल तथा विकसित प्रक्रियाओं, विधियों द्वारा इस मार्ग को अपनाया गया है। बच्चों को उनकी सुविधानुसार साख अर्जित करने की छूट देकर समय पूरा होने पर उपयुक्त प्रमाणन की प्राप्ति के लिए इन साखों को स्थानान्तरित या संग्रहीत किया जा सकता है।

वर्तमान अवस्था में सब से महत्वपूर्ण मुद्दा है – बच्चों के ऊपर वर्षांत पर होने वाली पूर्ण परीक्षाएं तथा अधिक अंक प्राप्त करने की जी-तोड़ दौड़ के कारण पड़ने वाले दबाव तथा तनाव। माता-पिता द्वारा डाले जाने वाले आग्रह तथा अत्यन्त विषम प्रतियोगिता की परिणति होती है – ग्रहणशील युवा शिक्षार्थियों के शारीरिक और मानसिक क्षमताओं पर पड़ने वाले घातक प्रभाव, जिसके कारण भयंकर तनाव सम्बन्धी पेचीदगियां पैदा हो रही हैं। आत्महत्याएं होना भी ऐसी घटना नहीं रही है जिसके बारे में सुना न जाता हो। क्या कोई प्रबंधन इस प्रकार की वृद्धियों की उपेक्षा कर सकता है? बरबादी, आत्मबल हीनता और अकर्मण्यता के मुकाबले में ऐसे रुख नए हैं जिनसे देश के युवा वर्ग ने विगत में 'जीना सीख लिया है'। क्या राष्ट्र युवाशक्ति की इस दीर्घकाय बरबादी की उपेक्षा कर सकता है?

क्या ग्रेडिंग प्रणाली परीक्षा सम्बन्धी सभी समस्याओं का निराकरण कर सकती है? निश्चय ही नहीं। किन्तु बिना किसी तरह की शंका के यह अनेक समस्याओं को कम कर देगा। इन में शामिल किए जा सकते हैं – अधिष्ठान निष्ठाएं, गला काट प्रतिद्वन्द्विता, परित्यक्त युवाओं की संख्या में कमी आना, प्रबंधन की विश्वसनीयता तथा कोटिबंधन को सुधार के उपाय का अस्त्र स्वीकार कर लेना। ये संस्थान को आचार-विचार सम्बन्धी अनुष्ठान के पुनरीक्षण में सहायक हो सकते हैं। यह दबाव मुक्त अध्ययन आदतों को सुधार की ओर ले जाएगा और पाठ्यक्रम के मिजाज

को अपने प्रभाव में बांधेगा। ग्रेडिंग प्रणाली का सब से विलक्षण परिणाम यह निकलेगा कि वह सामाजिक कलंक, जिसका फंदा प्रत्येक अनुत्तीर्ण शिक्षार्थी की गर्दन पर झूलता रहता है और जिस के कारण वह नित्य रूप में अपने परिवार में भी कलंकितावस्था में जीते हैं, इसमें कमी आएगी। यदि प्राप्तांक 'तैंतीस प्रतिशत' से कम रह जाएं तो दूसरी सभी तरह की विशिष्टताएं और गुण जो प्राप्त एवं सीखे गए होते हैं, उन्हें विस्मृति के हवाले कर दिया जाता है। दरअसल यह तैंतीस प्रतिशत का मान भारतीय बच्चों पर उन विदेशी शासकों के द्वारा आरोपित किया गया एक लांछन है, जिन्हें यहां के वासियों से ऐसे तुलनात्मक निष्पादन हो सकने की सूझ-बूझ ही नहीं थी। पांच स्कूलों में चलन में लाए जा रहे आदर्श अथवा मापदंड भारतीयों के लिए रखी गई रीतियों से कहीं अधिक उन्नत थे। इस परिपाटी को 15 अगस्त, 1947 के दिन ही त्याग दिया जाना चाहिए था। यद्यपि विलम्ब हो चुका है, फिर भी मौका हमारे हाथ में है। इस बात को समझ लिया जाना चाहिए कि स्कूली शिक्षा के बोर्ड द्वारा संचालित हो रहे इम्तहान अब उसी विश्वसनीयता का मजा नहीं ले पा रहे हैं, जो, कहना होगा, तीस वर्ष पहले थी। बोर्डों पर किसी तरह का लांछन थोपे बिना, यह एक वास्तविकता तो है ही कि व्यावहारिक रूप में प्रायः प्रत्येक व्यावसायिक पाठ्यविधि के अध्ययन के लिए प्रवेश परीक्षण उच्च सैकेण्डरी के बाद ही संचालित किए जाते हैं। यहां तक कि स्नातक पूर्व कक्षाओं के लिए भी अनेक विश्वविद्यालय प्रवेश हेतु परीक्षाएं ले रहे हैं।

अंकों के बजाय ग्रेडिंग की प्रक्रिया की शुरुआत करने के बारे में माता-पिता तथा शिक्षक महानुभावों को कतिपय आशंकाएं हैं। कुशाग्र बुद्धि वाले तरुणों को क्या क्रमस्थापन प्रेरकता-रहित या उद्योग-हीन बना देगा? इसके विपरीत क्रमस्थापन प्रणाली से प्रतियोगात्मक भाव को उसके सही अन्तर्दर्शन की दिशा में ले जाया जा सकेगा। विषयों के अनुशासनीय व अनुकरणीय प्रावधान एवं परिणाम स्वरूप प्राप्त किए जाने वाले 'ग्रेड पाइन्ट' औसत (GPA) का प्रवेश प्राप्त करने, छात्रवृत्ति लेने और अन्य प्रकार की मान्यताएं हासिल करने के लिए उपयोग लिया जा सकता है। जहां पर स्कूली शिक्षा के मूल्यांकन की शर्त ग्रेडिंग ही है, ऐसे देशों के विश्वविद्यालयों के प्रबंधनों ने क्रमस्थापन पर आधारित चुने गए प्रवेश के लिए अभ्यर्थी के सूक्ष्म परीक्षण के लिए एक प्रक्रिया का विकास कर लिया है। यहां यह भी समझ लेना उपयुक्त रहेगा कि बड़ी संख्या में ऐसे बच्चे, जो उच्च सैकेण्डरी कक्षाओं में जाना चाहते हैं, तथा जो इस प्रणाली को दसवीं कक्षा के बाद छोड़ देते हैं, वे असफलता के श्राप से मुक्त हो सकेंगे। साथ-साथ यदि वे चाहेंगे तो अपने क्रमस्थापन में भी सुधार ला सकेंगे। राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय जैसी प्रणालियों को इस में पैठ बनानी होगी और स्वयं को सहायता के लिए प्रस्तुत करना होगा।

वर्तमान प्रबंधन में एक बड़ी खाई है लिखित परीक्षा मंडित शिक्षा देने और

प्राप्त करने की प्रक्रिया पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया जाना। उपलब्धियों और उद्देश्य सार्थक करने, जो गैर-निकटवर्ती क्षेत्र या जो प्रभावी अधिकार क्षेत्र माने जाते हैं, के प्रति कोई महत्व नहीं दिया जाता है। ये व्यक्ति की परिवृद्धि के लिए प्राणदा और क्रान्तिक होते हैं और इन्हें उपयुक्त रूप में आंके जाने की आवश्यकता है, यथा, प्रतिकारी अंतःवर्धन की व्यवस्था के लिए इन्हें तीन या फिर पांच बिन्दुओं वाले मापक के द्वारा परखा जा सकता है। यद्यपि यह सरल भी है और उपयोगी भी, किन्तु फिर भी इसे पूरी तरह पारदर्शी तथा रोग निवारक गुण के अपेक्षित स्तर का नहीं कहा जा सकता। किन्तु इससे उद्देश्य पूरा हो जाता है, और यह सही सिद्धि प्रदान करता है। समीपी या निकटवर्ती विषय-क्षेत्रों की दिशा में, जिनके लिए लिखित परीक्षाएं विनिहित हैं, उनके लिए 'असाधारण' से लेकर 'असंतोषजनक' तक के वर्गों का एक सात बिन्दुओं की या नौ बिन्दुओं वाली श्रेणीयतामापक उपाय का उपयोग किया जा सकता। परीक्षाओं में सुधार लाने में ग्रेडिंग प्रणाली का प्रारम्भ अत्यन्त प्रभावी योगदान दे सकता है। बीते हुए समय में हम इस दिशा में खास कुछ नहीं कर पाए हैं, विशेषकर अव्यावसायिक कारणों से। उपयुक्त समय यही है जब शिक्षकों, शिक्षकों को तैयार करने वालों और शैक्षिक व्यवस्था करने वालों को ग्रेडिंग प्रणाली के अवयवों से परिचित कराया जाए। जो एजेन्सियां परीक्षाएं संचालित करती हैं, उनके समक्ष, परिवर्तन को स्वीकार करने का साग्रह प्रयत्न किया जाए। □□

35

शिक्षा की दिशा की खोज

विगत सौ वर्ष महान घटनाओं और प्रसंगों; अविष्कारों और खोजों, उपलब्धियों और प्रगति, विकास और परिवृद्धि, निर्माण और विध्वंस, हिंसा और शांति की अगुआई, युद्धों और समझौतों, क्रूरता और सहानुभूति के वर्ष रहे। यह सूची कई गुना बढ़ाई भी जा सकती है। यह वह शताब्दी थी जिसने मानवीय मस्तिष्क की श्रेष्ठतम रचनात्मक विकास और कल्पना-प्रतिभा का साक्षात्कार किया। इस शती ने एक समूची जाति को विनष्ट कर देने की कोशिशों सहित मानवीय यंत्रवतता की अत्यन्त निकृष्टता एवं निष्ठुरता का भी साक्षात्कार किया। इस काल खंड के अन्तर्गत विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रभुत्व बोधक घर-घर तक पहुंच गए। परमाणु के भीतरी ताने-बाने को प्रायः समुचित रूप में जान लिया गया, समझ और परख लिया गया। यह शती आइन्स्टीन और सापेक्षता के सर्वमान्य सिद्धान्त की सदी रही। अन्तरिक्ष का अन्वेषण कर लिया गया और परमाणु का विस्फोट कर दिया गया। मस्तिष्क को गहराई और विस्तारपूर्वक उसके आन्तरिक अवयवों व उपादान भूत अंगों सहित विश्लेषित कर लिया गया। सूचना प्रौद्योगिकी की क्रान्ति ने उस स्वप्न को व्यावहारिक आकार दे दिया, वसुधा को आकाश पर्यंत पुरवा बनाने के स्वप्न को हम धरती के सुदूरतम व्यक्ति के पड़ोसी बन गए हैं। तब भी हम आवश्यक रूप में पड़ोसी जैसे नहीं हो पाए हैं। बीसवीं सदी के अंतर्गत उपनिवेशवाद अपने अपरिहार्य भाग्य की भेंट चढ़ गया। जाति, रंग और पंथिक तथा रस्म-रिवाजों के आधार पर किया जाने वाला भेदभाव, जैसे अस्पृश्यता, शनैः-शनैः कम हो रही है यद्यपि पूरी तरह तथा फिर से न पनप पाने के स्तर तक ऐसा नहीं हो पाया है।

बीसवीं सदी की प्रथम अर्धशती ने अद्भुत अथवा असाधारण घटना के रूप में गांधीजी का साक्षात्कार किया। उनका ध्यानबिन्दु था व्यक्तिगत मानव का स्वमूल्यन। वैश्वीकरण और विकास की रूपरेखाओं की वृत्तियों को मुख्यतः 'आस्तिमन्तः' के निजी हितों के द्वारा निर्देशित और निर्धारित किया जा रहा है न कि 'नास्तिमन्तः' के द्वारा। मुठ्ठीभर लोगों द्वारा शेष लोगों की कीमत पर जमा किए गए अम्बार को डंके की चोट पर मानवीय उन्नति व विकास का नाम दिया जा रहा है। गांधीजी

के विचार कुछ और थे। उन्होंने अन्त्योदय का विचार दिया और उनमें कहने की हिम्मत भी थी — "मैं तुम्हें एक तिलस्म देता हूं। जब कभी भी तुम्हें शंका हो या फिर जब 'स्व' तुम्हारे लिए बहुत बड़ा हो जाए, तब निम्नलिखित परीक्षण को प्रयुक्त करो : तुमने जिस दरिद्रतम तथा जिस दुर्बलतम व्यक्ति को कभी कहीं देखा हो उसके चेहरे को याद करो और खुद से पूछो कि तुम जो कदम लेने की सोच रहे हो क्या वह उसके कोई काम आ सकेगा। क्या उससे उसे कोई लाभ मिलेगा? क्या उस कदम से उसके स्वयं के जीवन और प्रारब्ध पर उसका नियंत्रण स्थापित हो जाएगा? दूसरे शब्दों में, क्या उन करोड़ों भूखे और आध्यात्मिक रूप से निराहारों को वह 'स्वराज' तक पहुंचा देगा? तब तुम अपनी शंकाएं और अपना 'स्व' पिघलता हुआ पाओगे।"

गांधीजी को एक प्रदर्शक सिद्धान्त की तरह आंकना हमें सदैव गुमराह करेगा। वास्तव में मनुष्य की आजादी को उसकी समग्र श्रेष्ठताओं के साथ हासिल करना ही गांधीजी का लक्ष्य और स्वप्न था। इस आजादी में शामिल है एक स्वच्छ और सम्मानजनक जीवन, आत्माभिव्यक्ति, आत्मानुभूति, आत्मानुभव और अज्ञान तथा जाग्रति के विरोध से उपजी पराधीनता से मुक्ति। इसे समानता अथवा समरूपता के ऐसे उदाहरण के अन्तर्गत समझा जाना था जिसे मानव प्राणी प्रकृति के साथ कायम रख सकते थे। प्रगति, अभिवृद्धि और विकास के लिए उनकी दृष्टि में यह एक आवश्यक शर्त थी। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने में शिक्षा अपनी समग्रता में सदा सर्वदा एक प्रभावशाली औजार बनी रहेगी और साथ ही व्युहपृष्ठ भी। विश्वव्यापी प्रारम्भिक शिक्षा के लिए उपजी सार्वभौम जाग्रति बींसवी सदी की मुख्य देनों में से एक है।

स्वतंत्र भारत के द्वारा विदेशी शासकों से विरासत में शिक्षा प्रणाली को गांधीजी के द्वारा निकट से पर्यवेक्षित किया गया था, उसका अध्ययन और विश्लेषण किया गया था। दक्षिण अफ्रीका में और तदुपरान्त चम्पारण, गुजरात और वर्धा में किए गए उनके परीक्षणों ने एक ऐसी शिक्षा प्रणाली को विकसित करने की नई अंतर्दृष्टि प्रदान की जो स्वतंत्र भारत की जरूरतों को पूरा कर सके। सन् 1931 में अपने लंदन प्रवास के समय उन्होंने एक अत्यंत अवतारोचित वक्तव्य दिया

"भारत अपने गांवों में वास करता है। वही वह जगह है जहां हमारे उत्पादक रहते हैं, हमारे मतदाता रहते हैं, निर्धन और निरक्षर जन रहते हैं। ये गांव ही हैं जो देश की समस्याओं की कुंजी रखते हैं। तथापि भविष्य के भारत की कल्पना अर्ध करोड़ गांवों को पुनः निर्मित करने से कहीं बड़ी हो सकती है। दुर्भाग्य यह है कि इन गांवों में वास करने वाले करोड़ों लोगों की बड़ी जमात को देखते हुए हमारे विकास, हमारा प्रजातंत्र और हमारी शिक्षा सभी असंगत हो गए हैं। किन्तु एक बार उत्साहपूर्वक सही दिशा में बढ़ने का निर्णय ले लेने के बाद वे निश्चित

रूप में प्रत्युत्तर देंगे और अपनी तकलीफों को समाप्त करने हेतु उठ खड़े होंगे। हो सकता है कि पहले चरण में चुने गए समप्राकृतिक, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े गांवों को लिया जाए। आरम्भ में पूरे गांवों के आगे न आने की अवस्था में, बाद में आपसी मदद के लिए दलों का निर्माण किया जा सकता है। स्वाभाविक है कि गावों के नवनिर्माण की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में शिक्षा को एक अत्यंत शक्तिशाली भूमिका अदा करनी होगी, क्योंकि एकमात्र यही माध्यम लोगों के दिमाग को नए विचार ग्रहण करने तथा नए औजार, नए सम्बन्ध और संगठित होने की नई रूपरेखाओं को अपनाने के लिए तैयार कर सकती है।"

भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरांत, यद्यपि शिक्षा के विदेशी प्रतिरूप को ही बनाए रखा और बींसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में इसमें परिवर्तन भी अभिलक्षित लगे किन्तु वे पर्याप्त नहीं थे। नीति बनाने तथा उसके लागू किए जाने की प्रक्रिया दोनों के ही बारे में उपलब्धियों की दिशा में बहुत कुछ कहा जा सकता है। कतिपय प्रतिरोधायक पक्ष, फिर भी देखा अनदेखा कर दिए गए या फिर उन्हें पूरी तरह किनारे कर दिया गया। प्रगति और विकास को मुख्य रूप से अक्सर आर्थिक पुनर्जागृति के रूप में आंका जाता है। समाजार्थ संस्कृति और मानवोचित पक्षों को यदि विस्मृति में नहीं तो नेपथ्य के हवाले अवश्य कर दिया गया है। स्कूली शिक्षा की प्रणाली में मौजूद भारी कमियों की आमतौर पर उसकी विषय-वस्तु, संरचना, प्रबंधन तथा परीक्षाओं के सांचे के सन्दर्भ में आमतौर पर चर्चा और सर्वेक्षण होते रहते हैं। परिवार, कुटुम्ब और राष्ट्र के प्रति अपनत्व की भावना जिस मात्रा में हमारी युवा पीढ़ी में पनप रही है उस ओर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। भारत की विरासत के प्रति गर्व की भावना का बीजारोपण करने में हमारी शिक्षा प्रणाली कितना योगदान दे सकती है और क्या विद्योपार्जन के द्वारा विचारों के उस स्तर की प्रखरता संचारित कर सकती है जो भारतीय सभ्यता ने अन्य लोगों से कहीं पहले प्राप्त कर ली थी, उसे पुनः तलाशा जाना तथा उसे युवा पीढ़ी को सौगात के रूप में देने की बड़ी आवश्यकता है। यह बात इसी संदर्भ में तुरन्त एक अन्य प्रश्न पर ले आती है कि वर्तमान में प्रभावी स्कूली शिक्षा प्रक्रिया की जड़ें भारतीय मिट्टी में कितनी गहरी पैठी हैं या फिर यह कि क्या हम कहीं और जगह से उखाड़ कर यहां लगाई गई पद्धति से ही संतुष्ट हैं जिसकी जड़ें नहीं हैं और जिसे उस जलवायु और वातावरण से मेल खाने के लिए नहीं रचा गया था। जिस मौसम व हवा पानी में भारतीय बच्चे पैदा होते हैं, बढ़ते हैं और प्रौढ़ता प्राप्त करते हैं।

शिखर स्तर की व्यावसायिक संस्थानों के कुशाग्र उत्पादों को जब हम देश छोड़कर विकास प्राप्त राष्ट्रों की सेवा करने हेतु पलायन करते देखते हैं तो हम अक्सर गहरी वेदना का इजहार करते हैं, परन्तु इस अभिमान के भाव से भी अभिभूत हो लेते हैं कि हमारे युवागण वहां पर अच्छा ही कर रहे हैं। अपने भीतर कहीं पर हम

परीक्षण और विश्लेषण जरूर करते हैं कि ये युवा लोग न्यून विलासिता और टिकाऊ उपभोक्ता के समान होकर क्यों कर भारत में काम करना श्रेष्ठकर नहीं समझते हैं? हमारा प्रबंधन दूसरों में निःस्वार्थ समर्पण के मूल्यों को नहीं बीज पाया है और यह अत्यन्त खेदजनक है कि आदर्श भी धीरे-धीरे लुप्त हो रहे हैं।

युवाओं को उनके इर्द-गिर्द एक ऐसे वातावरण की पूरी आवश्यकता है जिसमें वे एक सुदृढ़ आत्म-बिम्ब विकसित कर सकें और संस्कृति, सामाजिक ताने-बाने, पर्यावरण, राष्ट्र-धर्म, न्याय व सामाजिक न्याय के सन्दर्भ में समझ-बूझ पोषित कर सकें तथा उस व्यवस्था के प्रति विश्वसनीयता ला सकें जो न केवल प्रवेश प्रदान करती है बल्कि सफलता भी देती हो। अपनी युवा पीढ़ी में उत्साह की भावना का संचार करने में हम असफल हैं। हमारी परीक्षा प्रणाली 50% से अधिक लड़कों और लड़कियों को असफल घोषित कर देती है। अपने मस्तकों पर 'अनुत्तीर्ण' लिखी एक पर्ची लगाए हुए वे अपना शेष जीवन बिताते हैं। जहां युवाओं को प्रेरित व प्रोत्साहित किया जाना स्वीकार किया गया है वहीं कोई ठोस कदम अभी तक नहीं उठाए गए हैं तथा विद्यालयों में मूल्यांकन की कोई ऐसी विधि शोधित नहीं हुई है जो इस निराशा और पस्तता का अंत कर सके। वर्ष के अन्त में पड़ने वाली लगभग सभी परीक्षाओं में भावुक एवं विकसित हो रहे युवा बच्चों पर इस व्यवस्था के फलस्वरूप भयंकर मानसिक दबाव और तनाव बना रहता है। यहां तक कि जिन्हें सैकेन्डरी और सीनियर सैकेन्डरी की अन्तिम परीक्षाओं में भाग लेना होता है तथा साथ ही इन्हीं में से बड़ी संख्या में जिन्हें प्रतिष्ठित व्यावसायिक संस्थानों, प्रतियोगीय परीक्षाओं में उपस्थित होना होता है, अनेक स्थानों पर 'अनुत्तीर्ण' रह जाते हैं। शिक्षा क्षेत्र में निजी या वैयक्तिक प्रोत्साहनों ने स्वयं वित्तीय व्यवस्था करने वालों के लिए संस्थान खोले जाने के रूप में एक अन्य कोण भी उजागर किया हैं जहां केवल मलाई की पर्त वाले उच्चवर्गीय प्रत्याशी ही अवसर मिलने की आशा कर सकते हैं। ये सब मुश्किल सवाल खड़े करते हैं किन्तु इन रुझानों और प्रवृत्तियों के प्रति ज्ञानार्जन की व्यवस्था बधिर नहीं बनी रहनी चाहिए।

उभरते मुद्दे

प्रत्येक राष्ट्र को यह सुनिश्चित करना होता है कि स्कूली शिक्षा की व्यवस्था प्रकृति में गतिशील और शिक्षा की परिधि के चारों ओर प्रगट हो रहे परिवर्तनों के प्रति तत्पर व जवाबदेह है। मानवीय चेष्टाओं और उपक्रमों तथा क्रियाकलापों का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसकी स्कूली शिक्षा की प्रकृति, विषय-वस्तु और बनावट से सूत्रबद्धता न हो। क्योंकि परिवर्तन की गति कल्पनातीत रूप में द्रुतगामी बनी हुई है और कोई भी ठीक-ठीक उन चीजों के आकार-प्रकार की कल्पना नहीं कर पा रहा है जो कुछ वर्षों के बाद उभर कर सामने आएंगे इसलिए यह अनिवार्य

हो गया है कि स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रम में कोटिबंधन, आधुनिकीकरण और परिवृद्धि की अंतर्निहित यंत्रवतता हो। भारतीय परिप्रेक्ष्य में कुछ प्रकरणों की पहचान कर ली गई है और उन्हें उपयुक्त रूप में तथा शीघ्रतापूर्वक प्रतिक्रियान्वित किया जाना है

- ☐ शिक्षा के लिए यह जरूरी है कि वह भारतीय होने पर गर्व की भावना का बीजारोपण करने वाली हो। बच्चे को भारतीय सभ्यता और उसके उत्थान के प्रत्यक्षात्मक पक्षों की जानकारी जरूर हो। भारत में या देश से बाहर रहने वाले भारतीयों द्वारा दिए गए योगदान और एक सुगठित राष्ट्र के रूप में भारत के अभ्युदय का ज्ञान हो, अनेकता के अर्थ को समझे और एक राष्ट्र तथा एक जनसमूह के रूप में अखंडनीय प्रकृति की जन्मजात एकता का गुणगान करे।
- ☐ बच्चों को यह सीखना होगा कि समाज और मनुष्य के व्यक्तिगत उत्थान के मार्ग और साधन खोजने व विचार और कर्म के मूल्यों को धारण करने में हमारे विचारक कितने अग्रणीय थे।
- ☐ एक ऐसी युक्तिमूलक सतर्कता कि भारतीय विरासत विभिन्नताओं के अपने सभी विशिष्ट पक्षों से भारतीय राष्ट्र के प्रति बच्चों में अपनत्व का भाव विकसित करने में निश्चित ही सहायक होगी और उन्हें वह सब करने के लिए तैयार करेगी जो एक मनुष्य, परिवार, कुटुम्ब, समाज तथा देश के लिए करने की दरकार रखता है।
- ☐ सार्वभौमीकरण और उदारवाद की चुनौतियां एक वास्तविकता हैं। हमें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक साथ रहना सीखना है और कुटुम्बों तथा समाजों में राष्ट्रीय स्तर पर इसका अभ्यास करना है।
- ☐ स्कूली शिक्षा के लिए जरूरी है कि वह उन सामाजिक संस्कृति, समाज शास्त्र और धार्मिक विभिन्नताओं को, जो इस देश में एकता के लक्ष्य तक पहुंचाती हैं, की समझ पैदा करे और सामाजिक समरसता का विन्यास करे।
- ☐ युवाओं में गर्व और अपनत्व की भावना का संचार किया जाना अपेक्षित है। यह लक्ष्य संस्कृति, धर्म, सामाजिक रीतियों और भारत में उसके नागरिकों के रूप में रह रहे लोगों से सतर्कता और जागरूकता के संचरण के द्वारा हासिल हो सकता है। विज्ञान, औषधि ओर सामुद्रिक कौशल तथा अन्य कार्यक्षेत्रों में किए गए योगदान के बारे में बताए जाने की जरूरत है ताकि उन में गर्व की भावना उत्पन्न हो और उनमें भविष्य के प्रति आत्मविश्वास का संचार हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य लोगों ने भारत के बाहर जो किया है उस बारे में वे नहीं जान सकेंगे। भूतकाल के साथ बोझ की तरह व्यवहार नहीं होना चाहिए बल्कि उसे भविष्य में उड़ान भरने

के एक सुदृढ़ संतरण पथ के रूप में लिया जाना होगा।

- स्कूली शिक्षा के तत्व तथा ज्ञानानुभव के बीच की वह खाई जिसे बच्चे अपने चारों ओर जुटा लेते हैं उसे यदि पूरी तरह नष्ट न किया जा सके तो कम से कम काफी हद तक सेतुबंधित किया जाना होगा। इसके लिए प्रत्येक स्तर पर भारत के प्रारम्भिक शिक्षालयों में नीतिकारों से लेकर वास्तविक अभ्यास करने वालों तक को जी-तोड़ कोशिश करने की जरूरत रहेगी। केवल यही हमें जीवन के हुनर को विकसित करने तथा जीवनपर्यंत विद्यार्जन करने की दिशा में तैयार कर सकेगा।
- क्रियाकलाप, प्रयोग और हाथ से काम करने को आमतौर पर सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादनशील कार्य, कार्य-अनुभव, शिक्षा का व्यावसायीकरण आदि विभिन्न नाम पद्धतियों के अन्तर्गत स्कूल शिक्षा के एक अविच्छिन्न भागों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। क्रियान्वयन अवस्थान पर प्राथमिकताएं और प्रयोग बेहद निम्न रहे हैं। इसे प्रभावकारी ढंग से सुधारे जाने की आवश्यकता है।
- अनेक आर्थिक बन्धनों ने उन ऐसे माता-पिता और अभिभावकों की उम्मीदों के विस्फोट में परिणति हो गई है जो अपने बच्चों के माध्यम से अपने स्वयं की कामनाओं को सार्थक करने की कामनाएं संजोए हुए थे। इस प्रक्रिया में बच्चे भयंकर दबाव तथा तनाव की दशा में आ गए हैं। ऐसे दबाव दूरस्थ, अवास्तविक तथा असम्बद्ध पाठ्यक्रम से जुड़कर जिसमें अपरिचित मार्ग निर्धारण और सूचना-स्थानान्तरण का आदान-प्रदान सरीखी युद्ध विधियां निहित हों, शिक्षार्थी के लिए जीवन दुःखदायी बना देती हैं। आत्महत्यात्मक मनोवृत्तियों सहित अनेक गंभीर स्तर के विभिन्न रोग व अव्यवस्थाएं उत्तरोत्तर बढ़ रही हैं जो समाज के लिए गहरी चिंता की बात है। ज्ञानार्जन को कभी भी किसी बच्चे पर बोझ नहीं बनने दिया जाना चाहिए।
- बच्चे को ज्ञानार्जन के क्षेत्र में एक सक्रिय सहभागी के रूप में देखा जाना चाहिए न कि मात्र एक जानकारी प्राप्त करने वाला, जैसा कि बीते समय से चल रहा था। सामाजिक, सांस्कृतिक तथा अनुभव मूलक अन्योन्य सामाजिक क्रियाकलापों, उत्सवों व समारोहों का भरपूर उपयोग किया जा सकता है और भागीदारी से युक्त उस ज्ञानार्जन विधि का उपयोग सुनिश्चित हो जो जीवन व जीवनयापन से जुड़ी है और जिसे शिक्षार्जन की दिशा में प्रभावकारी विचारों के आदान-प्रदान वाली द्विमार्गी विधि का रूप देना होगा।
- केन्द्रीय स्तर पर जब पाठ्यचर्या से सम्बद्ध क्रियाकलापों, प्रयोगों तथा अन्य

प्राप्तियों को सूत्रबद्ध किया जाना होता है तो उस अवसर पर लोगों के सामाजिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ अधिकतर भुला दिए जाते हैं। अक्सर ऐसे संकेत भी दिए जाते हैं कि शिक्षकगण ही अपेक्षित बदलाव कर लेंगे, किन्तु ऐसा हो नहीं पाता है क्योंकि शिक्षक इस बारे में प्रशिक्षित एवं तैयार नहीं किए गए होते हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक क्रियाकलाप, जैसे कथा-कहानियां कहना, नाटक मंचित करना, कठपुतली खेल के कार्यक्रम, लोक गीतों व लोककथाओं, लोकोक्तियों-कहावतों तथा मुहावरों आदि के आयोजनों का आमतौर पर उपेक्षण संस्कृति-विहीन सांशैक्षिकता के हालात पैदा करेगा।

- अनुभूति और भावाभिव्यक्ति की समान सीमा वाले धरातल (अन्तः सीमा) को स्कूली शिक्षा के प्रत्येक प्रक्रम में प्राप्त किया जाना अपेक्षित है। अन्तर वैयक्तिक तथा अन्तः व्यक्तिगत स्तर पर प्राप्त की जाने वाली परिवृद्धि और विकास को शिक्षण प्रदान करने तथा शिक्षार्जन करने की प्रक्रिया के अन्तर्गत उचित एवं उपयुक्त प्रोत्साहन मिलना आवश्यक है।

  मूल्यों का ह्रास एक भूमंडली चिंता बन गई है। राष्ट्रीय स्तर पर भी यह एक चिंता का कारण है, विद्यालय के स्तर पर भी और कुटुंब के स्तर पर भी। यहां तक कि परिवर्तन को अपनाते समय भी कतिपय मूल्यों को न केवल कायम रखना होगा अपितु जहां कहीं भी आवश्यक हो वहां उन मूल्यों का वर्धन करना भी अपेक्षित होगा और प्रतिष्ठापन भी। हमारी विरासतीयता और संवैधानिक लक्ष्यों व सार्वभौमिक रूप में स्वीकार किए गए मानवीय स्वभाव का सविकल्पक वस्तुबोध पर आधारित प्रत्यक्षात्मक विषय-वस्तु के माध्यम को अपनाने से शिक्षा अत्यंत प्रभावकारी रूप में अपना योगदान सार्थक कर सकती है। शिक्षकों और बच्चों को भारत के मुख्य धर्मों के मूलभूत सिद्धान्तों से अवगत कराने में किसी भी तरह का संकोच नहीं होना चाहिए। इससे उन्हें समानताओं को समझने और दूसरों के धर्मों के प्रति सम्मान विकसित करने और उन्हें पूजनीय एवं अत्यधिक आदरणीय मानने की दिशा में अपेक्षित क्षमता प्राप्त होगी।

- कोठारी कमीशन ने प्रत्येक बालक को दस बर्षों तक शिक्षा का लाभ लेने की सिफारिश की थी। इसके बाद आया एक अन्तर अवस्थित पाठ्य कार्यक्रम तथा इसी से सम्बद्ध समय विभक्ति का खाका। वास्तविक सच्चाई यह है कि बड़ी संख्या में बच्चे पूर्व स्तरों पर हट जाते हैं और इसे देखा अनदेखा नहीं किया जा सकता है कि जो पांचवी या आठवीं कक्षाओं की समाप्ति पर स्कूल छोड़ देते हैं उन्हें भी अपनी प्रौढ़ जिन्दगी में विद्यालयी शिक्षा का लाभ लेने के लिए तैयार करने की दरकार रहती है। स्कूलों

में दिया जाने वाला शिक्षण और अध्ययन उच्च कक्षाओं की आवश्यकताओं के प्रतिपादन के एकमात्र उद्देश्य से नहीं होना चाहिए। विज्ञान और गणित की वस्तुता में निहित सामाजिक, अर्थशास्त्र के सन्दर्भों का हक और तो समानता और समता उपलब्ध कराए जाने और दूसरी ओर फिजूल की बरबादी और निष्प्रवाहण को कम करने के घोषित उद्देश्यों के प्रकाश में परीक्षण किए जाने की आवश्यकता है।

- सूचना और संचार प्रौद्योगिकी में आ रहे विस्तारों ने शिक्षा प्रणालियों में विश्वव्यापी स्तर पर कल्पनातीत झंझट ला दिए हैं। ये झंझट तेज रफ्तार से उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होंगे और इन्हें संसाधनों में कमी के कारण अनेदखा नहीं किया जा सकेगा। युवा बच्चों को इस सम्बन्ध में सचेत करना होगा। तिस पर भी व्यवहार्य वास्तविकताएं, संसाधन और प्रारूप जिस अवस्था में हमारी स्कूली शिक्षा में विद्यमान हैं, उन्हें नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता है।
- भाषाओं का ज्ञान, खासतौर पर त्रिभाषा सिद्धान्त को लागू करने में अनेक मुद्दे उठ रहे हैं। जो अनुभव अर्जित किए गए हैं उनका विश्लेषण यह सुनिश्चित करने के लिए किया जाए कि जो भी कमियां लागूकरण में दो चार हो रही हैं उन्हें हर सम्भव अधिकाधिकता पूर्वक दूर कर दिया जाय। बच्चों को शुरुआती वर्षों में ही अंग्रेजी माध्यम में प्रविष्ट कर दिए जाने की बढ़ती प्रवृति के विरुद्ध दी गई विशेषज्ञों की राय के प्रति बच्चों के पालकों की सहमति बढ़ रही है। अंग्रेजी को अध्ययन के एक विषय के रूप में किस अवस्थान में प्रस्तावित किया जाए, इस बारे में तरह-तरह के विचार हैं।
- पिछले पांच दशकों के अर्न्तगत परीक्षणों, मूल्यांकन तथा तत्व निर्धारण की प्रक्रिया को प्रभावकारी रूप में नहीं बदला जा सका है। निरन्तर एवं सर्वांगीण मूल्यांकन पद्धति के द्वारा वर्ष के अंत में होने वाली परीक्षाओं का स्थान लिए जाने के सम्बंध में बेशुमार सुझाव प्राप्त हुए हैं। इन्हें केवल एकाकी एंव छुट-पुट मामलों अथवा स्थितियों में ही कार्य रूप में परिणति मिली है। अंकों के स्थान पर 'ग्रेड' प्रदान किए जाने के सवाल पर विशेषज्ञों द्वारा निर्दोष आंके जाने के उपरान्त भी परिवर्तन के प्रति निश्चलता के कारण तथा न केवल पालकों के द्वारा अपितु अधिकांश शिक्षकों के अपेक्षित अन्तरबोध में कमी के कारण भी इस प्रणाली को मूर्त रूप नहीं दिया जा सका है। राष्ट्रीय परीक्षण सेवा (NTS) को विकसित करने का शिक्षा की सन् 1986 की राष्ट्रीय नीति द्वारा दिए गए सुझाव को लागू किए जाने की आवश्यकता है।

- कोई भी शिक्षा पद्धति ऐसे वाद-विषयों और समस्याओं तथा प्रश्नों से अछूती नहीं रह सकती है जो प्रश्नों से मुंह चुराने अथवा वाकछल से बचना न चाहे। यह व्यवस्था में प्रभावकारी विक्रास परिलक्षित करने वाले बिन्दुओं में से भी एक है। प्रणाली को नवीनतम विकास के प्रादुर्भाव से पूरा तादात्म्य स्थापित करने की दिशा में जो उसे अकेले ही उत्तरदायी बना सके, ऐसी विशेषज्ञता से युक्त स्वस्थ और प्रेरक छिद्रान्वेषण अत्यंत सहायक हो सकता है।

मवितव्य परिदृश्य

सन् 1921 में गांधीजी ने राष्ट्रीय शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में एक वक्तव्य दिया था : "प्रायः प्रादुर्भूत काल से ही पाठ्यपुस्तकें बालक-बालिकाओं को अपने घरों में व्यवहृत होने वाले नहीं अपितु ऐसे विषयों के बारे में जिक्र करती हैं जिस बारे में वे पूरी तरह अनभिज्ञ होते हैं। क्या अच्छा है और क्या बुरा, इसका ज्ञान एक बालक पाठ्यपुस्तकों से नहीं बल्कि अपने गृहजीवन से सीखता है। अपने चारों ओर के अड़ोस-पड़ोस के प्रति किसी प्रकार का गर्व करने की शिक्षा उसे नहीं मिलती है। जितना ही वह ऊर्ध्वगमन करता है उतना ही वह अपने घर से और दूर हो जाता है, परिणामस्वरूप शिक्षार्जन के अंत पर आते-आते वह अपने अड़ोस-पड़ोस से विरक्त हो चुका होता है। अपने गृहजीवन के प्रति वह किसी तरह के कवित्व की अनुभूति नहीं करता है। उसके लिए गांव के नजारे आदि एक मुहरबन्द पुस्तक मात्र हैं। उसकी अपनी सभ्यता उसके समक्ष अल्पमतित, बर-बर, अंधविश्वासी और सभी अर्थों में बेकार व नकारा बता कर प्रस्तुत की जाती है। उसकी शिक्षा उस के समक्ष बेकार और नकारा बता कर परोसी जाती है। उसकी शिक्षा का हिसाब इस तरह बैठाया जाता है कि वह अपनी परम्परागत संस्कृति से विमुख हो जाए। यदि विशाल संख्या में पढ़े लिखे युवाओं को पूरी तरह राष्ट्रीय भावना से हीन न किया जा सका तो वजह यह है कि प्राचीन संस्कृति उन में इतनी गहराई तक रची-बसी है कि उसकी जड़ों को उसके विकास के विरुद्ध रची गई शिक्षा के द्वारा उखाड़ा ही नहीं जा सकता है। यदि मेरी मर्जी चलती तो निश्चित ही मैंने वर्तमान पाठ्यपुस्तकों में से अधिकांश को नेस्तनाबूद कर दिया होता और ऐसी पाठ्यपुस्तकों को लिख दिया होता जिनमें गृहजीवन की पकड़ और समीचीनता होती, ताकि बच्चे को ज्ञानार्जन करते हुए अपने निकटतम पड़ोस के प्रति संवेदन शील रहने की क्षमता मिलती।"

यह वक्तव्य आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना यह अस्सी वर्ष पूर्व था। हमारे शिक्षा प्राप्त युवाओं ने अपनी मातृभूमि, अपने गांव, अपने कुटुम्ब और अपने राष्ट्र से बौद्धिक और भावनात्मक हानि झेली है। यदि हम केवल मात्र दकियानूसी मुहावरों तथा व्यावसायिक रूप में स्वीकार्य कथनों एवं नीति संबंधी घोषणाओं पर

निर्भर रहे तो इस से किसी तरह का रूपान्तरण होने वाला नहीं है। अवहनीय अंतःप्राप्तियों द्वारा भी बहुत कुछ हासिल हो सकता है। इनमें से कुछ हैं

- ☐ विदेशी नजर आते और ऐसे असम्बद्ध पाठ्यक्रम के चंगुल से बच्चों को मुक्त किया जाए जो मानवीय प्राणी के रूप में बच्चे के विकास और परिवृद्धि के प्रति महत्व न देते हुए केवल मात्र प्राप्त किए गए अंकों पर केन्द्रित हो।
- ☐ शिक्षकों को सम्पूर्ण व्यावसायिकता से युक्त होना होगा तथा शिक्षकों को तैयार करने में डाक्टरों, कानूनविदों और प्रबंधन स्नातकों के समतुल्य दर्जा दिया जाए। इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में संसाधन उपलब्ध कराने में किंचित मात्र हिचक नहीं होनी चाहिए क्योंकि यह सब एक ऐसा महत्वपूर्ण विनिवेश होगा जिसके गुणातीत लाभ मिलेंगे।
- ☐ विरासत, मूल्यों, धर्मों के प्रति सचेतनता और सामाजिक संस्कृति तथा अर्थशास्त्र के संदर्भ में ध्यान केन्द्रित करना होगा। सामाजिक समीकरण स्थापित करने, उत्थान व जागृति के हनन का नाश तथा श्रेष्ठ मानवीय गुणों तथा रचनात्मक प्रतिभाओं की परिवृद्धि को सुनिश्चित करने के अवसर उपलब्ध कराए जाने अनिवार्य हैं।
- ☐ बच्चों को एक ओर तो संघर्षों व तनावों का तथा दूसरी ओर प्रदूषण, पर्यावरण के विनाश, नशीली दवाओं, एड्स आदि का सामना करने हेतु तैयार किया जाना होगा। वास्तविकताओं से युक्त किसी पाठ्यक्रम को यथार्थ से मुकाबला करने में संकोच नहीं होना चाहिए। फैसला करने वालों, पाठ्यक्रम विकसित करने वालों, पाठ्यपुस्तकें लिखने वालों, अध्यापकों को शिक्षा देने वालों तथा अध्यापकों और शासनकर्ताओं को, यदि वे मशेलकर के द्वारा प्रतिपादित उस पांच सूत्री रणनीति का अनुसरण करें जिसे उन्होंने पुणे में जनवरी सन् 2000 के भारतीय विज्ञान कांग्रेस के अधिवेशन के अपने भाषण में रखा था। इस रणनीति के अस्त्र थे :
    - महिला केन्द्रित परिवार,
    - बाल केन्द्रित शिक्षा,
    - मानवीयता केन्द्रित विकास,
    - समुदाय केन्द्रित समाज और
    - अभिनव परिवर्तनशील भारत।

उक्त का अनुसरण निश्चय ही एक ऐसी देशज प्रणाली तक पहुंचाएगी जिसकी जड़ें भारतीय संस्कृति में गहरी पैठ रखती हों और जो प्रगति की दिशा में अन्यों से सममूल्य आधार पर बचनबद्ध हों। ☐☐

36

स्कूली शिक्षा में गुणवत्ता

बीसवीं सदी शेष हो चुकी है। उसकी अनेक धरातलों, पक्षों और उपलब्धियों के बारे में भावी वर्ष अब विश्लेषण में जुटेंगे। वर्तमान काल-खंड में विगत एक सौ वर्षों पर फैसला देना अभी बहुत जल्दी करने का वायस होगा। उपलब्धियों और असफलताओं को सूचीबद्ध करने में, जब कभी भी ऐसे प्रयत्न होंगे, विधियां अथवा प्रणालियां अलग-अलग होंगी। विश्व स्तर पर यह स्वीकार्य है कि मानवीय चेष्टाओं के प्रत्येक क्षेत्र में बहुत कुछ हुआ है और वह भी पिछले सभी काल-खंडों की तुलना में कहीं अधिक तीव्र गति से घटित हुआ है। विश्व के अनेक भागों में उन्नत्ति और खुशहाली प्रत्यक्ष देखी जा रही है। अन्योन्य क्षेत्रों में यह उसी मात्रा में दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। प्रगति और विकास के फल का उपभोग समानता के साथ नहीं हो रहा है। ऐसे पृथ्वी-खंड भी हैं जहा फासले विस्तार को प्राप्त हुए हैं, वहां धनवान और अधिक धन-कुबेर हो गए हैं तथा गरीब और भी गरीब हो गए हैं।

तिस पर भी, इक्कीसवीं शताब्दी का स्वागत करते हुए मानव जाति को आशा और अपेक्षा प्रदान करने के लिए बहुत कुछ तो है ही। विश्वव्यापी स्तर पर प्रारम्भिक शिक्षा की उठती लहर, सम्भवतः, बींसवी शती का सबसे महान अंशदान सिद्ध होगा। यद्यपि सम्पूर्ण रूप में इसे नहीं प्राप्त किया जा सका है, फिर भी इस दिशा में सार्वलौकिक प्रयत्न प्रभावोत्पादक और सर्वांगीण रूप में चल रहे हैं। एक ऐसे संसार में, जो आधारभूत रूप में मुठ्ठी भर 'अस्तिमन्तों', और बेशुमार 'नस्तिमन्तों' के बीच अत्यन्त बेतुके रूप में फटी पड़ी है, जिसमें तनाव, विभिन्नताएं, अलगाववाद, हिंसा, आतंकवाद और इसी प्रकार के अन्य अभिशाप एक भयावह दृष्टिपटल प्रस्तुत कर रहे हैं, इन हालातों में एकमात्र शिक्षा ही आशा या सहारा दे सकती है। शांति, समरसता और सांझापन की संस्कृति में शिक्षा असीम अंशदान दे सकती है। बीसवीं सदी ने अत्यन्त स्पष्टता पूर्वक मानवजाति को यह संकेत कर दिए हैं कि सार्वलौकिक शांति प्राप्त करने हेतु अपने सभी प्रकार के प्रयत्न झोंक दें, क्योंकि, फिर दूसरा, एकमात्र विकल्प जो शेष रह जाता है वह है धरती के आंचल से समस्त मानवता का सर्वनाश!

आवृत्तियों, समस्याओं और चुनौतियों के जवाब देने में मनुष्य सुलभ युक्तियां

असीम और अनंत हैं। माना जाता है कि आदमी का मस्तिष्क और क्षमताएं अभी भी विकास के दौर में हैं। भविष्य में मनुष्य जाति काफी उन्नत मानसिक और आध्यात्मिक क्षमताओं से युक्त हो सकती हैं, जो समरसता और शांति को सुनिश्चित बनाने हेतु आवश्यक मार्ग, साधन और दांव-पेच प्राप्त कर सकें, इस प्रकार के उद्भव को हासिल करने के लिए यह आवश्यक है कि हर एक व्यक्ति तक शिक्षा के क्षितिज व आवश्यक साधन पहुंचाए जाएं, ताकि एक ऐसे सम्मानजनक और स्वच्छ जीवन को अपनाया जा सके जो समाजों और सामाजिक मूल्यों के लिए समर्पित हो।

शांति के लिए और शांति की संस्कृति के लिए शिक्षा को राष्ट्रों द्वारा अपनाया भी जा रहा है तथा स्वीकार भी किया जा रहा है, सब से अधिक विश्व की शिक्षा प्रणालियों के द्वारा। अनिवार्यताओं और अलिप्तताओं अथवा निर्लेपताओं को अपने सही परिप्रेक्ष्य में समझे जाने की आवश्यकता है। भारतवर्ष में सामाजिक समरसता चारित्रिक और नैतिक मूल्य तथा समाज के प्रति वचनबद्धता, ये सब सामाजिक-सांस्कृतिक प्रमाणांक माने जाते हैं। इन मानदंडों को वर्तमान में उभर रहे सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में नियुक्त शिक्षा समीतियों व आयोगों की रपटों में उजागर किया जा चुका है। स्वर्गीय डा. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में गठित विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49) ने भारत में शिक्षा के बारे में एक व्यापक दृष्टि अपनाई और उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र में, जो कि आयोगादेश भी था, धार्मिक तथा आचरण सम्बन्धी शैक्षिक विषय-सामग्री के बारे में महत्वपूर्ण सिफारिश की। भारत के एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र होने के प्रसंग में तथा इस सन्देह रहित संकेत पर भी गौर किया कि राज्य के कोष से पोषित होने वाली शैक्षिक संस्थानों में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा उपलब्ध नहीं कराई जा सकती। इसके बाद भी इस आयोग ने यह अत्यन्त रोचक अभिस्ताव रखा कि "जब तक अच्छे आचरण को वृहद् भाव में नहीं लिया जाएगा तब तक यह सब पर्याप्त नहीं होगा। अपने संस्थानों में आध्यात्मिक प्रशिक्षण देना यदि हमने छोड़ दिया तो हमें अपने समूचे ऐतिहासिक विकास के सन्दर्भ में झूठा बनना पड़ेगा।" अपने तर्क को और मजबूत बनाने हेतु कमीशन ने सन् 1945 के उस दस्तावेज़ के उद्धरण भी प्रस्तुत किए जिसे भविष्य में ब्रिटिश सैकेन्डरी स्कूलों के नियमनार्थ मूल्यों को अपनाए जाने का सुझाव भी था : "हमारा विश्वास है कि सत्य और सौन्दर्य तथा कल्याण के उन आदर्शों की पहचान करने में शिक्षा पीछे नहीं रह सकती है जो सदा सर्वदा के लिए सभी स्थलों पर मौलिक मूल्यों के रूप में अंतिम व अपरिहार्य हैं। हम स्वीकार करते हैं कि उसकी स्वयं की प्रकृति से शिक्षा की उन मूल्यों सहित परिकल्पना की जाती है कि जो समयातीत और किसी खास तरह के वातावरण से मुक्त हैं। ....शिक्षा के सन्दर्भ में ऐसे कोई भी कार्यक्रम स्वीकार्य नहीं हो सकते हैं जो केवल सापेक्ष निमित्त के लिए आत्मकेन्द्रित रहें और जो व्यक्ति के चारों ओर के परिदृश्य से मेल न खाते हों।"

दो अन्य बड़े विकास परिणाम भी रहे, अर्थात् 1952-53 का सैकेन्डरी शिक्षा आयोग तथा 1959 की धार्मिक तथा आधार अनुदेशन समिति, इन दोनों समितियों ने धार्मिक तथा चारित्रिक अनुदेशन तथा इन विषयों की मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन चरित्र को संवर्धित और परिवृद्धि प्रदान करने में अदा होने वाली भूमिका पर भी जोर दिया जो समाज को अपना सद्प्रभाव प्रदान करते हैं। श्री प्रकाश कमेटी (1959) ने शैक्षिक संस्थानों में चारित्रिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा के बारे में व्यावहारिक महत्व के खास प्रकार के प्रस्ताव किए। इस कमेटी ने महान धार्मिक विभूतियों के जीवन-वृत्तों और शिक्षाओं और उनके धर्मों के दर्शन को शामिल करने, जनसंचार माध्यम से जन्मजात समाजों में सभी धर्मों के आधारभूत विचारों तथा महान धार्मिक प्रवर्तकों के जीवन के सारतत्व को स्थापित करने के उद्देश्य को शिक्षा के क्षेत्र में शामिल किए जाने की अभिलाषा की। इस समिति ने अंतर-धार्मिक समझ बनाने हेतु प्रवचन कार्यक्रमों के आयोजन किए जाने की भी प्रस्तावना की और यहां तक कि यह इस सीमा तक सुझाव देने में पीछे नहीं रही कि सहकार व सहयोग की भावना, क्रियाशीलता और एक-दूसरे के प्रति आदर-भाव सीखने में विद्यार्थियों को प्रेरित करने हेतु अनिवार्य शारीरिक अभ्यास की व्यवस्था हो। शिक्षा कमीशन (1964-66) जिसके अध्यक्ष प्रोफेसर डी.एस. कोठारी थे, ने अत्यन्त गहराई तक पहुंच कर सभी धर्मों के आचार शास्त्र संबंधी शिक्षाओं की सहायता से सामाजिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक मूल्यों के परिवर्धन हेतु सचेत उद्यम किए जाने की प्रस्तावना की। श्री प्रकाश कमेटी के ज्ञान बोध के संबंध में व्यक्त की गई धारणा को कोठारी कमीशन ने तोला। परिणामस्वरूप इस कमीशन ने प्रत्यक्षतः एक अधिक स्वीकार्य मार्ग अपनाया और निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत कीं

- ☐ केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें नैतिक सदाचार और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा की शुरुआत के लिए ऐसे उपाय करें जो सैकेन्डरी शिक्षा आयोग तथा श्री प्रकाश कमेटी द्वारा अनुशंसित किए गए प्रस्तावों के अनुरूप हों।
- ☐ नैतिक अनुदेशन के लिए कुछ 'पीरियड' अलग से निश्चित हों।
- ☐ विश्वविद्यालय के तुलनात्मक धर्म शिक्षा विभागों को समग्र एवं प्रभावकारी रूप में इन मूल्यों शिक्षण की विधि के प्रति तथा साथ-साथ विद्यार्थियों और शिक्षकों के उपयोगार्थ तत्संबंधी साहित्य का निर्माण करने में ध्यान केन्द्रित रखना होगा।

लागू करने की रणनीति के तहत आयोग ने यह बात बिल्कुल स्पष्ट कर दी है कि वह धर्मों के बारे में शिक्षा का प्रस्ताव कर रहा है न कि धार्मिक शिक्षा का। ये लक्ष्य एक पाठ्यक्रम की अन्तरवस्तु या अध्ययन सामग्री को विकसित करके, जिसमें सभी धर्मों की मूल समानताएं शामिल हों तथा समान चारित्रिक और आध्यात्मिक मूल्यों को रोशनी में ला कर, पूरे किए जा सकते हैं। श्री प्रकाश कमेटी ने एक

उपाय के रूप में यह प्रस्तावना की कि किताबों की व्यवस्था का कार्य शिक्षा मंत्रालय के अधीन केन्द्रीय एजेन्सी करे। कोठारी कमीशन ने यह भी मन्तव्य दिया कि यह कार्य एक कमेटी की देख-रेख में निष्पादित हो ताकि यह सुनिश्चित रहे कि किसी भी धर्म के सम्बन्ध में कुछ भी आपत्तिजनक नहीं किया गया है। इस से यह संकेत भी मिलता है कि प्रत्येक कमेटी और आयोग ने अनेक धर्मों, रीतियों और विश्वासों वाले भारतीय समाज की जटिल बनावट व विजातीयता को ध्यान में रखा।

नीति कोण

लगभग प्रत्येक कमेटी और आयोग ने शिक्षकों की भूमिका के गुण-दोष को माना है और परिणामस्वरूप शिक्षकों को प्रशिक्षित करने वाली संस्थाओं को भी। सन् 1981-82 में, शिक्षक प्रशिक्षण आयोजनों को केन्द्र में रखकर किरीट जोशी के सभापतित्व में मूल्य-वर्धित शिक्षा के उद्भव की दृष्टि से एक प्रतिवेदन तैयार किया गया। इस समिति की प्रस्तावनाएं अधिकांशतः पूर्व में प्राप्त किए गए विचारों के अनुरूप ही थीं। इस समिति ने विशेष रूप में प्रत्येक शिक्षक को मूल्य-वर्धित शिक्षा देने वाले शिक्षक के रूप में मानते हुए तथा सभी विषयों को, प्रत्येक विषय, अनुभाग और इकाई को समझे जाने की दिशा में, खास कर मूल्य शिक्षा में पांडित्य प्राप्त किए जाने की दिशा में प्रकाश डाला।

शिक्षा के क्षेत्र में एक अन्य बड़ी घटना थी 1990 की रामामूर्ति कमीशन की रपट। इस प्रतिवेदन ने भारतीय शिक्षा प्रणाली को उस की स्वदेशी जड़ों से जोड़ने और पाठ्यचर्या सामग्री को बच्चे के वातावरण के अनुरूप विकसित किए जाने पर जोर दिया। इस कमीशन ने भारतवर्ष के गौरव को आंकने और उसकी सांस्कृतिक विरासत व पीढ़ियों से संवर्धित होता चला आ रहा ज्ञान का उत्तरदान तथा मनुष्य के लाभ के लिए पीढ़ी दर पीढ़ी हो रहे उसके उपयोग के यथार्थ को ग्रहण किए जाने की बात को आग्रहपूर्वक सामने रखा। हाथों से कार्य करने पर जोर देना, भावनात्मकता के सन्दर्भ में स्थिर रहना तथा शांति, आत्मीयता तथा एक ही लक्ष्य के लिए मिलजुल कर काम करने की भावना को अन्तः स्थापित करने पर भी जोर दिया है। यद्यपि यह रपट राजनैतिक परिवर्तनों की भूल-भुलैया में लापता हो चुकी है। सन् 1986 और 1992 की शिक्षा पर राष्ट्रीय नीति ने गुणवत्ता वाली शिक्षा की आवश्यकता पर निम्नलिखित प्रस्तावनाएं कीं

"अनिवार्य गुणों के ह्रास के बारे में बढ़ रही चिंताएं तथा समाज में वृद्धि को प्राप्त हो रही कुंठा और हृदय हीनता ने पाठ्यचर्या में पुनः क्रमानुकरण की आवश्यकता पर ध्यान केन्द्रित कर दिया है ताकि सामाजिक एवं सदाचार सम्बन्धी मूल्यों की काश्त लेने के लिए वह शिक्षा को एक सशक्त उपकरण बना सकें। सांस्कृतिक रूप

से बहुसंख्य हमारे समाज में, हम लोगों की एकता और अखंडता के उद्भव की दिशा में विश्वव्यापी और शाश्वत मूल्यों को शिक्षा के माध्यम से सुपोषित करना होगा। इस प्रकार की गुणवर्धक शिक्षा सुधार विरोधिता, धमोन्माद, हिंसा, अन्धविश्वास और भाग्यवाद को जड़ से उखाड़ फैंकने में सहायक होगी।

इससे अलग, मूल्य शिक्षा में एक अत्यन्त दृढ़ तत्व है जो हमारी वंश-परम्परा, हमारे राष्ट्रीय तथा सार्वभौम लक्ष्यों तथा हमारी बोधगम्यता पर आधारित है। इसे इस पक्ष में प्रारंभिक दबाव हासिल करना होगा।"

मूल्यों का सर्जन करने वाली शिक्षा सदैव ही शिक्षाविदों, सामाजिक सुधारकों, उपदेशकों, विद्वानों, संतों और प्राज्ञ लोगों का एक प्रिय विषय रहा है। गांधीजी ने प्रत्येक के कर्म और विचार की परिपूर्णता तथा शांति, खुशहाली व प्रगति को सुनिश्चित बनाने के लिए सत्य और अहिंसा के दो स्तंभों के रूप में पहचान की थी। प्रत्येक से सर्वोत्तम को प्राप्त करना ही गांधीजी की वास्तविक शिक्षा थी। उसे ही प्राप्त करने हेतु 'मानवता की पुस्तक से बढ़ कर और कौन-सी पुस्तक हो सकती है, अपने अनेक स्तरों के लेखों और भाषणों के स्थलों में वे शिक्षा के सन्दर्भ में अपने विचारों का विस्तृत प्रतिपादन करते रहे थे।

गांधीजी का तत्वबोध

गांधी जी के लिए हर एक व्यक्ति महत्वपूर्ण था और वह मानवता एवं समाज के लिए अत्यन्त असीम योगदान कर सकने में सक्षम था। उन्होंने शिक्षा के सन्दर्भ में विस्तृत लेख लिखे और भारत में शिक्षा की आवश्यकताओं के बारे में क्या उपयुक्त है, इस बारे में उनका वस्तुबोध इन लेखों में मौजूद रहे। उनके लिए ऐसे शैक्षिक-आदर्श विकसित किए जाने जरूरी थे जिनके मूल भारतीय मिट्टी में हों और जो पीढ़ियों पुरानी परम्पराओं से तथा पिछले अनुभवों से भविष्य की ओर भी दृष्टि कायम रखते हुए, अपनी शक्ति अर्जित करते रहें। चरित्र निर्माण उनकी योजना के पक्षों में एक विषम पक्ष था और उन्हें नहीं सूझ पा रहा था कि इसे बिना धर्म के कैसे सार्थक किया जा सकता है। उन्हें चिंता यह थी कि हम उस अवस्था पर आ रहे हैं जहां पर हम परम्परागत और सांस्कृतिक रूप में भारतीय होने की अपनी पहचान खोते जा रहे हैं और उस नए रूपों को, जो एक विदेशी प्रणाली है, अपना नहीं पा रहे हैं। चरित्र निर्माण को यदि नहीं अपनाया गया तो सामाजिक-सांस्कृतिक आंचल को भारी क्षति का मुंह देखना पड़ेगा। चरित्र निर्माण को वे आन्दोलनों और संघर्षों के आह्वानों का आधार मानते थे, न केवल विदेशी शासन के विरुद्ध अपितु अज्ञानता, निरक्षरता और निर्धनता के विरुद्ध भी। उनके लिए मस्तिष्क में सूचनाओं, वास्तविक तथ्यों को और आंकणों को ठूंस देना मात्र ही वास्तविक शिक्षा नहीं थी या पाठ्यक्रम में निर्धारित संख्या में पुस्तकें पढ़ कर परीक्षा में सफल हो जाना मात्र ही उनके

लिए शिक्षा नहीं थी। उपयुक्त चरित्र का निर्माण ही उनके लिए सही शिक्षा थी। अहिंसा की खोज और सम्भावनाएं भी बिना चरित्र के किसी लाभ की नहीं होंगी।

अपने लेखों में गांधीजी ने शैक्षिक धारणाओं के सन्दर्भ में अनेक स्थलों पर विस्तृत और व्यापक उल्लेख किया। उनके लिए शिक्षा वह थी जो 'हमें आत्मा को जानने में मदद करती है, हमारे यथार्थ, परमात्मा और सत्य को जानने में सहायक होती है।' उनकी अभिलाषा थी कि ज्ञान की प्रत्येक धारा का लक्ष्य स्वआत्मबोध हो। अपने आश्रम में उन्होंने जो गतिविधियां चरितार्थ कीं उनमें से अनेक गतिविधियों का लक्ष्य यही था। ये गतिविधियां उनके लिए यथार्थ शिक्षा थीं। जब कार्यकलापों का संचालन निजात्मा के ज्ञान का जिक्र किए बिना किया जाता है तो वे आजीविका का साधन हो जाते हैं, न कि शिक्षा के। सच्ची शिक्षा का हमेशा ही अपने अर्थ के उचित बोध का अर्थ देना रहा है, अर्थात् कर्त्तव्य के प्रति प्रतिबद्धता और सेवा-भाव यह मनुष्य मात्र को मुक्ति प्रदान करती है और उन्हें मूल्यों तथा जीवन के श्रेष्ठतम पक्षों को संजो कर रखने की शक्ति देती है।

महात्मा गांधी की शिक्षा पर केन्द्रित मान्यताएं अनिवार्य रूप में आचार-व्यवहार के गुणों और नीतिशास्त्र पर केन्द्रित रहीं। ये प्रत्येक व्यक्ति के आत्मसम्मान को उजागर करते हैं। उनका आदर्श था कि वह जो कर रहे हैं उसका ही वे उपदेश भी दें। शिक्षा अनिवार्य रूप में प्रत्येक मानव प्राणी के द्वारा उत्तरदायित्वों को अपने अंतस में अपनाए जाने के उस लक्ष्य तक ले जाए कि प्रत्येक मनसा, वाचा, कर्मणा श्रेष्ठता को प्राप्त हो। एक बाहुल्यपूर्ण समाज में, शिक्षा के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह व्यक्ति को विभिन्नता का उत्सव मनाने में भी सहायता दे और साथ-साथ सहज एकता के मूल्यों और दूसरों को एक समर्पित जीवन जीने में भी।

भारतीय संस्कृति में अत्यन्त सुपरिचित संदेशों में से एक है दूसरों के उद्धार के निमित्त जूझ जाना, वह 'प्रार्थना' कि 'समस्त प्राणी सुख में, स्वास्थ्य में और खुशहाली में रहें। विश्व के किसी भी अन्य क्षेत्र में इस प्रकार के विचार-सार की विधि जो दूसरों के योगक्षेम का ठोस लक्ष्य हो, भारत से पहले नहीं थी। पहले के भारतीय धर्म-शास्त्र प्रत्येक को दूसरों की सेवा करने, दूसरों के लिए बलिदान कर देने और मानव मात्र की सेवा करने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार के मार्ग का यदि बच्चों को उनके प्रारम्भिक वर्षों में ही परिचय करा दिया जाएगा तो इसका सदाजीवी प्रभाव होगा और जब बच्चे बड़े होंगे और अपने चारों ओर के संसार का सामना करेंगे तो तब तक बीते समय के साथ उनके विचार भी परिवृद्ध हो चुके होंगे। एक ऐसे विश्वान्तर परिदृश्य में जहां मूल्य नष्ट हो चुके हों, उस समय समाज में ऐसे लोगों का मिलना कठिन हो जाएगा जो मूल्यों की बिगड़ती दशा को रोकने के लिए तत्पर हों, बशर्ते, जब तक विद्यालय उचित लक्ष्यों तथा मानवीय जीवन के उद्देश्यों से युक्त नौजवानों को न पैदा कर दें। इस तथ्य से यह स्पष्ट संकेत

मिलता है कि आने वाले वर्षों में पाठ्यचर्या का स्वरूप कैसा होगा और वह समाजों में, धर्मों में, राष्ट्रों में तथा साथ ही सार्वभौम रूप में शांति की संस्कृति का विकास कर सकने में कैसा योगदान दे सकेगा। शिक्षा के लिए आवश्यक है कि वह शिशु को पास-पड़ोस, पर्यावरण, प्रकृति की सौन्दर्य-राशियों तथा उसके चारों ओर होने वाली घटनाओं का बोध जीवों के माध्यम से, उनके अनेक रूपों, स्तरों और सज्जा सहित शिशु के प्रारम्भिक काल में ही आरम्भ कर दें। धीरे-धीरे वे भाषा से परिचित हो लेंगे, गणित और शिक्षा के सामाजिक और वैज्ञानिक पक्षों के बारे में जान लेंगे जिन्हें आज के परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किए रहना जरूरी है। केवल निर्धारित परीक्षाओं के विषय क्षेत्रों पर केन्द्रित रहने के रुझान का परित्याग कर दिए जाने की आवश्यकता है।

शिक्षा के ध्यान-केन्द्र को एक ऐसे व्यक्ति के निर्माण के लिए बदलना होगा जो न केवल सूचना और ज्ञान से योगदान कर सके अपितु मानव विकास और स्तर-वर्द्धन की अनन्त काल से उद्भावित प्रक्रियाओं को समझने और इस बारे में अंतरदृष्टि बनाने में भी योगदान दे सके। केवल मात्र ऐसा ही व्यक्ति सामुदायिक जीवन तथा साथ ही व्यक्ति की गुण-धर्मिता को बढ़ाने में फलदायी भागीदारी कर सकता है। गांधीजी के प्रयत्न अंग्रेजी शासन के खिलाफ संघर्ष तक सीमित नहीं थे। उनके लेखों के विस्तृत अवलोकन से ज्ञात होता है कि व्यक्ति के स्तर पर तथा साथ ही सामाजिक, सामुदायिक और राष्ट्रीय स्तर सहित वे व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पक्ष का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बहुत पहले से ही उनके पास ऐसी स्वदेशी शिक्षा प्रणाली तैयार थी जो बच्चों को उनके अड़ोस-पड़ोस से, उनके लोगों से तथा समस्त भारत से उनका अपनी जन्मभूमि के रूप में परिचय कराने वाली थी।

भविष्य-सम्भाव्यताएं

स्कूली पाठ्यक्रम की विषय-वस्तु को देशज होना तथा अध्यापक और विद्यार्थी दोनों की ही समझ के दायरे के भीतर होना जरूरी है। अध्याय का समझना और समझाना केवल निर्धारित पाठ्यपुस्तकों से लेकर बच्चों तक सूचना प्रेषित कर देने भर तक सीमित न हो, बल्कि पाठ्यचर्या को स्कूली शिक्षा के प्राथमिक स्तर से ही स्वयं अड़ोस-पड़ोस से विकसित करने की क्षमता को विकसित करने वाला हो। इस प्रकार का परिचालन विकसित करने में, गुण-वर्धन तथा चारित्रिक एवं सदाचार सम्बन्धी शिक्षा पर विशेष दवाब डाले जाने की विषमता को प्रत्येक और सभी इकाइयों तथा गतिविधियों का अविच्छिन्न भाग बनना होगा। महाकाव्यों, पुराणों और इतिहास से छोटी-छोटी कथाएं लेकर, जो उस अवस्था के अनुरूप हों और गुण-ग्रहण से जुड़ा हो, तरुण विद्यार्थियों में रुचि का संचार करेंगी और सांस्कृतिक उत्थान तथा परम्परा

से बच्चों को परिचित कराएंगी। यह विधि अन्य समुदायों की संस्कृति और विरासत के बारे में भी जानकारी प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करेगी। शनैः-शनैः यह विभिन्न धर्मों, भाषाओं और संस्कृतियों तथा उन रीति-रिवाजों की भिन्नता के प्रति आदरभाव विकसित करेंगी जो विद्यार्थी के अपने पारिवारिक वातावरण से अलग हैं। न केवल प्रारम्भिक शिक्षा को विश्व व्यापक बनाने हेतु बल्कि विज्ञान की शिक्षा को उस प्रौद्योगिकी सहित जो दिन-प्रतिदिन सभी तरह की अपेक्षाओं व विकास का आधार बनती जा रहीं है, को विश्वव्यापी बनाने के यही अवसर हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शिक्षा को प्राप्त करने का उद्देश्य उस वैज्ञानिक मिजाज को विकसित करने का होना चाहिए जो तर्कसंगत हो और विभिन्न मुद्दों, घटनाओं तथा अवस्थाओं की मान्य व्याख्या कर सके। ज्ञान उपार्जन के लिए आवश्यक है कि वह सामाजिक, समरसता, सहभागिता और एक समूह के रूप में कार्य करने की स्वेच्छा की अवस्था तक पहुंचाए। उसे दूसरों के साथ मिलकर कार्य-संपादन की अन्तरेच्छा उत्पन्न करने वाला होना होगा। विद्यालयों के लिए जरूरी है कि वे अनेक रूप में समुदायों के बीच पारस्परिकता स्थापित करें, विशेषकर इस प्रकार की प्रेरणा को बच्चों में डालकर। व्यक्ति तथा समुदाय शिक्षा को भविष्य में अधिकाधिक महत्व देंगे। वे उन उपलब्ध्यिों का विश्लेषण भी करेंगे जो उन्हें प्राप्त हो रही हैं । कुछ व्यवहार-बिन्दु इस दिशा में प्रभावी योगदान दे सकते हैं

- ☐ आवश्यक है कि निर्धारित पाठ्यक्रम की बाध्यकारी जंजीरों से बच्चे को मुक्त कर दिया जाए और शिक्षक तथा शिक्षार्थी को परिभाषित लचीलेपन के साथ मूल एकरूपता कायम रखने में राष्ट्रीय मार्ग निर्देशन का उपयोग लेते हुए स्कूली शिक्षा के प्राथमिक चरणों में अपनी स्थितिक अवस्थानुसार पाठ्यक्रम को ढालने की स्वतंत्रता दी जाए।
- ☐ धर्मों से उनके विभिन्न स्रोतों के माध्यम से गुणाचार प्राप्त करने को रेखांकित करने में होने वाले संकोच से उबरना होगा। भारतीय होने के आत्मसम्मान और अभिमान की भावना को विकसित करने के प्रयास करने होंगे और अन्य धर्मों और रीतियों का सम्मान करने की व्यक्ति की स्वयं की क्षमता को गहराई और मनन पूर्वक विकसित करना होगा।
- ☐ अंतरंगता की भावना को, विश्व की सभ्यता को प्रदान किए गए भारत के योगदान को केन्द्र पर रखकर, प्रत्येक व्यक्तिगत शिक्षार्थी में विकसित करनी होगी। यह एक महत्वपूर्ण अवसर है कि गणितशास्त्र, विज्ञानशाखाओं, समुद्री व्यापार, वैद्यक, व्यापार, वास्तुशास्त्र, मूर्तिकला, गुरुकुल अथवा ज्ञान उपार्जन की संस्थानों की स्थापना आदि के बारे में भारत के योगदान से शिक्षार्थियों को अवगत कराया जाए जिसके द्वारा वे राष्ट्र के प्रति अपनत्व की भावना को विकसित कर सकें, बीती हुई पीढ़ियों के प्रति सम्मान और

स्नेह व्यक्त करते हुए। इस से उन्हें महान भूमिका निभाने व उपलब्धियां प्राप्त कर के देश का गौरव बढ़ाने हेतु आत्मविश्वास उत्पन्न होगा।

- शिक्षकों को तैयार करने में उन्नति और प्रतिज्ञाबद्धता अवश्य सुनिश्चित की जाए। जहां अन्य अनेक उपक्रमों में स्वार्थपरता और भौतिक वृत्तियां चारों ओर प्रभाव फैला रही हैं, वहां यह प्रस्ताव कठोर अवश्य लगेगा। फिर भी, शिक्षकों की शिक्षा के अपने समूचे कार्यक्रम में यह आग्रह रहना जरूरी है कि मूल्य आधारित परिवृद्धि और विकास की प्रेरणा को केवल शिक्षक ही प्रदीप्त रख सकते हैं और दूसरों को अपने जीवन को पूरी तरह उत्तरदायित्व पूर्ण तथा उन मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध कर सकते हैं जो भारत के संविधान में संरक्षित हैं।

हमारी शिक्षा प्रणाली और स्कूलों व अन्य शिक्षण केन्द्रों के संचालन में जो तमाम असमर्थताएं, दोष और कठोरताएं जन्मजात रूप में मौजूद हैं उनका रूपान्तरण और पूर्ण सुधार करना शिक्षकों तथा समुदायों के संयुक्त प्रयत्नों से ही सम्भव हो सकता है। एक गुणों पर आधारित उपक्रम, शिक्षा प्रणाली और साथ ही शिक्षकों की शिक्षण-विधि के लिए मेरुदंड बन सकती है। शिक्षकों को शिक्षण प्रदान करने वाली संस्थाओं तथा उत्पादनशील विद्यालयों द्वारा प्रभावकारी और प्रत्यक्ष कदम शीघ्रातिशीघ्र बढ़ाए जाने की आवश्यकता है। इसके गुणात्मक प्रभाव विलक्षण होंगे।

□□

37

समझदार समाज में विद्यालय

विद्यालयीन शिक्षा की वर्तमान आकृति आगामी दस वर्षों के अन्तर्गत आज की शिक्षा से इतनी भिन्न हो जाएगी कि उसकी पहचान कर पाना भी सम्भव नहीं रहेगा। भविष्य के समाज की पुनराकृति की दिशा में परिवर्तन के शैक्षिक सन्दर्भ की भूमिका महत्वपूर्ण रहेगी। आज की नीतियां, व्यूहरचनाएं, कार्यक्रम और प्राथमिकताएं आगामी कुछ वर्षों में वृहद् परिवर्तन को प्राप्त हो सकती हैं। परिवर्तन का यह गतिक्रम शिक्षा के क्षेत्र सहित सभी क्षेत्रों में भविष्य की स्पष्ट अनुकृति मूर्त कर पाना असम्भव बना रहा है। तो भी, मानवीय प्रतिभा व कल्पना-शक्ति में एक उत्कंठा विद्यमान रहती है जो भविष्य का पूर्वानुमान लगाने और उस के लिए तैयार रहने की क्षमता उपलब्ध कराती है। प्रत्येक पीढ़ी को यह आश्वस्ति रहती है कि भविष्य और अधिक अच्छा, अधिक उज्ज्वल तथा और अधिक फलदायी सिद्ध होगा। आने वाला वह समय मानवीय जीवन की श्रेष्ठ और उन्नत गुणों व विशेषताओं को चरितार्थ करने वाला भी होगा। आने वाली पीढ़ी के हित एक श्रेष्ठतर संसार को सुनिश्चित करना तथा परिणामतः युवाओं को सानुसार तैयार करना प्रत्येक पीढ़ी का नैतिक व आधारभूत उत्तरदायित्व रहता है।

आने वाले समय का भारत एक ज्ञान केन्द्रित भारत होगा। एक ऐसे ज्ञानार्जन युक्त समाज के रूप में भारत अपनी स्पष्ट पहचान विकसित कर लेगा जो विविधता में एकता की शक्ति को तथा प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों के अधिकतम लाभ को चरितार्थ कर रहा होगा। एक कलह-क्लांत संसार में 'आत्मा' को शांति प्रदान करने वाली स्थली के रूप में आज समूचे संसार की दृष्टि भारत की ओर ही है। इस तथ्य को अब सार्वभौम रूप में अनुभव किया जा रहा है कि आध्यात्मिकता को गहनता और सम्पूर्णता में केवल मात्र भारत में ही समझा गया प्रतीत होता है। देश के समक्ष उभरता सब से बड़ा मुद्दा यह होगा कि क्या बढ़ते हुए भौतिकवादी रुझान भारत को बदल डालेंगे या फिर भारत शेष विश्व को भविष्य की उस पुनराकृति की दिशा में अपना मार्गदर्शन दे सकेगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समग्र वैभव और बोधि से युक्त दिखाई देगा। भौतिकवाद और आध्यात्मिकता के मध्य बढ़ते हुए संघर्ष को

आज सार्वभौमिक रूप में राष्ट्रों और 'यूनेस्को' जैसे संगठनों द्वारा भी स्वीकारा जा रहा है। भौतिक संसार के आकर्षण इतने दिलकश हैं कि उन्हें घिसे पिटे मार्गदर्शक उपदेशों मात्र से नहीं छुड़ाया जा सकेगा। अत्यधिक अनिवार्य होगा कि कल की शिक्षा प्रत्येक शिक्षार्थी को सांस्कृतिक रूप से मूल्यवान आभा प्रदान कर सके। एकमात्र यही विधि परिवार और समाज की संस्थानों की जड़ों और बुनियादों के प्रति सम्मान उत्पन्न कर सकती है। सामाजिक समरसता, दूसरों के रिवाजों, मान्यताओं और रस्मों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की क्षमता प्राप्त कर लेना तथा एक सुगठित समाज के विकास की दिशा में बढ़ना केवल मात्र ऐसी ही अवस्थाओं में सम्भव हो सकेगा।

आने वाले वर्षों के अन्तर्गत भारत में यहां की आबादी तीखी धार वाले वृत्त-खंडों में बंटे हुए होंगे। ग्रामीण एवं जनजातीय समुदायों का महानगरों और उपनगरीय क्षेत्रों की ओर पलायन बढ़ेगा। अन्य उपनगरीय क्षेत्रों की तुलना में मुख्य महानगरों पर पड़ने वाले दबाव कहीं अधिक उग्र हो जाएंगे। ग्रामवासियों तथा आदिवासियों द्वारा अपनी निजी पहचान बनाने के आग्रह एक कटिबद्ध आकांक्षा का रूप लिए हुए आने वाले वर्षों में विशेष रूप से आच्छादित रहेंगे। इस से अधिकाधिक तनावों अथवा उद्विग्नताओं में वृद्धि होने की सम्भावनाएं रहेंगी क्योंकि मानवाधिकारों के प्रति जागरुकता एवं अवसरों की उपलब्धता में समानता के सिद्धान्त सम्बन्धी आग्रहों में वृद्धि होगी। समाज में व्याप्त संघर्ष और तनाव शांति और सामाजिक समरसता के लिए शिक्षा की आवश्यकता को उजागर करेंगे। विश्वव्यापी स्तर पर शिक्षा की एक बड़ी चिंता होगी – शांति सुलभ कराने वाली शिक्षा। शांति की संस्कृति की स्थापना के लिए अपनी स्वयं की सांस्कृतिक पहचान को समझना और उसका सम्मान करना आवश्यक होगा।

शिक्षा जागरूकता का संचार करती है और प्रत्येक मनुष्य को जानकारी प्राप्त करने, परिवर्तनों के सन्दर्भ में और वृहद् परिचय प्राप्त करने तथा एक प्रभावशाली नागरिक बनने में व्यक्ति को उस की निजी क्षमता की अनुभूति कराने के औजार प्रदान करती है। परिवर्तन के उमड़ते हुए उस बवंडर में युवा-वर्ग की मौजूदगी अत्यन्त प्रभावी रहेगी। वास्तव में युवाओं को 'अनुपयुक्त' करार दिए जाने की बुजुर्ग पीढ़ी की बार-बार दुहराई जाने वाली पुरानी कहावत और अधिक विशिष्ट बनेगी। बढ़ते हुए पीढ़ियों के परस्पर सघर्ष बढ़ेंगे जिनके निराकरण अथवा समाधान के लिए शिक्षा प्रणाली को ही आगे आना होगा।

आबादी में वृद्धि को और अधिक पाठशालाओं, अधिक विशाल व्यवस्थात्मक तानाबाना और अधिक शिक्षकों की दरकार रहेगी। संसाधनों की न्यूनता एवं अपर्याप्तता के कारण निम्न क्षमता के शिक्षकों को नियुक्त करने की योजनाएं और कार्यक्रम बढ़ेंगे और इस पर नियंत्रण रख पाना साध्य नहीं होगा। निम्न श्रेणी के शिक्षक और निम्न स्तर की शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएं अन्ततोगत्वा विद्यालयी शिक्षा की समूची

गुणवत्ता को ग्रस्त कर लेगी और इसलिए इसके परिणामकारी प्रभाव उच्च शिक्षा पर भी पड़ेंगे। आबादी में हो रही वृद्धि असंतुलित रहेगी। कमजोर समुदायों के लोगों और अशिक्षित लोगों को उन लोगों की तुलना में जो पढ़े-लिखे हैं, जागरूक हैं और उच्चतर आर्थिक कोष्ठक की श्रेणी में हैं, कहीं अधिक कष्ट उठाने पड़ेंगे। निरक्षरता, निपढ़ता, शिक्षा का तुच्छ स्तर और अनुत्पादी व निराश्रयी शिक्षा प्रबंधन के मुद्दों को दृष्य पटल से लुप्त होने में अभी समय लगेगा। लोक-शिक्षा और आबादी की वृद्धि से सम्बद्ध विचारणीय विषय के प्रति युवाओं को सजग अथवा सावधान करने के प्रयासों के साथ-साथ मूल्यों और लोगों के रुख में बदलाव लाने की जरूरत रहेगी। यह एक कठिन प्रस्ताव है किन्तु इस से गम्भीरतापूर्वक निपटना होगा ही।

कृषि के क्षेत्रों में भी दबाव बढ़ेंगे। कृषक समाजों में से भारी संख्या में समूहों का नगरों और उप-नगरों में पलायन होगा। इस के कारण सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्षों से सम्बद्ध अनेक समस्याएं सिर उठाएंगी। ये लोग जब अपने पैत्रक स्थानों को लौटेंगे तो लगभग भारत के प्रत्येक ग्राम में सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रवृत्ति का संचारण गतिमान हो जाएगा।

सूचना को ज्ञान में रूपान्तरित करने और उस ज्ञान को व्यवहार में लाने के कौशल को प्राप्त करने की आवश्यकता के फलस्वरूप विद्यालय की भूमिका सर्वमान्यता व श्रेष्ठता अर्जित कर लेगी। शिक्षक तैयार करने हेतु अध्यापन विद्या प्रदान करने की विधि को बदलना होगा क्योंकि वर्तमान में प्रत्येक को एकमात्र सूचना के हस्तान्तरण पर ही पूरी तरह भरोसा करना होता है। जब कि भविष्य की अध्यापन शिक्षा न केवल सूचनाएं एकत्र कर के रखनी होंगी बल्कि मुख्य रूप में ऐसी सम्बद्ध सूचनाओं का छाजन भी करना होगा जो व्यक्ति के जीवन में ज्ञान का वर्धन या अभिवर्धन कर सके। पूर्वाकांक्षा यह होगी कि उत्तम श्रेणी के अध्यापक तैयार किए जाएं और मीडिया' प्राप्तियों सहित विभिन्न प्रशिक्षणिक, व्यूहरचनाओं तथा अंतर्निहित शिक्षण सुविधा द्वारा ऐसे शिक्षकों को संवर्धित और पूर्वीपन से युक्त रखा जाता रहे। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पाठ्यक्रम के निरन्तर नवीकरण के अभ्यास करने की आवश्यकता होगी, न केवल विद्यालयों के स्तर पर बल्कि शिक्षकों को प्रशिक्षण देने वाली संस्थानों में भी, क्योंकि मनुष्यमात्र को जीवन पर्यन्त ज्ञानार्जन करने के लिए तैयार करने, पूर्व में अर्जित की गई प्रतिभाओं को नवजीवित बनाए रखने और साथ ही नई प्रतिभाओं और निपुणताओं को अपनाने में उसे समर्थ बनाने हेतु एक व्यापक आधार वाली विद्या ही लक्ष्य होगी। शिक्षकगण लेन देन करने वाले संस्थान के गुमाश्ता का कार्य-निर्वहन भी करेंगे, अपनी आसामियों को सूचना के सही सूत्र तक पहुंचाने का मार्ग दिखा कर। अपनी विश्वस्तता बनाए रखने के लिए प्रत्येक शिक्षक के लिए जीवन पर्यन्त ज्ञानार्जन करते रहना एक अनिवार्य योग्यता अथवा उपयुक्तता बन जाएगी।

भारत सहित सभी उन्नतिशील देश चौदह-प्रंद्रह वर्ष की आयु से नीचे के बच्चों को स्कूली शिक्षा सुलभ कराना सुनिश्चित बनाने के लिए विकल्पों के बारे में अनुसंधान कर रहे हैं। उच्चतर अथवा माध्यमिक स्तर की शिक्षा के लिए भी विकल्प उभर सकते हैं। भविष्य में औपचारिक शिक्षा देने वाले विद्यालयों को उन विकल्पों से प्रतिस्पर्धा लेनी पड़ेगी जो विकल्प उपलब्ध कराने वाले निजी उद्यमियों द्वारा प्रस्तुत किए जाएंगे। विद्यार्जन तथा शिक्षण के पारम्परिक किस्म के कार्यक्रमों का स्थान हो सकता है, ऐसे लोगों के द्वारा लिया जा सके जो किसी पाठ्यक्रम के गहन अध्ययन के माध्यम से शीघ्रता पूर्वक शिक्षा ग्रहण कर लेना सुनिश्चित बना लें।

सामाजिक ताने-बाने में लाए जाने वाले परिवर्तन, अर्थात्, न्यैष्टिक परिवार, अकेले माता या पिता, अविवाहित माताएं, संयुक्त परिवारों और उदासीन पड़ोसियों के प्रति स्कूली पाठ्यक्रम सम्बोधित हों। वैश्वीकरण तथा नई सूचना औद्योगिकी के साथ फासले सिकुड़ गए हैं किन्तु लोग परस्पर दूर हो गए हैं। परिवार एवं अपत्यक सम्बन्धों की प्रचंडता और साथ-साथ रहने की फिजा घट जाएगी। परिवार की भूमिका भी विद्यालयों में ही स्थानांतरित हो जाएगी। दीर्घायु जीवन का परिणाम होगा एक बूढ़े होते समाज का विस्तार और वृद्धों की सेवा-टहल। विद्याध्ययन एवं विकसित होने की प्रक्रिया महत्वपूर्ण प्रकरण बन कर खड़ी होंगी। नशीली दवाओं, एड्स, शराबखोरी, आतंकवाद तथा हिंसा आदि के सन्दर्भ में विद्यालयों में उपयुक्त तैयारियां करने की आवश्यकता होगी ताकि युवा लोग जीवन और जीवनध्यापन की वास्तविकताओं का उपयुक्त रूप से प्रबन्धन कर सकें।

'यूनेस्को' ने 'इक्कीसवीं सदी में शिक्षा' पर एक स्वतंत्र आयोग की नियुक्ति की। आयोग की 'रपट' में शिक्षा के ऐसे क्षेत्रों की पहचान की गई है जिसकी ओर ध्यान देने की जिम्मेदारी समस्त संसार के शिक्षा तंत्रों पर है। भारत में, महानगरों व उपनगरों के क्षेत्रों में दबाब, तनाव और व्यक्तियों तथा परिवारों के मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ रहे प्रभावों में हो रही बढ़ोतरी अनुभव की जा रही है। प्रदूषण, अपवित्रता, मिलावट आदि अपने बूते लोगों की जान लेंगे क्योंकि लोगों के पास इन सब से बच पाने की कोई उम्मीद शेष नहीं रह गई है। जनसंख्याा में आया तूफान कृषि पर भी अपना प्रभाव डालेगा जिसे और भी टूट-फूट से गुजरना पड़ेगा तथा कीटनाशक दवाओं और उर्वरकों के उपयोग के कारण पड़ रहे विपरीत प्रभावों से दो-चार होना पड़ेगा। विकल्पों की खोज का सूत्रपात और विस्तार होगा। तथापि स्वास्थ्य के प्रति सावधानी बरतने का तंत्र स्कूली शिक्षा का एक महत्वपूर्ण भाग बनेगा। उपचार की परम्परागत पीढ़ियों पुरानी विधियों पर पुनः ध्यान केन्द्रित हो जाएगा। योग क्रिया को विश्वव्यापी स्वीकृति प्राप्त हो जाएगी।

जहां प्राथमिक शिक्षा का लोकायन एक बड़ा मुद्दा रहा है, सेकेन्डरी स्तर की शिक्षा और उच्चतर शिक्षा पर पड़ रहे दबाव को उपयुक्त रूप में लिए गए पूर्व

प्रयासों द्वारा सीखना अथवा समाहित करना होगा। कतिपय क्षेत्रों में मानव शक्ति के मुद्दे सिर उठाएंगे। विगत चार दशकों के अन्तर्गत जिन अनुसन्धानरत प्रयोगशालाओं तथा श्रेष्ठतर स्तर की संस्थानों ने भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास व उत्थान में बेहद योगदान दिया है उन्हीं संस्थानों में उच्च स्तर अथवा क्षमता की मान शक्ति की घोर कमी सामने आ सकती है। प्रतिभा सम्पन्न युवा लोग उन आजीविकाओं को अपना रहे हैं जहां अधिक अच्छे अवसर उपलब्ध हो रहे हैं। भौतिकवादी मनःस्थिति नवजात युवाओं के आध्यात्मिक आग्रह को परास्त कर देगी। इस प्रकार विद्यालयी शिक्षा के समक्ष एक विकट चुनौती आ खड़ी होगी। कार्य-कौशल शिक्षा की एक वृहद् रूप में लाना होगा किन्तु सफलता भावावस्थागत परिवर्तन की उस सीमा पर निर्भर करेगी जिसे उपयुक्त युद्ध कौशल द्वारा प्राप्त करना होगा। मूल्य शिक्षा का बीजारोपण अथवा उपदेशन एक दृढ़ाग्रही अभियाचन, बहस और दीर्घगामी वाद-संवाद का रूप ले सकता है।

सत्य, पवित्र आचरण, शन्ति, प्रेम और अहिंसा वह अंतरमूर्त मूल्य राशियां हैं जो एक मूल्य आधरित शिक्षा आयोजन के निर्माण में बुनियाद के पत्थरों के रूप में चुने जाएंगे। ये विश्वव्यापक मूल्य हैं और ये मानवीय व्यक्तित्व के पंचम कर्मक्षेत्रों का प्रतिनिधित्व सार्थक करते हैं– बौद्धिक, भौतिक, उर्मित अथवा भावनामूल्यक, मानसशास्त्रीय और आध्यात्मिक। वे ज्ञानोपार्जन अथवा शिक्षा के पांच बड़े उद्देश्यों, जैसे ज्ञान, कौशल, संतुलन, दूरदृष्टि और अनन्यता के परस्पर प्रदर्शक और पूरक भी हैं।

प्रत्येक राष्ट्र के लिए यह नितांत आवश्यक है कि वह अपनी संस्कृति, अपनी वंश परम्परा तथा अपनी राष्ट्रीय अनन्यता के प्रति अपने नागरिकों में सचेतनता या जागरूकता उत्पन्न करने के भरसक प्रयत्न करें क्योंकि प्रथकत्वता और असहायत्ता की भावना व्यक्तियों में बढ़ रही है, तथापि जीवनत्व के लक्ष्य और उद्देश्य की पहचान अथवा निर्धारण कर लेना प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक है। स्वयं के समाज के और प्रकृति के साथ समरसता भावी सामाजिक, संस्थाओं की एक मौलिक जरूरत बन जाएगी। जिन्होंने अपने वैज्ञानिक आत्मनियंत्रण, न्याय सैद्धान्तिकता को विकसित कर लिया है केवल ऐसे ही लोग आने वाले समय में सुख-शांति से जीवनयापन कर सकेंगे। □□

38

प्रारम्भिक विद्यालयों में पठन-पाठन जिज्ञासा, सृजनात्मकता और अन्वेषण

स्कूली शिक्षा को हर एक बच्चे या बच्ची तक पहुंचाने और उसका विस्तार करने में विगत पांच दशकों ने रहस्योद्‌घाटनकारी अनुभव कराए हैं। लगभग 45% बच्चे अभी भी कक्षा 5 तक पहुंचने के पूर्व ही विद्यालय छोड़ देते हैं। महानगरों में रहने वालों को यह तथ्य बेतुका-सा लग सकता है, किन्तु यह एक यथार्थ है। विद्यालय को तिलांजलि देने के कारणों का अध्ययन हुआ है और ऐसे कारण सबकी जानकारी में हैं। इन कारणों का विवेचन अक्सर अनेक रूपों में होता रहता है। इस सबसे एक ही बात उभर कर आती है कि विद्यालयों का वातावरण निश्चय ही बच्चों को आकर्षित रखने में असमर्थ रहा है और इसके फलस्वरूप बच्चों को विद्यालय अस्वीकार्य हो जाता है। इनके प्रति बच्चों में अपनत्व की भावना नहीं उपज पाती है और वे विद्यालयों से पलायन कर लेने के भरसक प्रयास करते हैं। ज्ञानोपार्जन के निमित्त पाठ्यपुस्तकों अथवा अभ्यास पुस्तिकाओं के रूप में उन्हें जो सामग्री उपलब्ध कराई जाती है, वह भी बच्चों के स्कूल से पलायन करने के कारणों में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं क्योंकि उन्हें जो सामग्री पढ़ाई जा रही होती है वह उनके निकटस्थ पड़ोस से भिन्न होती है। ज्ञानार्जन हेतु इस प्रणाली में ठूंस-ठूंस कर भरने के लिए तो बहुत कुछ है किन्तु आनंद के लिए बहुत कम। बच्चे की सृजनात्मकता को स्कूल-चर्या का कठोर अनुशासन कुन्द कर देता है। सन् 1960 और 1970 के दशक में स्कूली पाठ्यक्रम को बच्चे के प्रत्यक्ष वातावरण से मेल खाता हुआ बनाने के प्रयत्न किए गए, मुख्य रूप से एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर, जिसे तब राज्य सरकारों ने भी उपयुक्त भावना से स्वीकार किया था। शिक्षा की विषय-वस्तु अथवा सामग्री में बड़ा बदलाव लाने में इस तथ्य की ही भूमिका रही, विशेषकर प्रारम्भिक स्तर पर।

एन.सी.ई.आर.टी. का स्कूली शिक्षा की दिशा में सब से बड़ा अंशदान विगत तीन दशकों के अन्तर्गत पर्यावरण अध्ययन पर अधिकाधिक ध्यान केन्द्रित किया जाना रहा है। सन् 1975 और 1988 के अन्तर्गत पाठ्यचर्या की रूपरेखाएं नियोजित

हो चुकने के उपरान्त, पीढ़ी की पाठ्यपुस्तकें और शिक्षकों के लिए मार्गदर्शिकाएं तैयार की गईं। जिन्हें राज्य के कार्यकारिणी संस्थानों ने आदर्श पाठ्यपुस्तकों के रूप में अपनाया तथा स्वीकार किया। राज्य की कार्यकारिणी ईकाइयों का एन.सी.ई.आर.टी. ने स्थानीय तथा क्षेत्रीय आवश्यकताओं से मेल खाने वाली अपनी स्वयं की पुस्तकें एवं पठन-पाठन सामग्री विकसित करने का उत्साहवर्धन किया। नवम्बर 2000 में, एन.सी.ई.आर.टी. पुनः स्कूली शिक्षा की पाठ्यचर्या का ढांचा लेकर प्रस्तुत हुई, जिसे विशेषज्ञों, अध्यापकों, अभिभावकों, बच्चों, नीतियां निर्धारित करने वालों तथा जिन्हें शिक्षा में गुणात्मकता की चिंता थी, उन सब के साथ राष्ट्रव्यापी विचार-विमर्श के बाद तैयार किया गया था।

बहुत सी दूरगामी प्रभाव वाली व्यावसायिक रूप से ठोस अनुशंसाओं की ओर समाचार-पत्रों और वैद्युतिक संचार माध्यमों के द्वारा उतना ध्यान नहीं दिया जा रहा है जितना ध्यान दिए जाने की इन अनुशंसाओं की पात्रता है। अन्य के अलावा प्रारम्भ के दो वर्षों की स्कूली शिक्षा के अन्तर्गत शिक्षण और ज्ञानोपार्जन की नई विधि की सुगमता की अनुशंसा निश्चित रूप में आरम्भिक ज्ञानार्जन की गुणवत्ता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यही वे वर्ष होते हैं जब बच्चों का औपचारिक शिक्षा से परिचय कराया जाता है, और पद्धति के अनुसार उन्हें शिक्षा लेने के लिए तैयार किया जाता है। एन.सी.ई.आर.टी. ने मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा तथा गणित की दो बड़े अंशभूतों का ज्ञान कराए जाने की अनुशंसा की है। शिक्षण और ज्ञानार्जन के अन्य सभी पक्षों को "स्वस्थ एवं उत्पादनशील जीवनयापन की कला" के अन्तर्गत परस्पर मिला दिया गया है। भाषा और गणित के समूचे ज्ञानार्जन को बच्चे के प्रत्यक्ष वातावरण के चारों ओर के केन्द्र की परिधि में भ्रमणशील बना दिया गया है। शिक्षकों की निर्देशिका और अभ्यास पुस्तकों की तदनुसार तैयार किया जाएगा। 'स्वस्थ एवं उत्पादनशील जीवनयापन' की श्रेणी के अन्य सभी पक्षों को, जो बच्चे की परिवृद्धि और विकास में अंशदान करते हैं, शामिल कर लिया जाएगा। यह बच्चे का प्रारम्भिक शिक्षा के एक सर्वांगीण उपक्रम को सुनिश्चत बनाने का एक प्रयास है। सभी कार्यकलाप अथवा क्रियाएं ज्ञानार्जन की आवश्यकताओं पर केन्द्र-बिन्दु बनी रहेंगी और उन्हें इसी परिधि पर निर्मित किया जाएगा। जिज्ञासा, अनुभव तथा अन्वेषण जो इस पीढ़ी के प्रत्येक बच्चे के विशिष्ट आचरण की खूबियां हैं, इन्हें एक ऐसे बड़े मददगार आधार बनाने हेतु स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया के अन्तर्गत परिपोषित किया जा सकता है जो आगे चल कर उनके भावी जीवन में प्रभावपूर्ण योगदान दे सकें।

जीवन जीना स्वयं में एक कला है और इसलिए बच्चों को इस विद्या में सानुरूप तराशे जाने की आवश्यकता है। उन्हें, हुनर और दक्षता सीखनी होगी, किसी प्रकार की यान्त्रिकीय पेशे के रूप में नहीं बलिक दिन-प्रतिदिन के जीवन के प्रति उनकी निकटता और रुख के एक अखंड तथा अविच्छिन्न पक्ष के रूप में। निरीक्षणता

से समन्वेषण और सृजनता प्रत्येक बच्चे की मूल पूंजी है। जीवन से जुड़ी सृजनकारी व उत्पादनशील दक्षताएं, जो जीवन के लिए प्रासंगिक हों, उन्हें विकसित किए जाने की आवश्यकता है ताकि बच्चे को प्रयत्नशील रहने, कुछ पैदा करने और विचारों की अभिव्यक्ति को वे आविष्कार द्वारा चरितार्थ कर सकें।

स्वास्थ्य से संबंधित क्रियाकलाप बड़े उपादान उपकरण हो सकते हैं। नृत्य, नाटक, संगीत, कला, मिट्टी की कलाकृतियां बनाना, उपासना और योग साधना, मूर्ति तराशना तथा अन्य क्षेत्रों की कलाओं को सीखने के अनुभवों को प्रासंगिक बनाने में उपयोग में लाया जा सकता है। बच्चे स्वभावतः हाथों से कार्य करना पसन्द करते हैं। फिर भी वे जब बड़े होते हैं तो संकोची हो जाते हैं। इसे रोकना होगा तथा हाथ से काम करते रहने की उनकी स्वतः इच्छा को जारी रखने के प्रयास करने ही होंगे तथा उन्हें निरन्तर उत्साहित भी किए रहना होगा। जिज्ञासा, कल्पनाशीलता और अन्वेषण को सदैव निरन्तर रूप में प्रेरित किए रहना होगा। प्राप्त किए जा चुके अनुभवों को उनके सम्पूर्ण रूप में देखना होगा तथा उन्हें नए अनुभवों की प्राप्ति के लक्ष्य तक ले जाना होगा। इसके लिए शिक्षकों को स्थानीय संसाधनों की खोज करनी होगी, जो पार्थिव संसाधनों के रूप में, सांस्कृतिक प्राप्तियों के रूप में तथा समुदायों के आर्थिक सन्दर्भ में प्राप्त किए जा सकते हैं। यह भी अनिवार्य होगा कि गुण-धर्मी शिक्षण और ज्ञानार्जन के लक्ष्य को प्राप्त किया जाए जिस से विद्यालय, बच्चे, परिवार और समुदाय की परस्पर सहमति और स्वीकृति स्थापित हो सके।

शिक्षा के सभी 'बाजीगरों' को यह ध्यान में रखना होगा कि भाषा तथा गणित को बच्चे के अपने निजी वातावरण के चारों ओर निर्मित करने से देश में स्कूली शिक्षा के प्रसार की विधि पर दूरगामी प्रभाव पड़ेंगे। 'स्वस्थ एवं उत्पादनशील जीवनयापन की कला' ज्ञानार्जन को व्यापक बनाएगी। कक्षा 3 से लेकर कक्षा 5 तक, पर्यावरण सम्बन्धी अध्यापन, भाषा और गणित सहित, 'स्वस्थ एवं उत्पादनशील जीवनयापन की कला' सहित तीसरा बड़ा पाठ्यवर्ग होगा। अपेक्षा यह है कि जब बच्चा पांच वर्ष तक की स्कूली शिक्षा प्राप्त कर चुके तो उसके सृजनशील तथा उत्पादनशील भविष्य की तैयारी करना सम्भव हो जाए और बच्चे या बच्ची को जीवन के स्वर्गतुल्य सुख की अनुभूति प्राप्त हो सके। बच्चों को रचनात्मकता और उत्पादनशीलता के यथार्थ अर्थ का भी अनुभव हो जाएगा।

वे सौन्दर्यबोध को चैतन्यपूर्णतापूर्वक विकसित कर सकेंगे क्योंकि वे अभिव्यक्ति के माध्यम जैसे मिट्टी, रंगों, पैन्सिल, लेखनी, तैल चित्र-पट्ट, पेड़ों, पौधों, पक्षियों, चौपायों तथा प्रकृति की अन्य देनों तथा पर्यावरण से अंतरंग सम्बन्ध स्थापित करेंगे।

ये सिफारिशें तीन दशकों से भी अधिक समय में संगठन को प्राप्त हुए अनुभवों पर आधारित हैं और उन प्राप्तियों पर स्थापित हैं जो एन.सी.ई.आर.टी. को स्कूलों के अलावा शिक्षा के क्षेत्र की स्थितियों तथा अन्य राज्य स्तर की तथा जनपद स्तर

के संस्थानों के माध्यम से निरन्तर प्राप्त होती रहती हैं। एन.सी.ई.आर.टी. वह अनूठी संस्थान है जो शीर्ष वैज्ञानिकों, विशेषज्ञों तथा शिक्षाविदों से अन्तरसंबंध स्थापित करते हुए निरन्तर उपलब्धियों की जानकारी बनाए रखती है और साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में जुटे शिक्षकों से भी उनके अनुभवों, सफलताओं और उपलब्धियों की स्थिति का जायजा लेती रहती है। यह आशा की जाती है कि प्रारम्भिक स्कूली शिक्षा के कोमल आयु के बच्चों पर पड़ रहे बोझ और दबाव को कम करने में ये सुझाव अथवा सिफारिशें दूरगामी प्रभाव पैदा करेंगी। ये अनुशंसाएं सन् 1991 में प्रस्तुत की गई 'यशपाल समिति' की रपट, जो पाठ्यक्रम के बोझ को कम किए जाने के बारे में है, को लागू करने की दिशा में उपयुक्त वातावरण पैदा कर सकेंगी। पिछले दशक में भी बच्चों पर पड़ रहा दबाव व तनाव कम नहीं हुआ है। यह स्थिति सुधार के लिए शीघ्र किन्तु एक अच्छी तरह विचारे गए राष्ट्रीय प्रत्युत्तर की अपेक्षा रखती है।

पिछले दो दशकों के अर्न्तगत, एन.सी.ई.आर.टी. ने विद्यालयों में सामुदायिक गीतों को प्रोत्साहन दिया है। सब के लिए यह पारितोषिक पूर्ण अनुभव रहा है। बच्चों ने अत्यन्त ही कम समय में ही अविश्वसनीय रूप में अनेक भाषाओं के गीत सीख लिए। बड़े समूहों में खड़े हो कर जब वे विविध भाषाओं के गीतों का गायन करते हैं तो, विभिन्न भाषाओं तथा संस्कृतियों को अनुभव करते हुए राष्ट्र की अनेकता में एकता को अनुभव करके ऐसे कार्यक्रमों में भाग लेकर पुलकित हो उठते हैं। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि इन कार्यक्रमों को केवल कुछ गीतों को एक साथ गा लिए जाने के किसी एकाकी अवसर की क्रिया मात्र न मान लिया जाए। बच्चों को एक साथ मिल कर काम करने, सामाजिक समरसता को समझने, दलों को दिए गए आदेशों को समझने, अपनी स्वयं की क्षमता को तौलने तथा सामूहिक भाव से किए गए उपक्रमों के महत्व को समझने की शिक्षा प्राप्त होती है। अनके अन्य पक्षों को भी गिनाया जा सकता है। शारीरिक प्रशिक्षण को भी एक महत्वपूर्ण कार्यकलाप माना जा सकता है, जो एक अत्यंत विस्तृत वर्णक्रम वाला हो सकता है। ये सब अनेक मूल्यों को विकसित करते हैं और बच्चों को खुशी से भरकर पुलकित कर देते हैं। इन्हें शिक्षा का न केवल प्राथमिक स्तर पर अपितु उच्चतर स्तर पर भी सर्वव्यापी पहलू बनाना होगा। शिक्षाविदों ने लगातार सिफारिशें की हैं– एक आनंद से भरपूर, सहभागिता आधारित तथा कार्यकलाप मंडित शिक्षा की। सफलता और लागूकरण केवल आधे-अधूरे भर रहे हैं। व्यवहारीकरण के स्तर पर विशेष प्रयास किए जाने की आवश्यकता है।

यह एक अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि स्कूल में प्रवेश के प्रारम्भ काल से ही माता-पिता बच्चे को अधिक से अधिक अंक लाने हेतु परेशान करते रहते हैं।

शिक्षा देने और अर्जित करने की समूची प्रणाली परीक्षा के उद्देश्य को परास्त कर देती है। एन.सी.ई.आर.टी. ने प्रारम्भिक शिक्षा के स्तर पर काफी समय से 'कोई अवरोध नहीं की नीति' की वकालत की हुई है। इसे उपयुक्त भावना से लागू किया जाना है जो केवल मात्र तभी सार्थक हो पाएगा जब शिक्षक ज्ञानार्जन के परिणामों का पूरी प्रक्रिया में अनुमान लगाने में सक्षम हों तथा साथ-साथ जो सुधार की युक्तियों की व्यवस्था भी बिना व्यवधान के इच्छा, शक्तिपूर्वक करते रह सकें। इन नूतन सिफारिशों को कार्यरूप में परिणत करने में सफलता प्राप्त करना शिक्षकों द्वारा इस विधि को अंतरमुखी आयाम देने की उनकी शैली पर निर्भर करेगा और इस बात पर निर्भर करेगा कि पाठ्यचर्या के तात्विक आदान-प्रदान के प्रति वे आश्वस्त हों और उपयुक्त रणनीति को प्रयुक्त करने के कार्य को स्वीकार करने की इच्छा शक्ति रखते हों। सूचना तथा संचार तकनीक की उपलब्धि तथा दूरदर्शन वाली व्यूहरचना की सुविधा होने के फलस्वरूप अब बहुत ही कम समय की अवधि में शिक्षकों की एक बड़ी जमात को इस दिशा में अनुप्राणित किया जा सकना सम्भव हो सका है। सम्भव है और अधिक बच्चे विद्यालय को पसंद करने लगें और समुदाय पाठ्यक्रम को बड़ी संख्या में शिक्षार्थियों के लिए उपयोगी मान लें। समुदाय और विद्यालय के बीच का तारतम्य, जिसकी बहुत अधिक जरूरत थी, ऐसी दशा का परिणाम हो सकता है। नई पाठ्यचर्या को विकसित करने का उत्तरदायित्व लेने तथा एक ओर तो बच्चे के समीप में ज्ञानोपार्जन के लिए अनुकूल वातावरण पर उसे प्रयुक्त करने और दूसरी ओर स्वस्थ और उत्पादनशील जीवन जीने के लिए इसे पोषित करने के लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु शिक्षकों को उत्साहित किए जाने की आवश्यकता होगी, ताकि पाठ्यचर्या के इन उद्देश्यों को पूरी तरह फलीभूत किया जा सके। □□

39

क्या स्कूली शिक्षा धर्मों के मूल्यों, आध्यात्मिकता और तत्व-शास्त्र की अवहेलना कर सकती है?

पाठ्यक्रम के नवीकरण की प्रक्रिया का बारह वर्षों के अन्तरालस्थ काल खंड के बाद राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) के द्वारा प्रारम्भ की जा चुकी है। कुछ प्रस्तावित परिवर्तनों पर विचार-विमर्श चल रहा है। व्यावसायिक आलोचक मानवीय मूल्यों तथा आध्यात्मिकता और आध्यात्मिक भागफल के संबंध में शिक्षा दिए जाने के अभिस्ताव पर विशेष चिंतित और व्यथित हैं। सभी धर्मों के मूल-दर्शनशास्त्रों के बारे में बच्चों को जानकारी कराने के जिक्र मात्र से वे आग बबूला हो जाते हैं। फलस्वरूप मूल्यों का बीजारोपण दुर्लभ हो रहा है।

हां, एन.सी.ई.आर.टी ने बीते समय में भी मूल्य-वर्धक शिक्षा के सम्बन्ध में तर्क दिए हैं और सन् 1975 व 1988 के पिछले पाठ्यक्रम की रूपरेखाओं तथा तत्संबंधी अन्य आरम्भिक अवसरों पर भी। इतिहास के वर्तमान पड़ाव पर, भारत के प्रत्येक नागरिक को सामाजिक, सांस्कृतिक, चारित्रिक, नैतिक और संवैधानिक मूल्यों की समझ ग्रहण करने की आवश्यकता है। अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में मूल्यों के विनाश की वजह से झेले जा रहे आघातों के कारण अधिसंख्य लोगों को अपार कष्ट झेलने पड़ रहे हैं। स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा यदि बच्चों को मूल्य आधारित जीवन जीने और इस के माध्यम से एक मूल्य आधारित समाज की उत्पत्ति में अपना अंशदान दें, तो इस से कैसा अहित हो सकता है? श्रद्धेय मोहनदास करमचंद गांधी को तब क्या हानि पहुंची जब उन्होंने 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' नाटक देखा था या जब उन्होंने 'भक्त प्रहलाद' और 'ध्रुव' के बारे में पढ़ा? क्या हम प्रेम और करुणा के उस सार्वलौकिक सन्देश के बारे में जानने के अवसर का लाभ लेने से बच्चों को वंचित कर देंगे जो संन्देश आदिशंकराचार्य, पैगम्बर मुहम्मद, ईसा मसीह, गुरुनानक, भगवान महावीर और अन्य महानुभावों ने दिया था। देश के सभी बच्चों को भला सभी धर्मों के मूल आदर्शों और दर्शन-शास्त्र के बारे में जानकारी क्यों नहीं मिलनी

चाहिए? स्कूलों में धार्मिक शिक्षा दी जाने की वकालत एन.सी.ई.आर.टी. ने न तो कभी की है और न वह ऐसा कर ही सकती है। 'धर्मों के बारे में शिक्षा' और 'धार्मिक शिक्षा' के बीच के भेद को अवश्य ही ध्यानपूर्वक समझना होगा। कोठारी कमीशन (1964-1966) ने अत्यन्त स्पष्ट भेदन सहित इस पक्ष को सविस्तार प्रस्तुत किया है। एन.सी.ई.आर.टी. ने नवंबर 2000 में आहूत किए गए अपने स्कूली शिक्षा के राष्ट्रीय पाठ्यक्रम में, व्यावसायिक आधारों पर, भारत के लोगों के धर्मों के मूल दर्शन को स्थान दिए जाने की शिफारिश की है:

"एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य जो गुणानुक्रम से इस सगय अविलम्ब ध्यान दिए जाने योग्य है, वह है धर्म। यद्यपि अनिवार्य मूल्यों का यह एक मात्र उद्‌गम नहीं है। यह निश्चय ही मूल्य उत्पादन का एक श्रेष्ठ श्रोत अवश्य है। आज जो अभीष्ट है वह धार्मिक शिक्षा नहीं अपितु धर्मों के बारे में उनके मूल सिद्धान्त, उन में अंतरभूत सहज मूल्यों के बारे में तथा साथ ही सभी धर्मों के दर्शन शास्त्रों पर तुलनात्मक अध्ययन की शिक्षा दी जाने की दरकार है। एकदम प्राथमिक वर्षों से ही शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत उन्हें उपयुक्त अवस्थानों पर इस का ज्ञान कराए जाने की आवश्यकता है। विद्यार्थी को यह विदित कराए जाने की आवश्यकता है कि प्रत्येक धर्म का सार-तत्व एक समान होता है केवल उनकी अनुष्ठान की विधियां भिन्न-भिन्न होती हैं। विद्यार्थियों को यह विश्वास भी दिलाया जाए कि कुछ अवस्थाओं में विचारों के विभेद का भी सम्मान हो । चव्हाण कमेटी एक सामाजिक समरसता और सामाजिक तथा धार्मिक साम्य के एक साधन के रूप में धर्मों के बारे में शिक्षा दिए जाने का दृढ़ता व आग्रहपूर्वक अनुनयन करती है।"

हमारी चिन्ता यह है कि अन्य धर्मों के प्रति आदरभाव अनिवार्य है जिसे देश के प्रत्येक भावी नागरिक द्वारा अपने अन्तरस्थ स्थापित किया जाएगा ताकि उन समुदायों के मध्य सामाजिक समरसता बनी रहे जिन्हें परस्पर साथ रहना और साथ काम करना सीखना है। उनकी दृष्टिगोचरता को मिथ्या विचारों आदर्शवादीय पक्षपात और अनावश्यक अथवा अनामन्त्रित शंकाओं के द्वारा धूमिल न किया जा सके। प्रत्येक मानवीय जीवन का धरती से अधिक भार होता है और प्रत्येक बच्चे को विकसित करने में पूरे गांव की जरूरत रहती है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक का उत्तरदायित्व, जिम्मेदारी और जवाबदेही बनती है।

सार्वभौमिक रूप में प्रत्येक राष्ट्र यह अपेक्षा रखता है कि उसकी शिक्षा प्रणाली ऐसी हो कि जिसकी जड़ें उसकी संस्कृति में रची बैसी हो तथा जो प्रगतिबद्ध हों। भारतीय भविष्यदर्शियों, महात्माओं, सन्यासियों, फकीरों, गुरुओं, और दिव्य पीठाधीषों ने सफलतापूर्वक ऐसी ही शिक्षा की वैकल्पिक विधियां तैयार की हैं। प्रारम्भिक शिक्षा और गांधीजी व डा. जाकिर हुसैन की बुनियादी तालीम अभी भी प्रासंगिक है। यह एक अलग बात होगी कि हम इसके महत्व को न समझ सके हों या फिर इसकी

आवश्यकता को स्वीकार न करते हों।

सन् 1965 में, गुजरात विद्यापीठ में दीक्षांत भाषण देते समय, प्रो. डी.एस. कोठारी ने एक प्रश्न खड़ा कर दिया था   क्या हम इस विद्यालय में भारतीय दर्शनशास्त्र, आचार-विचार को वह स्थान और प्रतिष्ठा दे रहे हैं जिसके ये विषय हकदार हैं? यह प्रश्न अभी भी हमारे समक्ष और भी अत्यन्त वृहत्व को प्राप्त हुआ मौजूद है और बदले में हमारे विचारशील प्रत्युत्तर का पात्र भी है।

यह याद रखा जाए कि स्कूल में शब्दों और परिभाषाओं को सीखते हुए बच्चे कभी भी मूल्यों को नहीं अपना पाएंगे। दूसरों के गुण-दोष देख कर, सोच-विचार कर तथा विश्लेषण कर के वे बर्ताव, आदतें और रास्ते विकसित करते हैं। उन गहन वैयक्तिक आचार व्यवहार से जो निकटतम रूप में परिवार से तथा उन अन्य लागों से जिनके साथ बच्चे अपना समय बिताते हैं ये मूल्य प्राप्त होते हैं। मूल्यों का ज्ञान सामाजिक अन्तरप्रेरणा के आदान-प्रदान के अन्तर्गत डांवाडोल हालातों के अवसर पर होता है तथा साथ ही ये गीतों, कहानियों, नाटकों और खेल आयोजनों से भी सीखे जाते हैं। वर्तमान परिपेक्ष्य में यह अत्यन्त व्यावहारिक और परिपालनीय साधन हैं।

एन.सी.ई.आर.टी. की मूल दस्तावेज की अपेक्षा यह इंगित करने की थी कि शिक्षार्थी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास अथवा संवर्द्धन को सुनिश्चित किया जाए। श्री अरविन्द ने अविच्छिन्न अथवा अखंडात्मक शिक्षा की बात कही थी और स्वामी विवेकानन्द ने मानव निर्माण करने वाली शिक्षा की बात कही। जब तक स्व, समाज और आध्यात्मिकता के बारे में कोई समझ न बन जाए तब तक कोई भला इन अपेक्षाओं को विचारधारा में कभी बदल सकता है या फिर इन विचारों के मर्म को पा सकने की आशा कर सकता है? जिन लोगों ने भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्रों की प्रगति को समझ लिया है और जो लोग भारत के मनोजीवन से तादात्म्य रखते हैं, उन सब परंपराओं को भारतीयों तथा सम्पूर्ण विश्व के सामने रखे जाने की महती आवश्यकता है।

भारत वर्ष में शिक्षकों को ज्ञानार्जन कराने वाले आई.क्यू. (IQ) कुशाग्र-ज्ञेयता, को दशकों से पढ़ और पढ़ा रहे हैं और इस परिभाषा को समझा रहे हैं। यह पूर्णरूपेण एक पाश्चात्य नुस्खा है और स्वयं पश्चिम में इस समय यह लगभग त्याज्य हो चुका है। यह भली प्रकार समझ लिया गया है कि यह किसी के व्यक्तित्व के केवल एकाकी पक्ष का ही जिक्र करती है। ई. क्यू., अर्थात् भाव-ज्ञेयता अथवा भाव-लोलुपता एक नया मन्त्र है जो फिर से पश्चिम से ही उभर कर आया है और जिसे हम यहां हैरत से देख रहे हैं। एन.सी.ई.आर.टी. ने बौद्धिक विशिष्टता की पहचान के सन्दर्भ में एस. क्यू. की परिभाषा अपनाई है

"तथापि, 'अनुपम' और 'गुणी' की पहचान करने का कार्य एक बहुमुखी सिद्धान्त

के बहु-दृष्टीय विधि के अनुसार हो, न कि मानवीय लक्षणों की खोज के रूप में। न केवल उनके (IQ) कुशाग्र-ज्ञेयता बल्कि उनके (EQ) भाव-ज्ञेयता तथा (SQ) अध्यात्म-ज्ञेयता को भी आंका अथवा कूता जाना होगा। अनुपन और गुणी की खोज के लिए उपयुक्त यंत्र रचना का प्रकल्पन भी करना होगा।"

'साथ-साथ रह कर जीवन जीना सीखने' के लिए युवा पीढ़ी को तैयार करते हुए सामाजिक समरसता का लक्ष्य प्राप्त करने में जो कि एक ऐसी मान्यता है जो, भारतीय परम्परा में पीढ़ियों से रची बसी है, शिक्षा इस दिशा में राष्ट्र को वृहद् योगदान दे सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में 'साथ-साथ रहकर जीवन जीना सीखने' के विचार को यूनेस्को (UNESCO) के डेलोर्स कमीशन की रपट में, 'जानना : अन्तस के कोष को, जिसका प्रकाशन 1996 में हुआ, बड़े प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'साथ-साथ रहकर जीवन जीना सीखने' के लिए सही किस्म के अनुभवों को उपलब्ध कराते हुए सामाजिक रिवाजों और क्रियाओं को समाज तथा समुदायों में अत्यन्त संवेदना तथा समझदारीपूर्वक सुनिश्चित किए जाने की आवश्यकता है।

□□

40

छिद्रान्वेषण की प्रशंसा निशाना बने अध्यापक

शिक्षकों के बारे में किया गया प्रत्येक विचार-विनिमय अचल रूप में उनके द्वारा भारतीय परम्परा में युगों से चले आ रहे उनके सम्माननीय पद के विस्तृत विवरण से ही प्रारम्भ होता है! शिक्षकों को मूल्यों, चरित्र, विद्वता, नेतृत्व तथा ऐसे लोगों का विग्रह माना जाता था जो वही करते थे जिसका वे उपदेश देते थे। आचार्य और 'गुरु' का पद अधिकांश रूप में माता-पिता से श्रेष्ठ माना जाता था। इस मान्यता में एक मूल शक्ति है। सभी महान विचारकों, दार्शनिकों, रचनाकारों, लोगों, शासकों और लोगों ने जिन्होंने मानवीय विकास को नई दिशा प्रदान की है, अपनी उपलब्धियों का श्रेय अपने शिक्षकों को ही देते हैं, अनपेक्ष रूप में शिक्षा की उस प्रणाली तथा परम्परा में भेद किए बिना जो स्थान-स्थान पर, एक देश से दूसरे देश में भिन्न होती है। शिक्षकों के बारे में ऐसी वार्ताएं इस रुदन के साथ समाप्त होती हैं कि आज के शिक्षक अब बीते काल के शिक्षक नहीं रहे हैं।

सन् 1857-1947 का कालखंड भारतीय राष्ट्र के इतिहास का एक महान महत्व वाला समय माना जा सकता है। ये वे वर्ष थे जब जाति, धार्मिक धारणाओं, क्षेत्रों और किसी सोचे जा सकने वाले विभेद से परे रह कर सब एक सांझे राष्ट्रीय लक्ष्य की पहचान कराने हेतु आगे बढ़े। ऐसी मंजिल का साक्षात्कार केवल वे ही राष्ट्र करा सकते हैं जिनमें उनकी अपनी आत्मशक्ति हो और जिनकी जड़ें गहराई तक उनकी संस्कृति और परम्परा में जमी हुई हों। विदेशी बेड़ियों से मुक्त होने के लिए एक-एक व हर एक भारतीय ने संकल्प कर लिया था। 19वीं सदी में देश की स्वतंत्रता की लम्बी यात्रा के दौर में तथा बींसवी सदी के पूर्वार्ध के वर्षों में संभावित संचार माध्यमों, सूचनाओं के प्रसारण और संदेशों के आदान-प्रदान के बारे में मैंने अक्सर विस्मय अनुभव किया है। हमें अभी भी हमारे बीच उन अनुभवी नायकों के मौजूद होने का सौभाग्य प्राप्त है जिन्होंने स्वयं स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया था और जिस यथार्थ रूप में वह घटनाएं घटित हुई थीं उसका साक्षात् अनुभव प्राप्त किया

था। यह निश्चय ही चकित कर देने वाली बात है कि वे शिक्षक थे जिन्होंने मूक किन्तु अत्यन्त विषम भूमिका आजादी के संघर्ष के नेताओं के सन्देश आम जनता तक पहुंचाने में निभाई थी। जिस समय समग्र शासन उनके विरुद्ध था, उन्होंने महात्मा गांधी के विचारों व इरादों को फैलाने की हिम्मत की और खादी के वस्त्र धारण कर लेने का साहस कर लिया। यह शिक्षकों के द्वारा उत्पन्न किया गया एक विलक्षण प्रत्युत्तर था, उस वातावरण में जो अन्यथा भयानक हो चुका था। जिस पर भी उनमें आत्मबल और आत्मविश्वास था और उन्होंने अपनी भूमिका उत्कट जोशपूर्वक निभाई।

भारतीय शिक्षार्जन, शिक्षण तथा ज्ञानार्जन की स्थापित प्रणाली पर विदेशी शिक्षा विधि के आक्रमण का दुष्परिणाम यह हुआ कि समाज शनैः-शनैः उस शिक्षा विधि से अलग-थलग पड़ गया जो पारम्परिक रूप में समुदाय और समाज द्वारा ही अनुशासित की जाती थी। शिक्षा व्यवस्था को सरकार द्वारा अधिकार में ले लिए जाने के दुष्परिणाम को देश की शिक्षा प्रणाली द्वारा वर्तमान अवस्था में भी दुहराया जा रहा है। समुदायों को भरोसा है कि यह पूरी तरह सरकार की जिम्मेदारी है कि वह उनके बच्चों को शिक्षित बनाए और प्रक्रिया को आवश्यक ढांचागत समर्थन उपलब्ध कराए। और यह भी कि, जो इस व्यवस्था की देख-रेख कर रहे हैं वे शिक्षा देने को आजीविका का साधन मानते हैं और अब एक मिशन के रूप में उसे कदापि नहीं स्वीकार करते। दुरावस्था की ऐसी परिस्थिति के कारणों को अत्यंत विस्तारपूर्वक विश्लेषित किया जा सकता है। फिर भी, शिक्षकों पर अक्सर लगाए जा रहे मुख्य आरोपों में से कुछ पर ध्यान देना उपयोगी रहेगा। माता-पिता तथा अभिभावकों की छिद्रान्वेशी शिकायतें यह हैं कि वे विद्यालय में उपलब्ध नहीं होते हैं; उन में आत्मविश्वास की कमी है और अपने व्यवसाय के प्रति वांछित वचनबद्धता की भावना इनमें नहीं के बराबर है। अभिभावकों की दुखद टिप्पणी यह भी है कि शिक्षकों में बच्चों को वैयक्तिक 'ट्यूशन' के लिए उकसाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसके कारण अध्यापक की विश्वसनीयता जनता की नजरों में निरंतर घट रही है। यह बात शिक्षा के प्रत्येक स्तर के शिक्षकों पर लागू होती है, उन उच्च शैक्षिक संस्थानों के शिक्षकों पर भी यह आरोप लागू होता है जो राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का सुख ले रहे हैं। एवजी शिक्षकों को अपने नियुक्ति स्थल पर नियुक्त किया जाना और शिक्षा विभाग के उच्च अधिकारियों से सांठ-गांठ कर के आवश्यक जुगाड़ कर लेना, ताकि किसी स्तर पर तथा आगे चल कर इस धांधली का भांडा न फूटे, ऐसी घटनाएं सर्वविदित हैं।

राष्ट्र के लिए आवश्यक है कि वह स्कूली शिक्षा के व्यावसायिक पक्ष का भी निरंतर परीक्षण करे तथा संबद्ध शिक्षकों और उनके ज्ञानार्जन का निरन्तर पर्यवेक्षण करे। शिक्षकों में व्यावसायिकता की कमी के ढेर सारे कारण हैं। नियुक्ति और पदोन्नति में अक्सर पूर्ण पारदर्शिता नहीं होती है और नौजवान उम्मीदवारों में यदा-कदा ही

विश्वास उत्पन्न होता है। उन लोगों में व्यावसायिकता का संचार करना कठिन है जो किसी तरह चुपके से व्यवसाय में आ जाते हैं। वे जो कठिन उद्यम करने के बाद प्रवरण और नियुक्ति की पारदर्शी प्रक्रिया के माध्यम से रोज़गार के बाजार में आते हैं वे ही आन्तरिक विश्वास और निष्ठा के साथ उन्हें सौंपे गए कार्य को पूरा कर के अपनी सक्षमता प्रमाणित कर सकते हैं। शिक्षकों की भर्ती का मापदंड व्यक्ति के सम्पूर्ण आकलन की प्रक्रिया के अंतर्गत होना चाहिए, निपुणता, वचनबद्धता और कार्य के प्रति इच्छावान होने सहित सभी पक्षों का प्राक्कल किया जाए। मात्र कागजी योग्यताएं पर्याप्त नहीं हैं। कभी-कभी ये भी विश्वास करने योग्य नहीं लगती हैं। सरकारों के परिवर्तन के साथ योग्यताओं का भी परिवर्तन हो जाना विश्वसनीयता तथा साथ ही आश्वस्ति की शर्त पर इच्छा की जाने हेतु बहुत कुछ शेष रह जाता है।

भले ही कोई पसन्द करे या नहीं, इसे समझ लिया जाए कि शिक्षक भावी समाजों की रचनाएं रचते हैं। नौजवानों की गुणवत्ता, जो आने वाले कल के नागरिक बनेंगे, वे सीधे तौर पर उनके शिक्षकों के द्वारा की गई तैयारी की गुणवत्ता पर निर्भर करेंगे, खासतौर पर शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर पर दी गई शिक्षा की गुणवत्ता पर तार्किकता के पक्ष ये अच्छे गुणवान शिक्षकों की व्यवस्था केवल शिक्षकों को शिक्षा देने वाले संस्थान ही कर सकते हैं जिन्हें उच्चतम व्यावसायिक मानदंड प्राप्त हैं और जो दक्षता के श्रेष्ठतम स्तर पर कार्य निष्पादन करते हैं। यह पक्ष प्रायः तिरस्कृत ही रहा है। वास्तव में निम्न स्तर की संस्थानें, जिनका ढांचागत स्वरूप व सुविधाएं निम्न कोटि की तथा जिनके कर्मचारी वृन्द भी निम्न कोटि के हैं, इनके बारे में गंभीरता पूर्वक विश्लेषणात्मक समझ बनानी होगी। हजारों की संख्या में शिक्षक उन उक्तियों के माध्यम से तैयार किए गए जो युक्तियां व्यावसायिक रूप में दोषपूर्ण थीं, ताली भी पक्ष से अपर्याप्त और हर तरह से मूल्यधर्मिता से विहीन थीं। देश के शिक्षक वृन्दों और शिक्षक तैयार करने वालों को उन पत्राचार पाठ्यक्रमों के बारे में पूरी जानकारी है जो बी.एड. (B.Ed.) डिग्री दिलाते हैं तथा शिक्षकों की शिक्षा-दीक्षा की गुणवत्ता के संदर्भ में जिन पाठ्यक्रमों ने विध्वंसक प्रभाव डाले हैं।

पार्थिव वृत्तियों और आध्यात्मिक तलाश के मध्य चल रहे गंभीर घमासान के इस दौर में, भविष्य में आकार प्राप्त करने वाली वस्तुएं मुश्किल से ही उत्साहवर्धक कही जा सकती हैं। उदारीकरण वैयक्तीकरण और भूमंडलीकरण (LPG) के रव में ऐसे तनाव और अधिक स्पष्ट बनेंगे। ऐसे हालात में शिक्षा को अपने शिक्षकों के माध्यम से मुख्य भूमिका निभानी होगी। जब तक एक फूहड़ व्यक्ति जो किसी शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान में एक अभ्यासी व्यावसायिक के रूप में इस प्रक्रिया में सदचरित्रता, मानवीय तथा नैतिक बुद्धि व्यवहार को आत्मसात् करता हुआ रूपान्तरित नहीं हो जाएगा, तब तक एक सामाजिक रूप से घुले-मिले हमारे भावी समाज की

हमारी महती आशा केवल छल और माया ही बनी रहेगी। अधिकाधिक धन-सम्पत्ति जमा करने की उद्भ्रान्त दौड़ में नौजवानों को आज 'आई.टी.' और 'आई.सी.टी' में मोक्ष अथवा उद्धार दिखाई दे रहा है। और आनन-फानन में बहुराष्ट्रीय संस्थानों में खूबसूरत नौकरी करने हेतु विदेश भाग जाने के उद्देश्य के खूंटे पर वे स्वयं को बांधे हुए हैं। स्पष्टतः इस दृष्टिकोण में कुछ भी अवांछनीय नहीं है किन्तु इस से संबद्ध कुछ पक्षों पर विचार करने की आवश्यकता जरूर है। बचे हुए उन शेष नौजवानों का क्या होगा जो अपनी उन प्रतिभाओं, दक्षताओं और क्षमताओं को व्यवहार में लाने के मार्ग मुश्किल से ही प्राप्त कर पाते हैं जो उन्होंने कठिन एवं विपरीत हालातों में अर्जित की गई हो सकती हैं। मूल प्रश्न यह है कि हम उन्हें वास्तव में यह मौका उपलब्ध करा रहे हैं कि वे अपने विभव को स्वयं खोद निकालें? यदि नहीं तो क्या हम अपने देश के भविष्य के प्रति अन्याय नहीं कर रहे हैं और साथ ही उसके वर्तमान से मुंह नहीं चुरा रहे हैं? यहां तक कि सूचना प्रौद्योगिकी में उच्च अर्हताएं अर्जित कर चुके भाग्यशाली स्नातकों को भी जो विदेश में काम की जुगाड़ कर लेने में सफल रहते हैं भारत की उत्कृष्ट परम्परा से परिचय कराया जाना जरूरी है, जहां जीवन का उद्देश्य दूसरों की सेवा करना है, विशेष कर दलितों और विहीनों की सेवा करना। एक स्वच्छ जीवन व्यतीत करने हेतु जहां धन अर्जित करना स्वाभाविक आवश्यकताओं में से एक है, वहीं दूसरों के लिए ध्यान न देने और उनके प्रतिबोध हीनता की कीमत पर धन और केवल मात्र धन के पीछे भागने की एकल मानसिकता के इस रुख को रोकना जरूरी है।

आज के समय में जीवन के प्रत्येक पक्ष में द्रुत परिवर्तन आ रहे हैं, धन्यवाद दें उदारवाद, वैश्वीकरण आदि को। शिक्षकों को परिवर्तन के बारे में समुदाय को समझाने वाला दुभाषिया माना जाना चाहिए। जाहिर तौर पर यह जिम्मेदारी उनकी ही पड़ती है कि वे परिवर्तनों का अध्ययन करने, विश्लेषण करने तथा उन्हें छान लेने के बाद जो समुदाय तथा समाज के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हो उन्हें प्रेषित करने की पहल और प्रयत्न करें। एकमात्र ऐसी व्यावसायिकतापूर्वक तैयार किए गए शिक्षक ही जिन्हें ज्ञान-दान के प्रति उनकी वचनबद्धता का महान गुण प्राप्त है, वे ही ऐसी आवश्यक दक्षता को चरितार्थ करते हुए, समुदाय के लाभ के लिए अपनी व्याख्या के संदर्भ में अपेक्षित उद्देश्य पूरा कर सकते हैं। केवल मात्र ऐसे व्यक्ति ही ऐसे कार्य हाथ में ले सकते है जिन्होंने अपनी स्वयं की योग्यताओं तथा दक्षताओं को फिर से नवसंचारित रखने की विधि को अपना लिया है। यदि उन्हें ज्ञानार्जन के संबन्ध में आजीवन प्रशिक्षित एवं लयबद्ध नहीं रखा गया तो उनका प्रभाव अथवा संघात की परिणति केवल सपना ही बनी रहेगी। ऐसे शिक्षक निश्चित रूप में समाज को नेतृत्व दे सकने में असमर्थ रहेंगे। दूसरी तरफ, समुदाय की आवश्यकताओं, खासतौर पर भारत के ग्रामीण क्षेत्र में समस्या के समाधान के परिप्रेक्ष्य में शिक्षकों का अन्य

पर्याय नहीं है।

आम नागरिक, जो नीति निर्माण की विधि से परिचित नहीं है, वह अपना सारा विश्वास विद्यालय और शिक्षकों के भरोसे पर न्यौछावर कर देता है। पाठ्यक्रम, अध्यापन और आदान-प्रदान की विधि में पाई जाने वाली अपर्याप्तता को केवल मात्र विद्यालय की जिम्मेदारी मान लिया जाता है। यह तथ्य अब पूरी तरह साबित हो चुका है कि भारतवर्ष के समुदायों को ऐसे अत्यन्त 'शिक्षित' नौजवानों का अनुभव मिल चुका है, जिन्हें स्वरोजगार या व्यावसायिक मनोरथ संबंधी हुनर प्राप्त नहीं है। जब उन्हें संघटित-क्षेत्र में कोई काम प्राप्त नहीं हो पाता है तो वे स्वयं को बिसराया, परित्यक्त और यहां तक कि ठगा गया अनुभव करते हैं। अपनी मानव संसाधन संपदा की इस प्रकार की बरबादी को क्या हमारा राष्ट्र वहन कर सकने में समर्थ है? बहुत कम ऐसा होता है कि स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया अधिकांश शिक्षार्थियों को उद्योगों, कृषि और अन्य आर्थिक कार्यकलापों का अनुभव प्रदान कर रही हो। वास्तविकता यह है कि समुदाय का विद्यालय से संबंध विच्छेद हो जाने से ज्ञान और दक्षताएं अर्जित करने की विधि की विश्वसनीयता का पतन हुआ है। शिक्षार्थियों को अनेक व्यवसायों के हुनर अपनाने का प्रशिक्षण देने में समुदायों की महारत का लाभ नहीं लिया जा रहा है। यह कटाक्ष भी किया जाता है कि अध्यापकगण परिवर्तन लाने के प्रति उदासीन हैं, उन्हें निम्न स्तर की अगुवाई और व्यवस्थापन मिलता है और वे मुश्किल से ही प्रशिक्षित होते हैं। प्रशिक्षण देना या प्राप्त करना अब एक ही बार कर लिया जाने वाला कार्यकलाप नहीं रह गया है। व्यवस्था प्रणाली के अन्तर्गत, बार-बार रखे जाने वाले नवजागृति के कार्यक्रम तथा सेवाकाल में होने वाले अभिज्ञान अवसरों के द्वारा समय-समय पर नियमित रूप से रखे जाने वाले कार्यक्रमों को एक शिक्षक अथवा अध्यापक के व्यावसायिक जीवन में प्रयुक्त किए जाने की जरूरत है।

सेवाकालीन शिक्षण कार्यक्रमों का प्रारम्भ साठ के दशक में सेवारत अप्रशिक्षित अध्यापकों को लक्ष्य में रख कर और साथ ही अध्यापकों को ऐसे विषयों का अध्यापन कराने में सक्षम बनाने हेतु किया गया जो पाठ्यक्रम के उपादान के रूप में उन्होंने अपनी शिक्षा के समय तथा अपनी प्रशिक्षण प्राप्ति के अवसर पर नहीं सीख पाया था। बहुत से राज्यों ने शिक्षकों को विज्ञान और विज्ञान की शिक्षा प्रदान करने तथा गणित विषय की पढ़ाई के पाठ्यक्रम पक्ष की दिशा में सुविज्ञ बनाने हेतु ऐसे कार्यक्रमों का आह्वान व प्रचलन प्रारम्भ किया। सेवारत अप्रशिक्षित अध्यापकों के लिए एन.सी.ई.आर.टी. के द्वारा सन् 1964 में पत्राचार पाठ्यक्रम का लोकार्पण किया गया। तदनन्तर अध्यापकों के सेवाकालीन शिक्षण पर अधिक जोर दिया जा रहा है और तरह-तरह की युक्तियों और प्रतिरूपों को आजमाया जा चुका है। मास ओरिऐन्टेशन ऑफ स्कूल टीचर्स (PMOST), 1986 और स्पेशल ओरिऐन्टेशन प्रोग्राम फॉर टीचर्स

(SOPT), 1992 के द्वारा बड़ी संख्या में अध्यापकों को प्रशिक्षण दिया गया। स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रम में समाविष्ट प्रायः सभी क्षेत्र के मुख्य लोगों को तैयार करने में व्यावसायिक विशेषज्ञता द्वारा एन.सी.ई.आर.टी. योगदान दे रही है। वर्तमान में राष्ट्र के समक्ष जो महत्वपूर्ण मुद्दा है वह है नवीन सूचना प्रौद्योगिकी तथा प्रत्येक शिक्षक तक देश में सब जगह पहुंचना। ऐसी सम्भावना सम्भवतः पहली बार पैदा हुई है और प्रारम्भिक प्रयोग काफी हद तक उत्साहवर्धक रहे हैं। एक राष्ट्रीय कार्ययोजना तैयार हो चुकी है जिसे अब पूरी क्षमता के साथ प्रसारित किया जाना है। फिर भी एक ओर तो विद्यालयों और साथ ही प्रशिक्षण संस्थानों तथा दूसरी ओर राष्ट्रीय, राज्य और जनपद स्तर की संसाधनीय संस्थानों में नियमित प्रयास किए जाते रहने होंगे।

मध्य मार्गी संस्कृति निश्चित ही इस व्यवस्था में पैठ बना चुकी है। अपरिवर्तनीय रोजमर्रा के कार्य की शैली एक ऐसा मारक विषैला तत्व है जो खतरे ले कर समर्पित होने के उत्साह, प्रेरकता के उद्योग तथा इच्छाशक्ति को हानि पहुंचाता है। वास्तव में यह कहा जाता है कि पूर्णकालिक परीक्षाओं में यदि परीक्षार्थी उच्च प्रतिशत में अंक प्राप्त कर लें तो तभी शिक्षकों, विद्यालयों और संस्थानों को समाज में मान्यता प्राप्त होती है। यहां तक कि तथाकथित सर्वोत्तम 'पब्लिक-स्कूल' में भी मुश्किल से ही विद्याउपार्जन के अन्य पक्षों को महत्व मिलता है। लोक विश्वसनीयता को केवल अंकों की संख्यात्मकता के मानदंड पर निर्धारित किया जाता है और सफलता की दर भी अंकों से ही निर्धारित होती है। इस प्रकार की लाग-लपेट की नीयत से शिक्षा की दिशा में बढ़ने से विकास के अन्य क्षेत्रों में भी पेचीदगियां पैदा होती हैं। इस प्रकार की दैनन्दिन विधि और नैराश्य की भावना को नियन्त्रण में लाने हेतु देश में कई नए परिवर्तन आहूत किए गए हैं। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि सेवा से सम्बद्ध विषयों से सम्बद्ध शिक्षकों की समस्याओं के हल के लिए उन्हें बड़ी मात्रा में दल का रूप लेने हेतु बाध्य होना पड़ा। इस से उन्हें गंभीरता और ईमानदारी पूर्वक अनुसरण करने तथा विधि को समझने के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने की क्षमता भी प्राप्त होती है। दुर्भाग्य यह है कि व्यवस्था का प्रबंधन बहुत ही दूर तथा बहुत अधिक केन्द्रीयकृत है और व्यक्ति के लिए बहुत बड़ी मात्रा में पीड़ादायक सिद्ध होता है। ये व्याधियां सेवा में रखे जाने के समय से ही शुरू होकर सेवा के प्रावधानों से संबंधित अनेक पक्षों, आचरण संबंधी नियमों, अपेक्षित अदायगी में बिलम्ब होना और अंतिम रूप में सेवानिवृत्ति के समाधान में भी अपरिहार्य विलम्ब किए जाने की सीमा तक दुखदायी बनी रहती है। शिक्षा की व्यवस्था में समरूपता बनाने में सफल होने की भावना शिक्षकों में नहीं मिलती है। नौकरशाही को इस दिशा में एक ऐसे औजार के रूप में माना जाता है जो क्लेश पैदा करने और विलम्ब के लिए जिम्मेदार होते हैं। शिक्षकों को सजा दिए जाने के जहां अनेकों प्रावधान

हैं, लिखित भी एवं अलिखित भी, उन्हें पुरस्कृत करने के मुश्किल से ही कोई प्रावधान मौजूद हैं। इसके कारण अतिरिक्त कार्य सम्पादन ग्रहण करने की दिशा में उनके द्वार स्वयं पहल की जाने की स्वेच्छा ज्यों-ज्यों व्यक्ति समय की पीठ पर आगे बढ़ता रहता है, अधिकांश अवस्थाओं में वह विलीन हो चुकी होती है।

गंभीरता का वह स्तर जिसके द्वारा शिक्षक की तैयारी के महत्व को राष्ट्र के द्वारा देखे जाने की आवश्यकता है, जो अभी भी शिक्षा के वैश्वीकरण को हासिल करने में जूझ रहा है, देश में ऐसा कुछ अभी तक देखने को नहीं मिल रहा है। नेशनल काउन्सिल फॉर टीचर ऐजुकेशन (NCTE) की स्थापना एक अच्छा सोचा-विचारा निर्णय है। (NCTE) ने अनेक निम्न कोटि के शैक्षिक आयोजनों को सेवा-पूर्व स्तर पर पद्धति में ढालने व नियमित करने में अपना योगदान किया है। इसका यह अभिस्ताव कि बी.एड. को द्विवर्षीय कार्यक्रम बनाया जाए, नीतिकारों और कार्यान्वित करने वालों के द्वारा अत्यन्त गंभीरतापूर्वक विचार किए जाने योग्य महत्व रखता है। वैयक्तिकरण की अवस्था में तथा वे सब लोग जो लोग अध्यापक प्रशिक्षण संस्थानों को स्थापित करने की इच्छा रखते हैं, स्वाभाविक है कि उनके विचार में केवल व्यावसायिकता का अकेला पक्ष ही विचारणीय नहीं है। राष्ट्र के लिए यह सुनिश्चित करना जरूरी है कि शिक्षकों की शिक्षा के व्यापारीकरण को रोकने के लिए हर सम्भव उपाय किए जाएं, जैसा कि एन.सी.टी.ई. (NCTE) की धारा में आदेशित है। विश्वविद्यालयों ने निम्नकोटि के पत्राचार पाठ्यक्रमों के लोकार्पण द्वारा तथा अपर्याप्त साधन व अपर्याप्त कर्मचारियों वाली संस्थानों को अपने अधीन कर के विगत में शिक्षकों के प्रशिक्षण कार्यक्रमों का शोषण किया है। ऐसे कुछ पाठ्यक्रमों का एन.सी.टी.ई. (NCTE) की अनुविहित प्राधिकरण का उपयोग लेते हुए परीक्षण भी किया गया है। यह सुनिश्चित करने के लिए कि अच्छे शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानें अच्छा कार्य करें और दक्ष तथा समर्पित व्यवसायियों को उत्पन्न करने की अपनी जिम्मेदारी को अनुभव करें, इस बारे में अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। देश के अध्यापकों पर विश्वास करना होगा और उन्हें आदर और सम्मान का स्थान देना होगा और उन्हें व्यावसायिक विकास और परिवृद्धि के सुअवसर देने होंगे। साथ ही उन्हें भी निरंतर स्वयं को यह स्मरण कराते रहना होगा कि उन्होंने अपनी भूमिका निभानी है, और बहुत ऊंचे स्तर की दक्षतापूर्वक निभानी है। यह भी जान लें कि शिक्षक यह भी अनुभव करता है कि विशेषज्ञों के सामाजिक अनुपूर्व्य में उसे उसका वांछित स्थान प्राप्त नहीं है। वे यह भी अनुभव करने की आवश्यकता समझें कि सामाजिक प्रतिष्ठा तथा सार्वजनिक साख बनाने में प्रत्येक व्यवसाय का ही हाथ होता है। अन्य लोग तो केवल मदद भर कर सकते हैं शिक्षक की ओर से इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया जाना एक ओर शिक्षक और समाज के मध्य के उस कमजोर

हुए सूत्र को पुनः स्थापित करने में और दूसरी ओर शिक्षक और शिक्षार्थी के संबंध स्थापित करने में सहायक होगा। शिक्षकों को भी सहजात वातावरण की तथा राष्ट्र के निर्माण के मनोरथ को साकार करने हेतु काम करने के लिए अनुकूल अवस्थाओं की जरूरत रहती है। □□

41

शिक्षा में पारदर्शिता

कोई भी पद्धति एकलितावस्था में नष्टधर्मिता को प्राप्त नहीं होती है। न ही एकलितावस्था में पद्धतियां पुनर्जीवित हो पाती हैं। पुनर्निर्माण और फिर से उपयोग में लाने योग्य बनाने में प्रत्येक विधि को भीतरी वातावरण और बाह्य वातावरण तथा उन के अंतर संबंधित रिश्तों, दोनों की ही पूरी परीक्षा की आवश्यकता होती है। शिक्षा के लिए चिंता, निःसंदेह, अच्छी गुणग्राही शिक्षा की चिन्ता को इस ढांचे के अन्दर आजमाए जाने की आवश्यता होती है। शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ाने के उद्यम आमतौर पर ताने-बाने को प्राप्त होने वाली वृद्धियों तक ही सीमित रह जाते हैं जो अधिकतर पूर्ववर्ती प्रयासों का ही चलायमान रूप या फिर उसके विस्तार के रूप में ही होता रहता है। अतिरिक्त मानव शक्ति और कुछ ऐसे थोड़े से कार्यक्रम या क्रियाकलाप जो अधिकतर या तो पूर्ववर्ती कार्यक्रमों की क्रमशः पुनर्संचालन की या फिर उन्हीं कार्यक्रमों का ही विस्तार होते हैं। शिक्षा के प्रबंधन में गुणात्मकता की सर्वांगीण परिवृद्धि की आवश्यकता, फलतः राष्ट्र के समक्ष स्वतंत्रता के बाद पांच दशक बीत चुकने के बाद भी वैसी ही गंभीर चिन्ता बनी हुई खड़ी है। यह बात अच्छी तरह और समान रूप से प्रारंभिक शिक्षा, सैकेन्डरी स्तर की स्कूली शिक्षा और साथ ही विश्वविद्यालयों और कॉलेजों की शिक्षा पर भी लागू होती है।

गुणवत्ता पूर्ण शिक्षा पर ध्यानकेन्द्रण वैश्वीकरण और उदारीकरण के बारे में भी बढ़ता रहेगा। सामान्यतः बीच की चीज हर जगह और सब कहीं बिल्कुल अस्वीकार कर दी जाएगी। केवल वे ही उत्तरजीवी रह सकेंगे जो कौशल सम्पन्न एवं प्रवीणता प्राप्त होंगे। यहां तक कि यह सब भी पर्याप्त नहीं होगा। उन्हें कठिन परिश्रम करने, काम कराने की सद्इच्छा होने तथा जब कभी जरूरत पड़े अतिरिक्त कार्यभार का उत्तरदायित्व भी ले सकने के ऐसे पर्याप्त प्रमाण भी उपलब्ध कराने होंगे । यह रुझान सार्वभौमिक रूप में हर जगह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

भारत ने श्रेष्ठतम प्रामाणिकता वाली ऐसी व्यावसायिक संस्थाओं की स्थापना की है। जिनके उत्पादों की विकसित देशों में अच्छी मांग है। अतीत काल के कुछ निकटवर्ती वर्षों में किए गए विकास कार्य निश्चय ही बहुत उत्साहवर्धक नहीं थे।

प्रबंधन और अभियन्त्रिकी संबंधित संस्थानों में वृद्धि हुई है। यह सामान्यतया एक अपेक्षित घटना-प्रवाह व स्वागत योग्य विकास माना जा सकता है। फिर भी संस्थानों की स्थापना को सदैव गुणवत्ता और शैक्षिक आचरण नीति की अगुआई नहीं मिल पाती है। फलस्वरूप इन क्षेत्रों में उच्चकोटिता शृंखला अत्यन्त धूमिल और भिन्नता वाची है। तराजू के एक ओर बड़ी संख्या में डिग्रीधारी और उन्हें खपाने वाले वे लोग हैं जो उन्हें सर्वाधिक अच्छे रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के लिए तैयार खड़े हैं। जबकि वे लोग जो दूसरी ओर वर्षों तक काम की तलाश में लगे रहते हैं। चमकदार प्रतिभा वाले नौजवानों के लिए चोटी की इन मंजिलों में कम नौकरियां होने के पर्याप्त उदाहरण हैं। शैक्षिक प्रणालियों पर पड़ रहा दबाव दिनों दिन कई गुना बढ़ता जा रहा है। जब कि कुछ बच्चे ही दस वर्ष की अवधि की स्कूली शिक्षा पूरी कर पाते हैं, वे सब जो व्यावसायिक पाठ्यक्रमों और उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रमों में हैं, मुश्किल से ही भाग्यशाली कहे जा सकते हैं। विस्तार के बाद भी प्रवेश प्राप्त करना और भी कठिन हो गया है, बल्कि उच्च और माध्यमिक आयवर्ग की क्षमता के भी बाहर हो गया है। यह बात शिक्षकों को तैयार करने वाले उन पाठ्यक्रमों पर भी लागू होती है जो पहले हर एक की पहुंच के पाठ्यक्रम माने जाते थे। व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश प्राप्त करने की विधि का परीक्षण किए जाने की भी आवश्यकता है।

सबसे अधिक लोकप्रिय पाठ्यक्रम बैचलर ऑफ एज्युकेशन (बी.एड.) को देश में सभी जगह स्कूलों में काम करने का पार-पत्र माना जाता है। पिछले दो दशकों में इस व्यवसाय ने आश्चर्यजनक चिन्हों का साक्षात्कार कराया। बी. एड. की डिग्री तक पहुंचाने वाले, शिक्षक तैयार करने हेतु अन्तराल शिक्षा की व्यूहरचना के लक्ष्य की पहचान करते हुए अनेकों विश्वविद्यालयों ने पत्राचार पाठ्यक्रम प्रारम्भ किए। चुपके-चुपके इन में से अधिकांश पाठ्यक्रम पैसा बनाने के उपक्रम के रूप में विकसित हो गए और इस के गुणवत्ता के पक्ष को सरासर भुला दिया गया। नेशनल काउन्सिल फॉर टीचर एज्युकेशन (NCTE), ने सन् 1995 में अपनी स्थापना के उपरान्त, आमतौर पर ऐसे निम्न स्तर की गुणवत्ता वाले कार्यक्रमों का सफलतापूर्वक संचालन किया। NCTE 'प्रतिरोध और आग्रहों की विशालता को देखते हुए, कि जिसके अन्तर्गत कार्य करते हुए वह कोई साहसी कदम लेने में सक्षम हो सकेगी, ऐसी आशा करना उचित रहेगा कि सपनों के लिए छोड़ दें। बी.एड. के नियमित पाठ्यक्रमों का उपयोग भी इसी प्रकार के उद्देश्यों के लिए हो रहा है। कतिपय स्पष्ट कारणों से, राजस्थान और मध्य प्रदेश जैसे राज्यों से लेकर उत्तर-पूर्व और बिहार जैसे राज्यों से बड़े पैमाने पर पंजीयन कराया जा रहा है। बी.एड. की डिग्री का एक घोटाला, NCTE ने 1998-99 में बिहार में पकड़ा था। स्पष्टतः यह बड़ी संख्या में बनने वाले भावी शिक्षकों के लिए बहुत बड़ी सहायता है। इस घटना से जो विवाद खड़ा होता है

वह है "इस प्रकार के निम्न स्तर के कार्यक्रमों को शिक्षा के क्षेत्र में, राष्ट्र ने इतने वर्षों तक चलाए रखने की अनुमति कैसे दे दी।" शिक्षक तैयार करने के क्रान्तिकारी क्षेत्र में, निम्न स्तर के शिक्षकों का लाखों-करोड़ों बच्चों के विकास पर बहुत देर तक रहने वाला कुप्रभाव पड़ेगा। क्या कोई राष्ट्र किसी पड़ाव पर आ कर गुणात्मकता का ऐसा गंदलापन वहन कर सकता है? इसी से मेल खाती परिस्थितियां अन्य क्षेत्रों में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के सन्दर्भ में भी आ रही हैं। सुधार लाने के प्रयत्न उस अवस्था में ही सार्थक हो सकते हैं जब बाहर का पूरा माहौल भी अपनी जवाबदेही के प्रति मनुष्य के भीतर के माहौल को मदद देने को राजी हो। दुर्भाग्यवश यह अपेक्षाओं का एक दुर्गम लक्ष्य है।

स्कूली शिक्षा में द्रुत गति से उभर रही एक अन्य प्रवृत्ति जो पूरे देश में व्याप्त है, सरकार तथा अन्य संगठनों द्वारा स्कूलों की विश्वसनीयता का ह्रास है। समुदाय ऐसे विद्यालयों से बड़ी संख्या में दूरी बना रहे हैं और शीघ्रतापूर्वक अराजकीय विद्यालयों की ओर भाग रहे हैं। ऐसा करने के बारे में उनके पास वास्तविक कारण भी हैं। लोगों की नजरों में इन स्थापित किए गए स्कूलों के तंत्र की दक्षता, प्रभाव और कार्य सम्पादन में बदहाली आ चुकी है। समर्पण भावना, कार्य निष्पादन और जवाबदेही एकदम क्षीण अवस्था तक पहुंच चुकी है। व्यक्तिगत स्तर पर प्रबंधित उन स्कूलों की तुलना में जहां प्रत्येक को अपनी भूमिका निभाने की सजगता रहती है, जिससे समुदाय का अनुमोदन तो मिलता ही है, स्कूलों के व्यवस्थापकों से शाबाशी भी प्राप्त होती है। जब तक सरकारी स्कूलों के तन्त्र, जो कर देने वाले नागरिकों के पैसे से चलते हैं, अपनी जवाबदेही स्वीकार नहीं कर लेंगे तब तक ह्रासोन्मुखी यह ढंग रुकेगा नहीं। यदि इस पर बहुत देर हो चुकने के पहले ही अंकुश न लगा लिया जाए तो यह अत्यन्त दुर्भाग्य पूर्ण होगा। इन संस्थानों में, खासतौर पर प्राथमिक और सैकेन्डरी स्तर की संस्थानों में गुणवर्द्धक परिचालन को सुनिश्चित करना जरूरी है, क्योंकि ये राष्ट्र के बच्चों की अधिकांश संख्या की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। ग्रामीण भारत में तो ये एकमात्र विकल्प हैं। यह एक तथ्य है कि निजी स्कूलों में, जिन्हें समाजों या व्यक्तियों द्वारा चलाया जाता है, पढ़ाई कराना न केवल शहरों व छोटे कस्बों में बल्कि बड़े ग्रामों में भी बढ़ रहा है। निम्न स्तर की शिक्षा शिक्षार्थी को उच्चतर और व्यावसायिक शिक्षा का लाभ लेने के अवसरों की योग्यता नहीं दे पाती है।

स्कूल में शिक्षा दिए जाने की प्रक्रिया में एक अन्य विषम दबाव का क्षेत्र भी बन रहा है, भाषा ज्ञान और पढ़ाई का माध्यम। पांच दशक बीत चुकने के बाद भी इस बात पर शंका करने की गुंजाइश नहीं के बराबर है कि अंग्रेजी माध्यम का पागलपन कई गुना बढ़ गया है। अधिकतर केवल वे ही, जो अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में अपने बच्चों को भेजना वहन नहीं कर सकते हैं, अपने बच्चों को

ऐसे स्कूलों में नहीं भेजते हैं। निश्चय ही, इस विवरण के बारे में अपवाद भी हो सकते हैं। राष्ट्र को क्षेत्रीय भाषाओं के प्रत्यक्ष हो रहे भाग्य का निकट भविष्य में अत्यन्त सावधानीपूर्वक परीक्षण करने की आवश्यकता होगी। महानगरों में ऐसे युवाओं से सामना होना कठिन नहीं होगा जिन्होंने 8-10 वर्ष स्कूल में बिताए हों, किन्तु जो अपनी मातृभाषा में लिख-पढ़ नहीं पाते हों। यह सुनिश्चित करने के भरसक प्रयास किए जाएं कि स्कूल जाने के प्रारंभिक वर्षों से ही शिक्षा का माध्यम केवल मातृभाषा ही हो और उसे बिना किसी मिलावट के छः से बारह वर्षों तक निरंतर जारी रखा जाए। भाषा, वह भी मातृभाषा, व्यक्ति के सभी पक्षों के परिपोषण के निमित्त एक शक्तिशाली वाहक होती है। इस बारे में माता-पिता को जागरूक रखने की दिशा में ठोस और नियमित प्रयत्न किए जाने की आवश्यकता है।

सामाजिक ढांचे तीव्र गति से बदलाव ले रहे हैं। नैष्टिक परिवार बच्चों को अधिकतर स्नेह से विहीन कर देते हैं, समरसता और पारिवारिक विशिष्टताओं से वंचित कर देते हैं। उद्यमशील माता-पिता की व्यस्तता और निकट पारिवारिक अन्य सदस्यों के साथ असामन्जस्य भी ऐसे हालातों के लिए जिम्मेदार हैं। मूल्यों को जो आम हालातों में घर के भीतर ही आत्मसात् होते हैं, अब स्कूली तंत्र की जिम्मेदारी मान लिया गया है। शिक्षालयों ने अवश्य ही, मूल्यों को आत्मसात् कराने में एक बड़ी भूमिका निभाई है, परन्तु भविष्य में उन पर इस का दबाव कई गुना बढ़ जाएगा।

शिक्षा-दीक्षा देने, ज्ञान अर्जित करने और विकसित होने की विधि को सहायता प्रदान करने में नई सूचना प्रौद्योगिकी से बहुत सारी अपेक्षाएं हैं। इस बारे में अब किसी तरह की शंका नहीं रह गई है कि सूचनाओं-जानकारियों तथा ज्ञान-अभिज्ञान के असीम व अनंत पथ प्राप्त कर लिए गए हैं। तिस पर भी, प्रत्येक घर में और प्रत्येक प्राणी में इस ने हिंसा, कामजनित दुर्व्यसन तथा नशे की कुरीतियां ला दी हैं। यह 'मनोरंजन' सामान्यतया, इन पक्षों को दिखलाने से कभी नहीं चूकता है या फिर ऐसे कार्यक्रम प्रस्तुत करता है जो अतिविशिष्ट समाज के मूल्यों तथा परंपराओं के अनुरूप भी नहीं होते हैं। एक निश्चित अभिप्राय में, यह माध्यम समस्याओं के निदान के विपरीत समस्याओं को और अधिक सघन बना रहा है।

प्रारम्भिक शिक्षा की प्रक्रिया में समुदाय की जिम्मेदारी और जवाबदेही की आवश्यकता को राष्ट्र ने अनुभव कर लिया है। चीन ने समाज के समर्थन और योगदान के द्वारा शिक्षा का विस्तार सार्थक कर लिया है। गांधीजी सदैव ही इसके पक्ष का समर्थन करते रहे थे। विगत के कुछ दशकों ने समाज की भटकने की प्रवृत्ति का साक्षात्कार भी किया है। इसे व्यतिक्रमित करना होगा जो निःसंदेह कठिन तो है किन्तु असम्भव नहीं है। शिक्षकों पर भरोसा स्थापित कर के, उन की गतिविधियों को खतरे में डाले बिना उन्हें व्यावसायिकता से युक्त करा कर और साथ-साथ समाज को विश्वास में ले कर ही इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

शिक्षा को उसके प्रत्येक प्रक्रम में प्रत्येक की पहुंच सुलभ्य बनाए जाने हेतु पारदर्शिता कायम करना आवश्यक है। आर्थिक रूप से कमजोर और 'मलाईदार' वर्ग के बीच की खाई नौजवानों के मध्य नहीं रहे। राष्ट्र के युवाओं के लिए जरूरी है कि वे शिक्षा प्रणाली के प्रति विश्वास और भरोसा उत्पन्न करें। शिक्षा के क्षेत्र के बाजीगर क्या इस चुनौती को स्वीकार करेंगे? और फिर कौन ऐसा है जो शिक्षा का बाजीगर न हो? □□